



सच्चं लोगम्भि सारभूयं

सागर जैन विद्या भारती

भाग-२

(प्रो० सागरमल जैन के शोध-लेखों का
संकलन)

— प्रो० सागरमल जैन



पार्श्वनाथ विद्यापीठ, वाराणसी-५

PĀRŚVANĀTHA VIDYĀPĪTHA, VARANASI-5

सागर जैन-विद्या भारती

भाग-२

(प्रो० सागरमल जैन के शोध-लेखों का संकलन)

लेखक

प्रो० सागरमल जैन

निदेशक : पार्श्वनाथ विद्यापीठ
वाराणसी

पार्श्वनाथ विद्यापीठ

वाराणसी - ५

पुस्तक : सागर जैन विद्या भारती, भाग-२

लेखक : प्रो० सागरमल जैन

प्रकाशक

पार्श्वनाथ विद्यापीठ

करौंदी (आई० टी० आई० के समीप)

पो० : काशी हिन्दू विश्वविद्यालय

वाराणसी - २२१ ००५

दूरभाष : ३११४६२

प्रथम संस्करण : १९६५

मूल्य : रुपये १००.००

मुद्रक

वर्द्धमान मुद्रणालय

भेलूपुरा, वाराणसी - १०

SĀGARA JAINA-VIDYĀ BHĀRATĪ, Vol. II

Prof. Sagarmal Jain

Published by

Pārsvanātha Vidyāpīṭha

Karaundi (I. T. I. Road)

P. O. : B. H. U.

Varanasi - 221 005

Phone : 311462

First Edition : 1995

Price : Rs. 100.00

Printed at

Vardhaman Mudranalaya

Bhelupura, Varanasi.

प्रकाशकीय

विद्यापीठ के निदेशक प्रो० सागरमल जैन द्वारा लिखित शोध-निबन्धों के सार्वकालिक महत्त्व को देखते हुए लगभग तीन हजार पृष्ठों की सम्पूर्ण सामग्री को संग्रहीत कर, “सागर जैन-विद्या भारती” के रूप में लगभग दस खण्डों में प्रकाशित कर विद्वद्जनों एवं सुधी पाठकों के समक्ष प्रस्तुत करने की हमारी योजना है। इस योजना के अन्तर्गत “सागर जैन-विद्या भारती” भाग १, पार्श्वनाथ शोधपीठ ग्रंथमाला — ७०, प्रथम संस्करण १९६४ प्रकाशित हो चुका है। इसी क्रम में इस ग्रंथमाला के ७८ वें पुष्प के रूप में सागर जैन-विद्या भारती का द्वितीय भाग विद्वानों के समक्ष प्रस्तुत करते हुए हमें अपार हर्ष हो रहा है।

प्रो० जैन के लेखों/निबन्धों की एक लम्बी सूची है जो श्रमण, तुलसी-प्रज्ञा, दार्शनिक त्रैमासिक, परामर्श, जिनवाणी आदि अनेक पत्र-पत्रिकाओं में समय-समय पर प्रकाशित होते रहे हैं। साथ ही आपके अनेक लेख, विभिन्न स्मृतिग्रन्थों, स्मारिकाओं, संगोष्ठियों एवं कॉन्फ़ेन्सों के आलेख-संग्रहों में भी प्रकाशित हुए हैं। प्रस्तुत संकलन में अर्धमागधी आगम साहित्य : एक विमर्श, सकारात्मक अहिंसा की भूमिका और जैन धर्म का लेश्या सिद्धान्त : एक विमर्श, ये तीन लेख ऐसे हैं जिनका प्रणयन क्रमशः आचार्य जयन्तसेन सूरि जी महाराज, पं० कन्हैयालालजी लोढ़ा एवं डॉ० शान्ता जैन के ग्रन्थों की भूमिका के रूप में हुआ है। मन — शक्ति, स्वरूप और साधना तथा ‘बुद्ध, व्यक्ति नहीं प्रक्रिया’ ये दो निबन्ध क्रमशः पुष्कर मुनि अभिनन्दन ग्रन्थ एवं पं० जगन्नाथ जी उपाध्याय स्मृति ग्रन्थ के निमित्त लिखे गये थे। ‘जैन आगमों में चार्वाक दर्शन’ नामक लेख दिल्ली विश्वविद्यालय के दर्शन विभाग की एक संगोष्ठी के लिए लिखा गया था। आत्मवाद सम्बन्धी लेख लगभग ३० वर्ष पूर्व सुधर्मा में प्रकाशित हुआ था। ‘जैन दर्शन में नैतिक सापेक्षता तथा निरपेक्षता’ तथा ‘सदाचार के शाश्वत मानदण्ड’ ये दो लेख दार्शनिक त्रैमासिक में प्रकाशित हुए थे। हम इस सामग्री के लिए इन सभी ग्रन्थ लेखकों/सम्पादकों एवं पत्र-पत्रिकाओं के प्रति अपना आभार व्यक्त करते हैं।

विद्यापीठ के प्रवक्ता डॉ० अशोक कुमार सिंह एवं डॉ० श्रीप्रकाश पाण्डेय तथा शोध सहायक श्री असीम कुमार मिश्र ने इस पुस्तक की प्रूफ रीडिंग में अपना सहयोग प्रदान किया, एतदर्थ हम उनके प्रति अपना आभार व्यक्त करते हैं।

जून १९६५
वाराणसी

भूपेन्द्र नाथ जैन
सचिव, पार्श्वनाथ विद्यापीठ

अनुक्रमणिका

१. अर्धमागधी आगम साहित्य	१ - ४५
२. प्राचीन जैन आगमों में चार्वाक दर्शन का प्रस्तुतीकरण एवं समीक्षा	४६ - ५८
३. महावीर के समकालीन विभिन्न आत्मवाद एवं उसमें जैन आत्मवाद का वैशिष्ट्य	५९ - ६८
४. सकारात्मक अहिंसा की भूमिका	६९ - ८६
५. तीर्थंकर और ईश्वर के सम्प्रत्ययों का तुलनात्मक विवेचन	८७ - ९२
६. जैन धर्म में भक्ति का स्थान	९३ - ९६
७. मन - शक्ति, स्वरूप और साधना : एक विश्लेषण	९७ - १२२
८. जैन दर्शन में नैतिकता की सापेक्षता	१२३ - १३३
९. सदाचार के शाश्वत मानदण्ड	१३४ - १४९
१०. जैन धर्म का लेश्या-सिद्धान्त : एक विमर्श	१५० - १६५
११. प्रज्ञापुरुष पं० जगन्नाथ जी उपाध्याय की दृष्टि में बुद्ध व्यक्ति नहीं प्रक्रिया	१६६ - १६९
१२. पार्श्वनाथ विद्यापीठ के नए प्रकाशन	१७० - १७६

अर्धमागधी आगम साहित्य : एक विमर्श

- प्रो. सागरमल जैन

भारतीय संस्कृति में अति प्राचीनकाल से ही दो समानान्तर धाराओं की उपस्थिति पाई जाती है-- श्रमणधारा और वैदिकधारा। जैन धर्म और संस्कृति इसी श्रमणधारा का एक अंग है। जहाँ श्रमणधारा निवृत्तिपरक रही, वहाँ वैदिकधारा प्रवृत्तिपरक। जहाँ श्रमणधारा में संन्यास का प्रत्यय प्रमुख बना, वहाँ वैदिकधारा में गृहस्थजीवन। श्रमणधारा ने सांसारिक जीवन की दुःखमयता को अधिक अभिव्यक्ति दी और यह माना कि शरीर आत्मा का बन्धन है और संसार दुःखों का सागर, अतः उसने शरीर और संसार दोनों से ही मुक्ति को अपनी साधना का लक्ष्य माना। उसकी दृष्टि में जैविक एवं सामाजिक मूल्य गौण रहे और अनासक्ति, वैराग्य और आत्मानुभूति के रूप में मोक्ष या निर्वाण को ही सर्वोच्च मूल्य माना गया। इसके विपरीत वैदिकधारा ने सांसारिक जीवन को वरेण्य मानकर जैविक एवं सामाजिक मूल्यों अर्थात् जीवन के रक्षण एवं पोषण के प्रयत्नों के साथ-साथ पारस्परिक सहयोग या सामाजिकता को प्रधानता दी। फलतः वेदों में जैविक आवश्यकताओं की पूर्ति एवं पारस्परिक सहयोग हेतु प्रार्थनाओं के स्वर अधिक मुखर हुए हैं, यथा -- हम सौ वर्ष जीयें, हमारी सन्तान बलिष्ठ हो, हमारी गायें अधिक दूध दें, वनस्पति एवं अन्न प्रचुर मात्रा में उत्पन्न हों, हममें परस्पर सहयोग हो आदि। ज्ञातव्य है कि वेदों में वैराग्य एवं मोक्ष की अवधारणा अनुपस्थित है, जबकि वह श्रमणधारा का केन्द्रीय तत्त्व है। इस प्रकार ये दोनों धारायें दो भिन्न जीवन-दृष्टियों को लेकर प्रवाहित हुई हैं। परिणामस्वरूप इनके साहित्य में भी इन्हीं भिन्न-भिन्न जीवन-दृष्टियों का प्रतिपादन पाया जाता है।

श्रमण परम्परा के साहित्य में संसार की दुःखमयता को प्रदर्शित कर त्याग और वैराग्यमय जीवन शैली का विकास किया गया, जबकि वैदिक साहित्य में ऐहिक जीवन को अधिक सुखी और समृद्ध बनाने हेतु प्रार्थनाओं की और सामाजिक-व्यवस्था (वर्ण-व्यवस्था) और भौतिक उपलब्धियों के हेतु विविध कर्मकाण्डों की सृजना हुई। प्रारम्भिक वैदिक साहित्य, जिसमें मुख्यतः वेद और ब्राह्मण ग्रन्थ समाहित हैं, में लौकिक जीवन को सुखी और समृद्ध बनाने वाली प्रार्थनाओं और कर्मकाण्डों का ही प्राधान्य है, इसके विपरीत श्रमण परम्परा के प्रारम्भिक साहित्य में संसार की दुःखमयता और क्षणभंगुरता को प्रदर्शित कर उससे वैराग्य और विमुक्ति को ही प्रधानता दी गई है। संक्षेप में श्रमण परम्परा का साहित्य वैराग्य प्रधान है।

श्रमणधारा और उसकी ध्यान और योग साधना की परम्परा के अस्तित्व के संकेत हमें मोहनजोदड़ो और हड़प्पा की संस्कृति के काल से ही मिलने लगते हैं। यह माना जाता है कि हड़प्पा संस्कृति वैदिक संस्कृति से भी पूर्ववर्ती ही रही है। ऋग्वेद जैसे प्राचीनतम ग्रन्थ में भी व्रात्यों और वातरश्ना मुनियों के उल्लेख भी इसी तथ्य की पुष्टि करते हैं कि उस युग में श्रमणधारा का अस्तित्व था। जहाँ तक इस प्राचीन श्रमण परम्परा के साहित्य का प्रश्न है

दुर्भाग्य से वह आज हमें उपलब्ध नहीं है, किन्तु वेदों में उस प्रकार की जीवन दृष्टि की उपस्थिति के संकेत यह अवश्य सूचित करते हैं कि उनका अपना कोई साहित्य भी रहा होगा, जो कालक्रम में लुप्त हो गया। आज आत्मसाधना प्रधान निवृत्तिमूलक श्रमणधारा के साहित्य का सबसे प्राचीन अंश यदि कहीं उपलब्ध है, तो वह औपनिषदिक साहित्य में है। प्राचीन उपनिषदों में न केवल वैदिक कर्म-काण्डों और भौतिकवादी जीवन-दृष्टि की आलोचना की गई है, अपितु आध्यात्मिक मूल्यों के अधिष्ठान आत्मतत्त्व की सर्वोपरिता भी प्रतिष्ठित की गयी है। आज यह सबसे बड़ी भ्रान्ति है कि हम उपनिषदों को वैदिकधारा के प्रतिनिधि ग्रन्थ मानते हैं, किन्तु उनमें वैदिक कर्मकाण्डों की स्पष्ट आलोचना के जो स्वर मुखरित हुए हैं और तप-त्याग प्रधान आध्यात्मिक मूल्यों की जो प्रतिष्ठा हुई है, वह स्पष्टतया इस तथ्य का प्रमाण है कि वे मूलतः श्रमण जीवन-दृष्टि के प्रस्तोता हैं।

यह सत्य है कि उपनिषदों में वैदिकधारा के भी कुछ संकेत उपलब्ध हैं किन्तु यह नहीं भूलना चाहिये कि उपनिषदों की मूलभूत जीवन दृष्टि वैदिक नहीं, श्रमण है। वे उस युग की रचना हैं, जब वैदिकों द्वारा श्रमण संस्कृति के जीवन मूल्यों को स्वीकृत किया जा रहा था। वे वैदिक संस्कृति और श्रमण संस्कृति के समन्वय की कहानी कहते हैं। ईशावास्योपनिषद् में समन्वय का यह प्रयत्न स्पष्ट रूप से परिलक्षित होता है। उसमें त्याग और भोग, प्रवृत्ति एवं निवृत्ति, कर्म और कर्म-संन्यास, व्यक्ति और समष्टि, अविद्या (भौतिक ज्ञान) और विद्या (आध्यात्मिक ज्ञान) के मध्य एक सुन्दर समन्वय स्थापित किया गया है।

उपनिषदों का पूर्ववर्ती एवं समसामयिक श्रमण परम्परा का जो अधिकांश साहित्य था, वह श्रमण परम्परा की अन्य धाराओं के जीवित न रह पाने या उनके बृहद् हिन्दू परम्परा में समाहित हो जाने के कारण या तो विलुप्त हो गया था या फिर दूसरी जीवित श्रमण परम्पराओं के द्वारा अथवा बृहद् हिन्दू परम्परा के द्वारा आत्मसात कर लिया गया। किन्तु उसके अस्तित्व के संकेत एवं अवशेष आज भी औपनिषदिक साहित्य, पालित्रिपिटक और जैनागमों में सुरक्षित हैं। प्राचीन आरण्यकों, उपनिषदों, आचारांग (प्रथम श्रुतस्कन्ध), सूत्रकृतांग, उत्तराध्ययन, इसिभासियाई, थेरगाथा, सुत्तनिपात और महाभारत में इन विलुप्त या समाहित श्रमण परम्पराओं के अनेक ऋषियों के उपदेश आज भी पाये जाते हैं। इसिभासियाई, सूत्रकृतांग और उत्तराध्ययन में उल्लिखित याज्ञवल्क्य, नारद, असितदेवल, कपिल, पाराशर, आरुणि, उद्दालक, नमि, बाहुक, रामपुत्त आदि ऋषि वे ही हैं, जिनमें से अनेक के उपदेश एवं आख्यान उपनिषदों एवं महाभारत में भी सुरक्षित हैं। जैन परम्परा में ऋषिभाषित में इन्हें अर्हत् ऋषि एवं सूत्रकृतांग में सिद्धि को प्राप्त तपोधन महापुरुष कहा गया है और उन्हें अपनी पूर्व परम्परा से सम्बद्ध बताया गया है। पालित्रिपिटक के दीघनिकाय के सामञ्जफलसुत्त में भी बुद्ध के समकालीन छह तीर्थंकरों -- अजितकेशकम्बल, प्रकुधकात्यायन, पूर्णकश्यप, संजयवेलट्ठिपुत्त, मंखलिगोशालक एवं निगण्ठनातपुत्त की मान्यताओं का निर्देश हुआ है, फिर चाहे उन्हें विकृत रूप में ही प्रस्तुत क्यों न किया गया हो। इसी प्रकार के थेरगाथा, सुत्तनिपात आदि के अनेक थेर (स्थविर) भी प्राचीन श्रमण परम्पराओं से सम्बन्धित रहे हैं। इस सबसे भारत में

श्रमणधारा के प्राचीनकाल में अस्तित्व की सूचना मिल जाती है। पद्मभूषण पं. दलसुखभाई मालवणिया ने पालित्रिपिटक में अजित, अरक और अरनेमि नामक तीर्थकरों के उल्लेख को भी खोज निकाला है। ज्ञातव्य है कि उसमें इन्हें "तित्यकरो कामेसु वीतरागो" कहा गया है-- चाहे हम यह मानें या न मानें कि इनकी संगति जैन परम्परा के अजित, अरह और अरिष्टनेमि नामक तीर्थकरों से हो सकती है-- किन्तु इतना तो मानना ही होगा कि ये सभी उल्लेख श्रमणधारा के अतिप्राचीन अस्तित्व को ही सूचित करते हैं।

वैदिक साहित्य और जैनागम

वैदिक साहित्य में वेद प्राचीनतम है। वेदों के सन्दर्भ में भारतीय दर्शनों में दो प्रकार की मान्यताएँ उल्लिखित हैं। मीमांसकदर्शन के अनुसार वेद अपौरुषेय है अर्थात् किसी व्यक्ति विशेष द्वारा निर्मित नहीं है। उनके अनुसार वेद अनादि-निधन है, शाश्वत है, न तो उनका कोई रचयिता है और नहीं रचनाकाल। नैयायिकों की मान्यता इससे भिन्न है, वे वेद-वचनों को ईश्वर-सृष्ट मानते हैं। उनके अनुसार वेद अपौरुषेय नहीं, अपितु ईश्वरकृत हैं। ईश्वरकृत होते हुए भी ईश्वर के अनादि-निधन होने से वेद भी अनादि-निधन माने जा सकते हैं, किन्तु जब उन्हें ईश्वरसृष्ट मान लिया गया है, तो फिर अनादि कहना उचित नहीं है, क्योंकि ईश्वर की अपेक्षा से तो वे सादि ही होंगे।

जहाँ तक जैनागमों का प्रश्न है उन्हें अर्थ-रूप में अर्थात् कथ्य-विषय-वस्तु की अपेक्षा से तीर्थकरों के द्वारा उपदिष्ट माना जाता है। इस दृष्टि से वे अपौरुषेय नहीं हैं। वे अर्थ-रूप में तीर्थकरों द्वारा उपदिष्ट और शब्द-रूप में गणधरों द्वारा रचित माने जाते हैं, किन्तु यह बात भी केवल अंग आगमों के सन्दर्भ में है। अंगबाह्य आगम ग्रन्थ तो विभिन्न स्थविरों और पूर्वधर-आचार्यों की कृति माने ही जाते हैं। इस प्रकार जैन आगम पौरुषेय (पुरुषकृत) हैं और काल विशेष में निर्मित हैं।

किन्तु जैन आचार्यों ने एक अन्य अपेक्षा से विचार करते हुए अंग आगमों को शाश्वत भी कहा है। उनके इस कथन का आधार यह है कि तीर्थकरों की परम्परा तो अनादिकाल से चली आ रही है और अनन्तकाल तक चलेगी, कोई भी काल ऐसा नहीं, जिसमें तीर्थकर नहीं होते हैं। अतः इस दृष्टि से जैन आगम भी अनादि-अनन्त सिद्ध होते हैं। जैन मान्यता के अनुसार तीर्थकर भिन्न-भिन्न आत्माएँ होती हैं किन्तु उनके उपदेशों में समानता होती है और उनके समान उपदेशों के आधार पर रचित ग्रन्थ भी समान ही होते हैं। इसी अपेक्षा से नन्दीसूत्र में आगमों को अनादि-निधन भी कहा गया है। तीर्थकरों के कथन में चाहे शब्द-रूप में भिन्नता हो, किन्तु अर्थ-रूप में भिन्नता नहीं होती है। अतः अर्थ या कथ्य की दृष्टि से यह एकरूपता ही जैनागमों को प्रवाह की अपेक्षा से अनादि-अनन्त सिद्ध करती है। नन्दीसूत्र (सूत्र 58) में कहा गया है कि "यह जो द्वन्द्व-अंग या गणपिटक है-- वह ऐसा नहीं है कि यह कभी नहीं था, कभी नहीं रहेगा और न कभी होगा। यह सदैव था, सदैव है और सदैव रहेगा। यह ध्रुव, नित्य, शाश्वत, अक्षय, अवस्थित और नित्य है।" इस प्रकार जैन चिन्तक एक ओर प्रत्येक तीर्थकर के

उपदेश के आधार पर उनके प्रमुख शिष्यों के द्वारा शब्द-रूप में आगमों की रचना होने की अवधारणा को स्वीकार करते हैं तो दूसरी ओर अर्थ या कथ्य की दृष्टि से समरूपता के आधार पर यह भी स्वीकार करते हैं कि अर्थ-रूप से जिन-वाणी सदैव थी और सदैव रहेगी। वह कभी भी नष्ट नहीं होती है। विचार की अपेक्षा से आगमों की शाश्वतता और नित्यता मान्य करते हुए भी जैन परम्परा उन्हें शब्द-रूप से सृष्ट और विच्छिन्न होने वाला भी मानती है। अनेकान्त की भाषा में कहें तो तीर्थंकर की अनवरत परम्परा की दृष्टि से आगम शाश्वत और नित्य है, जबकि तीर्थंकर विशेष की शासन की अपेक्षा से वे सृष्ट एवं अनित्य हैं।

वैदिक साहित्य और जैनागमों में दूसरा महत्त्वपूर्ण अन्तर यह है कि वेदों के अध्ययन में सदैव ही शब्द-रूप को महत्त्व दिया गया और यह माना गया कि शब्द-रूप में कोई परिवर्तन नहीं होना चाहिए। चाहे उसका अर्थ स्पष्ट हो या न हो। इसके विपरीत जैन परम्परा में तीर्थंकरों को अर्थ का प्रवक्ता माना गया और इसलिए इस बात पर बल दिया गया कि चाहे आगमों में शब्द-रूप में भिन्नता हो जाय किन्तु उनमें अर्थ-भेद नहीं होना चाहिए। यही कारण था कि शब्द-रूप की इस उपेक्षा के कारण परवर्तीकाल में आगमों में अनेक भाषिक परिवर्तन हुए और आगम पाठों की एकरूपता नहीं रह सकी। यद्यपि विभिन्न संगीतियों के माध्यम से एकरूपता बनाने का प्रयास हुआ लेकिन उसमें पूर्ण सफलता नहीं मिल सकी। यद्यपि यह शब्द-रूप परिवर्तन भी आगे निर्बाध रूप से न चले इसलिए एक ओर उन्हें लिपिबद्ध करने का प्रयास हुआ तो दूसरी ओर आगमों में पद, अक्षर, अनुस्वार आदि में परिवर्तन करना भी महापाप बताया गया। इस प्रकार यद्यपि आगमों के भाषागत स्वरूप को स्थिरता तो प्रदान की गयी, फिर भी शब्द की अपेक्षा अर्थ पर अधिक बल दिये जाने के कारण जैनागमों का स्वरूप पूर्णतया अपरिवर्तित नहीं रह सका, जबकि वेद शब्द-रूप में अपरिवर्तित रहे। आज भी उनमें ऐसी अनेक ऋचायें हैं-- जिनका कोई अर्थ नहीं निकलता है (अनर्थकारि मन्त्राः)। इस प्रकार वेद शब्द-प्रधान है जबकि जैन आगम अर्थ-प्रधान है।

वेद और जैनागमों में तीसरी भिन्नता उनकी विषय-वस्तु की अपेक्षा से भी है। वेदों में भौतिक उपलब्धियों हेतु प्राकृतिक शक्तियों के प्रति प्रार्थनाएँ ही प्रधान रूप से देखी जाती हैं, साथ ही कुछ खगोल-भूगोल सम्बन्धी विवरण और कथाएँ भी हैं। जबकि जैन अर्धमागधी आगम साहित्य में आध्यात्मिक एवं वैराग्यपरक उपदेशों के द्वारा मन, इन्द्रिय और वासनाओं पर विजय पाने के निर्देश दिये गये हैं। इसके साथ-साथ उसमें मुनि एवं गृहस्थ के आचार सम्बन्धी विधि-निषेध प्रमुखता से वर्णित हैं तथा तप-साधना और कर्म-फल विषयक कुछ कथायें भी हैं। खगोल-भूगोल सम्बन्धी चर्चा भी जम्बूद्वीपप्रज्ञप्ति, सूर्यप्रज्ञप्ति आदि ग्रन्थों में है। जहाँ तक जैनदर्शन का प्रश्न है उसका प्रारम्भिक रूप ही अर्धमागधी आगमों में उपलब्ध होता है।

वैदिक साहित्य में वेदों के पश्चात् क्रमशः ब्राह्मण-ग्रन्थों, आरण्यकों और उपनिषदों का क्रम आता है। इनमें ब्राह्मण ग्रन्थ मुख्यतः यज्ञ-याग सम्बन्धी कर्मकाण्डों का विवरण प्रस्तुत करते हैं। अतः उनकी शैली और विषय-वस्तु दोनों ही अर्धमागधी आगम साहित्य से भिन्न हैं। आरण्यकों के सम्बन्ध में मैं अभी तक सम्यक् अध्ययन नहीं कर पाया हूँ अतः उनसे अर्धमागधी

आगम साहित्य की तुलना कर पाना मेरे लिये सम्भव नहीं है। किन्तु आरण्यकों में वैराग्य, निवृत्ति एवं वानप्रस्थ जीवन के अनेक तथ्यों के उल्लेख होने से विशेष तुलनात्मक अध्ययन द्वारा उनमें और जैन आगमों में समरूपता को खोजा जा सकता है।

जहाँ तक उपनिषदों का प्रश्न है उपनिषदों के अनेक अंश आचारांग, इसिभासियाई आदि प्राचीन अर्धमागधी आगम साहित्य में भी यथावत् उपलब्ध होते हैं। याज्ञवल्क्य, नारद, कपिल, असितदेवल, अरुण, उद्दालक, पाराशर आदि अनेक औपनिषदिक ऋषियों के उल्लेख एवं उपदेश इसिभासियाई, आचारांग, सूत्रकृतांग एवं उत्तराध्ययन में उपलब्ध हैं। इसिभासियाई में याज्ञवल्क्य का उपदेश उसी रूप में वर्णित है, जैसा वह उपनिषदों में मिलता है। उत्तराध्ययन के अनेक आख्यान, उपदेश एवं कथाएँ मात्र नाम-भेद के साथ महाभारत में भी उपलब्ध हैं। प्रस्तुत प्रसंग में विस्तारभय से वह सब तुलनात्मक विवेचन प्रस्तुत करना सम्भव नहीं है। इनके तुलनात्मक अध्ययन हेतु इच्छुक पाठकों को इसिभासियाई की मेरी भूमिका एवं जैन, बौद्ध और गीता के आचार दर्शनों का तुलनात्मक अध्ययन खण्ड 1 एवं 2 देखने की अनुशंसा करके इस चर्चा को यहीं विराम देता हूँ।

पालित्रिपिटक और जैनागम

पालित्रिपिटक और जैनागम अपने उद्भव स्रोत की अपेक्षा से समकालिक कहे जा सकते हैं, क्योंकि पालित्रिपिटक के प्रवक्ता भगवान बुद्ध और जैनागमों के प्रवक्ता भगवान महावीर समकालिक ही हैं। इसलिए दोनों के प्रारम्भिक ग्रन्थों का रचनाकाल भी समसामयिक है। दूसरे जैन परम्परा और बौद्ध परम्परा दोनों ही भारतीय संस्कृति की श्रमणधारा के अंग हैं अतः दोनों की मूलभूत जीवन-दृष्टि एक ही है। इस तथ्य की पुष्टि जैनागमों और पालित्रिपिटक के तुलनात्मक अध्ययन से हो जाती है। दोनों परम्पराओं में समान रूप से निवृत्तिपरक जीवन-दृष्टि को अपनाया गया है और सदाचार एवं नैतिकता की प्रस्थापना के प्रयत्न किये गये हैं, अतः विषय-वस्तु की दृष्टि से भी दोनों ही परम्पराओं के साहित्य में समानता है। उत्तराध्ययन, दशवैकालिक एवं कुछ प्रकीर्णकों की अनेक गाथाएँ, सुत्तनिपात, धम्मपद आदि में मिल जाती हैं। किन्तु जहाँ तक दोनों के दर्शन एवं आचार नियमों का प्रश्न है, वहाँ स्पष्ट अन्तर भी देखा जाता है। क्योंकि जहाँ भगवान बुद्ध आचार के क्षेत्र में मध्यममार्गीय थे, वहाँ महावीर तप, त्याग और तितिक्षा पर अधिक बल दे रहे थे। इस प्रकार आचार के क्षेत्र में दोनों की दृष्टियाँ भिन्न थीं। यद्यपि विचार के क्षेत्र में महावीर और बुद्ध दोनों ही एकान्तवाद के समालोचक थे, किन्तु जहाँ बुद्ध ने एकान्तवादों को केवल नकारा, वहाँ महावीर ने उन एकान्तवादों में समन्वय किया। अतः दर्शन के क्षेत्र में बुद्ध की दृष्टि नकारात्मक रही है, जबकि महावीर की सकारात्मक। इस प्रकार दर्शन और आचार के क्षेत्र में दोनों में जो भिन्नता थी, वह उनके साहित्य में भी अभिव्यक्त हुई है। फिर भी सामान्य पाठक की अपेक्षा से दोनों परम्परा के ग्रन्थों में क्षणिकवाद, अनात्मवाद आदि दार्शनिक प्रस्थानों को छोड़कर एकता ही अधिक परिलक्षित होती है।

आगमों का महत्त्व एवं प्रामाणिकता

प्रत्येक धर्म परम्परा में धर्म ग्रन्थ या शास्त्र का महत्त्वपूर्ण स्थान होता है, क्योंकि उस धर्म के दार्शनिक सिद्धान्त और आचार व्यवस्था दोनों के लिए "शास्त्र" ही एक मात्र प्रमाण होता है। हिन्दूधर्म में वेद का, बौद्धधर्म में त्रिपिटक का, पारसीधर्म में अवेस्ता का, ईसाईधर्म में बाइबिल का और इस्लाम में कुरान का, जो स्थान है, वही स्थान जैनधर्म में आगम साहित्य का है। फिर भी आगम साहित्य को न तो वेद के समान अपौरुषेय माना गया है और न बाइबिल या कुरान के समान किसी पैगम्बर के माध्यम से दिया गया ईश्वर का सन्देश ही, अपितु वह उन अर्हतों व ऋषियों की वाणी का संकलन है, जिन्होंने अपनी तपस्या और साधना द्वारा सत्य का प्रकाश प्राप्त किया था। जैनों के लिए आगम जिनवाणी है, आप्तवचन है, उनके धर्म-दर्शन और साधना का आधार है। यद्यपि वर्तमान में जैनधर्म का दिगम्बर सम्प्रदाय उपलब्ध अर्धमागधी आगमों को प्रमाणभूत नहीं मानता है, क्योंकि उसकी दृष्टि में इन आगमों में कुछ ऐसा प्रक्षिप्त अंश है, जो उनकी मान्यताओं के विपरीत है। मेरी दृष्टि में चाहे वर्तमान में उपलब्ध अर्धमागधी आगमों में कुछ प्रक्षिप्त अंश हों या उनमें कुछ परिवर्तन-परिवर्धन भी हुआ हो, फिर भी वे जैनधर्म के प्रामाणिक दस्तावेज हैं। उनमें अनेक ऐतिहासिक तथ्य उपलब्ध हैं। उनकी पूर्णतः अस्वीकृति का अर्थ अपनी प्रामाणिकता को ही नकारना है। श्वेताम्बर मान्य इन अर्धमागधी आगमों की सबसे बड़ी विशेषता यह है कि ये ई.पू. पाँचवीं शती से लेकर ईसा की पाँचवीं शती अर्थात् लगभग एक हजार वर्ष में जैन संघ के चढ़ाव-उतार की एक प्रामाणिक कहानी कह देते हैं।

अर्धमागधी आगमों का वर्गीकरण

वर्तमान जो आगम ग्रन्थ उपलब्ध हैं, उन्हें निम्न रूप में वर्गीकृत किया जाता है--

11 अंग

1. आचार (आचारांग), 2. सूयगड (सूत्रकृतांग), 3. ठाण (स्थानांग), 4. समवाय (समवायांग), 5. वियाहपन्नत्ति (व्याख्याप्रज्ञप्ति या भगवती), 6. नायाधम्मकहाओ (ज्ञात-धर्मकथाः), 7. उवासगदसाओ (उपासकदशाः), 8. अंतगडदसाओ (अन्तकृदृदशाः), 9. अनुत्तरोववाइयदसाओ (अनुत्तरौपपातिकदशाः), 10. पण्हावागरणाइं (प्रश्नव्याकरणानि), 11. विवागसुयं (विपाकश्रुतम्), 12 दृष्टिवाद (दिट्ठिवाय), जो विच्छिन्न हुआ है।

12 उपांग

1. उववाइयं (औपपातिकं), 2. रायपसेणइजं (राजप्रसेनजित्कं) अथवा रायपसेणियं (राजप्रश्नीयं), 3. जीवाजीवाभिगम, 4. पण्णवणा (प्रज्ञापना), 5. सूरपण्णत्ति (सूर्यप्रज्ञप्ति), 6. जम्बुद्धीवपण्णत्ति (जम्बूद्वीपप्रज्ञप्ति), 7. चंदपण्णत्ति (चन्द्रप्रज्ञप्ति), 8-12. निरयावलियासुयखंध (निरयावलिकाश्रुतस्कन्ध), 8. निरयावलियाओ (निरयावलिकाः), 9. कप्पवडिसियाओ (कल्पावतंसिकाः), 10. पुफियाओ (पुष्पिकाः), 11. पुफचूलाओ (पुष्पचूलाः), 12. वण्हदसाओ (वृष्णिदशा)।

जहाँ तक उपर्युक्त अंग और उपांग ग्रन्थों का प्रश्न है। श्वेताम्बर परम्परा के सभी सम्प्रदाय इन्हें मान्य करते हैं। जबकि दिगम्बर सम्प्रदाय इन्हीं ग्यारह अंगसूत्रों को स्वीकार करते हुए भी यह मानता है कि वे अंगसूत्र वर्तमान में विलुप्त हो गये हैं। उपांगसूत्रों के सन्दर्भ में श्वेताम्बर परम्परा के सभी सम्प्रदायों में एक रूपता है, किन्तु दिगम्बर परम्परा में बारह उपांगों की न तो कोई मान्यता रही और न वे वर्तमान में इन ग्रन्थों के अस्तित्व को स्वीकार करते हैं। यद्यपि जम्बूद्वीपप्रज्ञप्ति, दीपसागरप्रज्ञप्ति आदि नामों से उनके यहाँ कुछ ग्रन्थ अवश्य पाये जाते हैं। साथ ही सूर्यप्रज्ञप्ति, चन्द्रप्रज्ञप्ति और जम्बूद्वीपप्रज्ञप्ति को भी उनके द्वारा दृष्टिवाद के परिकर्म विभाग के अन्तर्गत स्वीकार किया गया था।

4 मूलसूत्र

सामान्यतया (1) उत्तराध्ययन, (2) दशवैकालिक, (3) आवश्यक और (4) पिण्डनिर्युक्ति -- ये चार मूलसूत्र माने गये हैं। फिर भी मूलसूत्रों की संख्या और नामों के सन्दर्भ में श्वेताम्बर सम्प्रदायों में एकरूपता नहीं है। जहाँ तक उत्तराध्ययन और दशवैकालिक का प्रश्न है इन्हें सभी श्वेताम्बर सम्प्रदायों एवं आचार्यों ने एक मत से मूलसूत्र माना है। समयसुन्दर, भावप्रभसूरि तथा पाश्चात्य विद्वानों में प्रो. वेबर, प्रो. वूल्हर, प्रो. सारपेन्टियर, प्रो. किर्न्तिज, प्रो. शूब्रिग आदि ने एक स्वर से आवश्यक को मूलसूत्र माना है, किन्तु स्थानकवासी एवं तेरापन्थी सम्प्रदाय आवश्यक को मूलसूत्र के अन्तर्गत नहीं मानते हैं। वे दोनों सम्प्रदाय आवश्यक एवं पिण्डनिर्युक्ति के स्थान पर नन्दी और अनुयोगद्वार को मूलसूत्र मानते हैं। श्वेताम्बर मूर्तिपूजक परम्परा में कुछ आचार्यों ने पिण्डनिर्युक्ति के साथ-साथ ओघनिर्युक्ति को भी मूलसूत्र में माना है। इस प्रकार मूलसूत्रों के वर्गीकरण और उनके नामों में एक रूपता का अभाव है। दिगम्बर परम्परा में इन मूलसूत्रों में से दशवैकालिक, उत्तराध्ययन और आवश्यक मान्य रहे हैं। तत्त्वार्थ की दिगम्बर टीकाओं में, धवला में तथा अंगपण्णत्ति में इनका उल्लेख है। ज्ञातव्य है कि अंगपण्णत्ति में नन्दीसूत्र की भाँति ही आवश्यक के छह विभाग किये गये हैं। यापनीय परम्परा में भी न केवल आवश्यक, उत्तराध्ययन एवं दशवैकालिक मान्य रहे हैं, अपितु यापनीय आचार्य अपराजित (नवीं शती) ने तो दशवैकालिक की टीका भी लिखी थी।

6 छेदसूत्र

छेदसूत्रों के अन्तर्गत वर्तमान में 1. आयादश (दशाश्रुतस्कन्ध), 2. कप्प (कल्प), 3. व्यवहार (व्यवहार), 4. निसीह (निशीथ), 5. महानिसीह (महानिशीथ) और 6. जीयकप्प (जीतकल्प) ये छह ग्रन्थ माने जाते हैं। इनमें से महानिशीथ और जीतकल्प को श्वेताम्बरों की तेरापन्थी और स्थानकवासी सम्प्रदायें मान्य नहीं करती हैं। वे दोनों मात्र चार ही छेदसूत्र मानते हैं। जबकि श्वेताम्बर मूर्तिपूजक सम्प्रदाय उपर्युक्त 6 छेदसूत्रों को मानता है। जहाँ तक दिगम्बर और यापनीय परम्परा का प्रश्न है उनमें अंगबाह्य ग्रन्थों में कल्प, व्यवहार और निशीथ का उल्लेख मिलता है। यापनीय सम्प्रदाय के ग्रन्थों में न केवल इनका उल्लेख मिलता है, अपितु इनके अवतरण भी दिये गये हैं। आश्चर्य यह है कि वर्तमान में दिगम्बर परम्परा में प्रचलित

मूलतः यापनीय परम्परा के प्रायश्चित सम्बन्धी ग्रन्थ "छेदपिण्डशास्त्र" में कल्प और व्यवहार के प्रमाण के साथ-साथ जीतकल्प का भी प्रमाण स्वीकार किया गया है। इस प्रकार दिगम्बर एवं यापनीय परम्पराओं में कल्प, व्यवहार, निशीथ और जीतकल्प की मान्यता रही है, यद्यपि वर्तमान में दिगम्बर आचार्य इन्हें मान्य नहीं करते हैं।

10 प्रकीर्णक

इसके अन्तर्गत निम्न दस ग्रन्थ माने जाते हैं --

1. चतुःशरण (चतुःशरण), 2. आउरपच्चाक्खाण (आतुरप्रत्याख्यान), 3. भक्तपरिन्ना (भक्तपरिज्ञा), 4. संथारय (संस्तारक), 5. तंदुलवेयालिय (तंदुलवैचारिक), 6. चन्देवज्जय (चन्द्रवेद्यक), 7. देवेन्द्रस्तव (देवेन्द्रस्तव), 8. गणिविज्जा (गणिविद्या), 9. महापच्चाक्खाण (महाप्रत्याख्यान) और 10 वीरस्तव (वीरस्तव)।

श्वेताम्बर सम्प्रदायों में स्थानकवारी और तेरापंथी इन प्रकीर्णकों को मान्य नहीं करते हैं। यद्यपि मेरी दृष्टि में इनमें उनकी परम्परा के विरुद्ध ऐसा कुछ भी नहीं है, जिससे इन्हें अमान्य किया जाये। इनमें से 9 प्रकीर्णकों का उल्लेख तो नन्दीसूत्र में मिल जाता है। अतः इन्हें अमान्य करने का कोई औचित्य नहीं है। हमने इसकी विस्तृत चर्चा आगम संस्थान, उदयपुर से प्रकाशित महापच्चाक्खाण की भूमिका में की है। जहाँ तक दस प्रकीर्णकों के नाम आदि का प्रश्न है, श्वेताम्बर मूर्तिपूजक सम्प्रदाय के आचार्यों में भी किंचित मतभेद पाया जाता है। लगभग 9 नामों में तो एक रूपता है किन्तु भक्तपरिन्ना, मरणविधि और वीरस्तव ये तीन नाम ऐसे हैं जो भिन्न-भिन्न आचार्यों के वर्गीकरण में भिन्न-भिन्न रूप से आये हैं। किसी ने भक्तपरिज्ञा को छोड़कर मरणविधि का उल्लेख किया है तो किसी ने उसके स्थान पर वीरस्तव का उल्लेख किया है। मुनि श्री पुण्यविजयजी ने पङ्णयसुत्ताइं, प्रथम भाग की भूमिका में प्रकीर्णक नाम से अभिहित लगभग निम्न 22 ग्रन्थों का उल्लेख किया है इनमें से अधिकांश महावीर विद्यालय से पङ्णयसुत्ताइं नाम से 2 भागों में प्रकाशित है। अंगविद्या का प्रकाशन प्राकृत टेक्स्ट सोसाइटी की ओर से हुआ है। ये बाईस प्रकीर्णक निम्न हैं--

1. चतुःशरण, 2. आतुरप्रत्याख्यान, 3. भक्तपरिज्ञा, 4. संस्तारक, 5. तंदुलवैचारिक, 6. चन्द्रवेद्यक, 7. देवेन्द्रस्तव, 8. गणिविज्जा, 9. महाप्रत्याख्यान, 10. वीरस्तव, 11. ऋषिभाषित, 12. अजीवकल्प, 13. गच्छाचार, 14. मरणसमाधि, 15. तित्थोगालिय, 16. आराधनापताका, 17. द्वीपसागरप्रज्ञप्ति, 18. ज्योतिष्करण्डक, 19. अंगविद्या, 20. सिद्धप्राभूत, 21. सारावली और 22. जीवविभक्ति।

इसके अतिरिक्त एक ही नाम के अनेक प्रकीर्णक भी उपलब्ध होते हैं, यथा-- "आउरपच्चाक्खान" के नाम से तीन ग्रन्थ उपलब्ध होते हैं। उनमें से एक तो दसवीं शती के आचार्य वीरभद्र की कृति है।

इनमें से नन्दी और पाक्षिकसूत्र के उत्कालिक सूत्रों के वर्ग में देवेन्द्रस्तव, तंदुलवैचारिक, चन्द्रवेद्यक, गणिविद्या, मरणविभक्ति, आतुरप्रत्याख्यान, महाप्रत्याख्यान ये सात नाम पाये जाते हैं

और कालिकसूत्रों के वर्ग में ऋषिभाषित और द्वीपसागरप्रज्ञप्ति ये दो नाम पाये जाते हैं। इस प्रकार नन्दी एवं पाक्षिकसूत्र में नौ प्रकीर्णकों का उल्लेख मिलता है। ज्ञातव्य है कि श्वेताम्बर मूर्तिपूजक समाज के कुछ आचार्य जो 84 आगम मानते हैं, वे प्रकीर्णकों की संख्या 10 के स्थान पर 30 मानते हैं। इसमें पूर्वोक्त 22 नामों के अतिरिक्त निम्न 8 प्रकीर्णक और माने गये हैं -- पिण्डविशुद्धि, पर्यन्तआराधना, योनिप्राभृत, अंगचूलिया, वंगचूलिया, वृद्धचतुःशरण, जम्बूपयन्ना और कल्पसूत्र।

जहाँ तक दिगम्बर परम्परा एवं यापनीय परम्परा का प्रश्न है, वह स्पष्टतः इन प्रकीर्णकों को मान्य नहीं करती हैं, फिर भी मूलाचार में आतुरप्रत्याख्यान और महाप्रत्याख्यान से अनेक गाथायें उसके संक्षिप्त प्रत्याख्यान और बृहत्-प्रत्याख्यान नामक अध्यायों में अवतरित की गई हैं। इसी प्रकार भगवतीआराधना में भी मरणविभक्ति, आराधनापताका आदि अनेक प्रकीर्णकों की गाथायें अवतरित हैं। ज्ञातव्य है कि इनमें अंग बाह्यों को प्रकीर्णक कहा गया है।

2 चूलिकासूत्र

चूलिकासूत्र के अन्तर्गत नन्दीसूत्र और अनुयोगद्वार ये दो ग्रन्थ माने जाते हैं। जैसा कि हम पूर्व में सूचित कर चुके हैं कि स्थानकवासी परम्परा इन्हें चूलिकासूत्र न कहकर मूलसूत्र में वर्गीकृत करती है। फिर भी इतना निश्चित है कि ये दोनों ग्रन्थ श्वेताम्बर परम्परा के सभी सम्प्रदायों को मान्य रहे हैं।

इस प्रकार हम देखते हैं कि 11 अंग, 12 उपांग, 4 मूल, 6 छेद, 10 प्रकीर्णक, 2 चूलिकासूत्र-- ये 45 आगम श्वेताम्बर मूर्तिपूजक परम्परा में मान्य हैं। स्थानकवासी व तेरापन्थी इसमें से 10 प्रकीर्णक, जीतकल्प, महानिशीथ और पिण्डनिर्युक्ति -- इन 13 ग्रन्थों को कम करके 32 आगम मान्य करते हैं।

जो लोग चौरासी आगम मान्य करते हैं वे दस प्रकीर्णकों के स्थान पर पूर्वोक्त तीस प्रकीर्णक मानते हैं। इसके साथ दस निर्युक्तियों तथा यतिजीतकल्प, श्राद्धजतिकल्प, पाक्षिकसूत्र, क्षमापनासूत्र, वन्दित्तु, तिथि-प्रकरण, कवचप्रकरण, संशक्तनिर्युक्ति और विशेषावश्यकभाष्य को भी आगमों में सम्मिलित करते हैं।

इस प्रकार वर्तमानकाल में अर्धमागधी आगम साहित्य को अंग, उपांग, प्रकीर्णक, छेद, मूल और चूलिकासूत्र के रूप में वर्गीकृत किया जाता है, किन्तु यह वर्गीकरण पर्याप्त परवर्ती है। 12वीं शती से पूर्व के ग्रन्थों में इस प्रकार के वर्गीकरण का कहीं कोई उल्लेख नहीं मिलता है। वर्गीकरण की यह शैली सर्वप्रथम हमें आचार्य श्रीचन्द की "सुखबोधासमाचारी" (ई. सन्. 1112) में आंशिक रूप से उपलब्ध होती है। इसमें आगम साहित्य के अध्ययन का जो क्रम दिया गया है उससे केवल इतना ही प्रतिफलित होता है कि अंग, उपांग आदि की अवधारणा उस युग में बन चुकी थी। किन्तु वर्तमानकाल में जिस प्रकार से वर्गीकरण किया जाता है, वैसा वर्गीकरण उस समय तक भी पूर्ण रूप से निर्धारित नहीं हुआ था। उसमें मात्र अंग, उपांग, प्रकीर्णक इतने ही नाम मिलते हैं। विशेषता यह है कि उसमें नन्दीसूत्र व अनुयोगद्वारसूत्र को भी प्रकीर्णकों में सम्मिलित किया गया है। सुखबोधासमाचारी का यह

विवरण मुख्य रूप से तो आगम ग्रन्थों के अध्ययन-क्रम को ही सूचित करता है। इसमें मुनि जीवन सम्बन्धी आचार नियमों के प्रतिपादक आगम ग्रन्थों के अध्ययन को प्राथमिकता दी गयी है और सिद्धान्त ग्रन्थों का अध्ययन बौद्धिक परिपक्वता के पश्चात् हो ऐसी व्यवस्था की गई है।

इसी दृष्टि से एक अन्य विवरण जिनप्रभ ने अपने ग्रन्थ विधिमार्गप्रपा में दिया है। इसमें वर्तमान में उल्लिखित आगमों के नाम तो मिल जाते हैं, किन्तु कौन आगम किस वर्ग का है यह उल्लेख नहीं है। मात्र प्रत्येक वर्ग के आगमों के नाम एक साथ आने के कारण यह विश्वास किया जा सकता है कि उस समय तक चाहे अंग, उपांग आदि का वर्तमान वर्गीकरण पूर्णतः स्थिर न हुआ हो, किन्तु जैसा पद्मभूषण पं. दत्तसुखभाई का कथन है कि कौन ग्रन्थ किसके साथ उल्लिखित होना चाहिए ऐसा एक क्रम बन गया था, क्योंकि उसमें अंग, उपांग, छेद, मूल, प्रकीर्णक एवं घूलिकासूत्रों के नाम एक ही साथ मिलते हैं। विधिमार्गप्रपा में अंग, उपांग ग्रन्थों का पारस्परिक सम्बन्ध भी निश्चित किया गया था। मात्र यही नहीं एक मतान्तर का उल्लेख करते हुए उसमें यह भी बताया गया है कि कुछ आचार्य चन्द्रप्रज्ञप्ति एवं सूर्यप्रज्ञप्ति को भगवती का उपांग मानते हैं। जिनप्रभ ने इस ग्रन्थ में सर्वप्रथम वाचनाविधि के प्रारम्भ में अंग, उपांग, प्रकीर्णक, छेद और मूल इन वर्गों का उल्लेख किया है। उन्होंने विधिमार्गप्रपा को ई. सन् 1306 में पूर्ण किया था, अतः यह माना जा सकता है कि इसके आस-पास ही आगमों का वर्तमान वर्गीकरण प्रचलन में आया होगा।

आगमों के वर्गीकरण की प्राचीन शैली

अर्धमागधी आगम साहित्य के वर्गीकरण की प्राचीन शैली इससे भिन्न रही है। इस प्राचीन शैली का सर्वप्रथम निर्देश हमें नन्दीसूत्र एवं पाक्षिकसूत्र (ईस्वी सन् पाँचवीं शती) में मिलता है। उस युग में आगमों को अंगप्रविष्ट व अंगबाह्य-- इन दो भागों में विभक्त किया जाता था। अंगप्रविष्ट के अन्तर्गत आचारांग आदि 12 अंग ग्रन्थ आते थे। शेष ग्रन्थ अंगबाह्य कहे जाते थे। उसमें अंगबाह्यों की एक संज्ञा प्रकीर्णक भी थी। अंगप्रज्ञप्ति नामक दिगम्बर ग्रन्थ में भी अंगबाह्यों को प्रकीर्णक कहा गया है। अंगबाह्य को पुनः दो भागों में बाँटा जाता था-- 1. आवश्यक और 2. आवश्यक-व्यतिरिक्त। आवश्यक के अन्तर्गत सामायिक आदि छः ग्रन्थ थे। ज्ञातव्य है कि वर्तमान वर्गीकरण में आवश्यक को एक ही ग्रन्थ माना जाता है और सामायिक आदि 6 आवश्यक अंगों को उसके एक-एक अध्याय रूप में माना जाता है, किन्तु प्राचीनकाल में इन्हें छह स्वतन्त्र ग्रन्थ माना जाता था। इसकी पुष्टि अंगपण्णत्ति आदि दिगम्बर ग्रन्थों से भी हो जाती है। उनमें भी सामायिक आदि को छह स्वतन्त्र ग्रन्थ माना गया है। यद्यपि उसमें कायोत्सर्ग एवं प्रत्याख्यान के स्थानपर वैयकिक एवं कृतिकर्म नाम मिलते हैं। आवश्यक-व्यतिरिक्त के भी दो भाग किये जाते थे-- 1. कालिक और 2. उत्कालिक। जिनका स्वाध्याय विकाल को छोड़कर किया जाता था, वे कालिक कहलाते थे, जबकि उत्कालिक ग्रन्थों के अध्ययन या स्वाध्याय में काल एवं विकाल का विचार नहीं किया जाता था। नन्दीसूत्र एवं पाक्षिकसूत्र की आगमों के वर्गीकरण की यह सूची निम्नानुसार है--

श्रुत (आगम)

(क) अंगप्रविष्ट

1. आचारांग
2. सूत्रकृतांग
3. स्थानांग
4. समवायांग
5. व्याख्याप्रज्ञप्ति
6. ज्ञाताधर्मकथा
7. उपासकदशांग
8. अन्तकृतदशांग
9. अनुत्तरौपपातिकदशांग
10. प्रश्नव्याकरण
11. विपाकसूत्र
12. दृष्टिवाद

(ख) अंगबाह्य

(ख) आवश्यक व्यतिरिक्त

(क) आवश्यक

1. सामायिक
2. चतुर्विंशतिस्तव
3. वन्दना
4. प्रतिक्रमण
5. कायोत्सर्ग
6. प्रत्याख्यान

(क) कालिक

1. उत्तराध्ययन
2. दशाश्रुतस्कन्ध
3. कल्प
4. व्यवहार
5. निशीथ
6. महानिशीथ
7. ऋषिभाषित
8. जम्बूद्वीपप्रज्ञप्ति
9. द्वीपसागरप्रज्ञप्ति
10. चन्द्रप्रज्ञप्ति
11. क्षुल्लिकाविमान-
-प्रविभक्ति
12. महल्लिकाविमान-
-प्रविभक्ति
13. अंगचूलिका
14. वगचूलिका
15. विवाहचूलिका
16. अरुणोपपात
17. वरुणोपपात
18. गरुडोपपात
19. धरुणोपपात

(ख) उत्कालिक

20. वैश्रमणोपपात
21. वेलन्धरोपपात
22. देवेन्द्रोपपात
23. उत्थानश्रुत
24. समुत्थानश्रुत
25. नागपरिज्ञापनिका
26. निरयावलिका
27. कल्पिका
28. कल्यावतंसिका
29. पुष्पिता
30. पुष्पचूलिका
31. वृष्णिदशा

1. दशवैकालिक
2. कल्पिकाकल्पिक
3. चुल्लकल्पश्रुत
4. महाकल्पश्रुत
5. औपपातिक
6. राजप्रश्नीय
7. जीवाभिगम
8. प्रज्ञापना
9. महाप्रज्ञापना
10. प्रमादाप्रमाद
11. नन्दी
12. अनुयोगद्वार
13. देवेन्द्रस्तव
14. तन्दुलवैचारिक
15. चन्द्रवेद्यक
16. सूर्यप्रज्ञप्ति
17. पौरुषीमंडल
18. मण्डलप्रवेश
19. विद्याचरण विनिश्चय
20. गणिविद्या
21. ध्यानविभक्ति
22. मरणविभक्ति
23. आत्मविशोधि
24. वीतरागश्रुत
25. संलेखणाश्रुत
26. विहारकल्प
27. चरणविधि
28. आतुरप्रत्याख्यान
29. महाप्रत्याख्यान

इस प्रकार नन्दीसूत्र में १२ अंग, ६ आवश्यक, ३१ कालिक एवं २६ उत्कालिक सहित ७८ आगमों का उल्लेख मिलता है। ज्ञातव्य है कि आज इनमें से अनेक ग्रन्थ अनुपलब्ध हैं।

यापनीय और दिगम्बर परम्परा में आगमों का वर्गीकरण

यापनीय और दिगम्बर परम्पराओं में जैन आगम साहित्य के वर्गीकरण की जो शैली मान्य रही है, वह भी बहुत कुछ नन्दीसूत्र की शैली के ही अनुरूप है। उन्होंने उसे उमास्वाति के तत्त्वार्थसूत्र से ग्रहण किया है। उसमें आगमों को अंग और अंगबाह्य ऐसे दो वर्गों में विभाजित किया गया है। इनमें अंगों की बारह संख्या का स्पष्ट उल्लेख तो मिलता है, किन्तु अंगबाह्य की संख्या का स्पष्ट निर्देश नहीं है। मात्र यह कहा गया है अंगबाह्य अनेक प्रकार के हैं। किन्तु अपने तत्त्वार्थभाष्य (1/20) में आचार्य उमास्वाति ने अंग-बाह्य के अन्तर्गत सर्वप्रथम सामायिक आदि छह आवश्यकों का उल्लेख किया है उसके बाद दशवैकालिक, उत्तराध्ययन, दशा, कल्प-व्यवहार, निशीथ और ऋषिभाषित के नाम देकर अन्त में आदि शब्द से अन्य ग्रन्थों का ग्रहण किया है। किन्तु अंगबाह्य में स्पष्ट नाम तो उन्होंने केवल बारह ही दिये हैं। इसमें कल्प-व्यवहार का एकीकरण किया गया है। एक अन्य सूचना से यह भी ज्ञात होता है कि तत्त्वार्थभाष्य में उपांग संज्ञा का निर्देश है। हो सकता है कि पहले 12 अंगों के समान यही 12 उपांग माने जाते हों। तत्त्वार्थसूत्र के टीकाकार पूज्यपाद, अक्लंक, विद्यानन्दी आदि दिगम्बर आचार्यों ने अंगबाह्य में न केवल उत्तराध्ययन, दशवैकालिक आदि ग्रन्थों का उल्लेख किया है, अपितु कालिक एवं उत्कालिक ऐसे वर्गों का भी नाम निर्देश (1/20) किया है। हरिवंशपुराण एवं धवलाटीका में आगमों का जो वर्गीकरण उपलब्ध होता है उसमें 12 अंगों एवं 14 अंगबाह्यों का उल्लेख है। उसमें भी अंगबाह्यों में सर्वप्रथम छह आवश्यकों का उल्लेख है, तत्पश्चात् दशवैकालिक, उत्तराध्ययन, कल्प-व्यवहार, कप्पाकप्पीय, महाकप्पीय, पुण्डरीक, महापुण्डरीक व निशीथ का उल्लेख है। इस प्रकार धवला में 12 अंग और 14 अंगबाह्यों की गणना की गयी। इसमें भी कल्प और व्यवहार को एक ही ग्रन्थ माना गया है। ज्ञातव्य है कि तत्त्वार्थभाष्य की अपेक्षा इसमें कप्पाकप्पीय (कल्पिकाकल्पिक), महाकप्पीय (महाकल्प), पुण्डरीक और महापुण्डरीक-- ये चार नाम अधिक हैं। किन्तु भाष्य में उल्लिखित दशा और ऋषिभाषित को छोड़ दिया गया है। इसमें जो चार नाम अधिक हैं-- उनमें कप्पाकप्पीय और महाकप्पीय का उल्लेख नन्दीसूत्र में भी है, मात्र पुण्डरीक और महापुण्डरीक ये दो नाम विशेष हैं।

दिगम्बर परम्परा में आचार्य शुभचन्द्र कृत अंगप्रज्ञप्ति (अंगपण्णत्ति) नामक एक ग्रन्थ मिलता है। यह ग्रन्थ धवलाटीका के पश्चात् का प्रतीत होता है। इसमें धवलाटीका में वर्णित 12 अंगप्रविष्ट व 14 अंगबाह्य ग्रन्थों की विषय-वस्तु का विवरण दिया गया है। यद्यपि इसमें अंगबाह्य ग्रन्थों की विषय-वस्तु का विवरण संक्षिप्त ही है। इस ग्रन्थ में और दिगम्बर परम्परा के अन्य ग्रन्थों में अंग बाह्यों को प्रकीर्णक भी कहा गया है (3.10)। इसमें कहा गया है कि सामायिक प्रमुख 14 प्रकीर्णक अंगबाह्य हैं। इसमें दिये गये विषय-वस्तु के विवरण से लगता है

कि यह विवरण मात्र अनुश्रुति के आधार पर लिखा गया है, मूल ग्रन्थों को लेखक ने नहीं देखा है, इसमें भी पुण्डरीक और महापुण्डरीक का उल्लेख है। इन दोनों ग्रन्थों का उल्लेख श्वेताम्बर परम्परा में मुझे कहीं नहीं मिला। यद्यपि श्वेताम्बर परम्परा के सूत्रकृतांग में एक अध्ययन का नाम पुण्डरीक अवश्य मिलता है। प्रकीर्णकों में एक सारावली प्रकीर्णक है। इसमें पुण्डरीक महार्थ (शत्रुजय) की महत्ता का विस्तृत विवरण है। सम्भव है कि पुण्डरीक सारावली प्रकीर्णक का ही यह दूसरा नाम हो। फिर भी स्पष्ट प्रमाण के अभाव में इस सम्बन्ध में अधिक कुछ कहना उचित नहीं होगा।

इस प्रकार हम देखते हैं कि प्रथम शती से लेकर दसवीं शती तक आगमों को नन्दीसूत्र की शैली में अंग और अंगबाह्य -- पुनः अंग बाह्यों को आवश्यक और आवश्यक-व्यतिरिक्त ऐसे दो विभागों में बाँटा जाता था। आवश्यक-व्यतिरिक्त में भी कालिक और उत्कालिक ऐसे दो विभाग सर्वमान्य थे। लगभग ग्यारहवीं-बारहवीं शती के बाद से अंग, उपांग, प्रकीर्णक, छेद, मूल और चूलिकासूत्र यह वर्तमान वर्गीकरण अस्तित्व में आया है। यहाँ यह ज्ञातव्य है कि श्वेताम्बर एवं दिगम्बर दोनों परम्पराओं में सभी अंगबाह्य आगमों के लिए प्रकीर्णक (पङ्णय) नाम भी प्रचलित रहा है।

अर्धमागधी आगम साहित्य की प्राचीनता एवं उनका रचनाकाल

भारत जैसे विशाल देश में अतिप्राचीनकाल से ही अनेक बोलियों का अस्तित्व रहा है, किन्तु साहित्यिक दृष्टि से भारत में तीन प्राचीन भाषाएँ प्रचलित रही हैं -- संस्कृत, प्राकृत और पालि। इनमें संस्कृत के दो रूप पाये जाते हैं-- छान्दस् और साहित्यिक संस्कृत। वेद छान्दस् संस्कृत में है, जो पालि और प्राकृत के निकट है। उपनिषदों की भाषा छान्दस् की अपेक्षा साहित्यिक संस्कृत के अधिक निकट है। प्राकृत भाषा में निबद्ध जो साहित्य उपलब्ध है, उसमें अर्धमागधी आगम साहित्य प्राचीनतम है। यहाँ तक कि आचारांग का प्रथम श्रुतस्कन्ध और ऋषिभाषित तो अशोककालीन प्राकृत अभिलेखों से भी प्राचीन है। ये दोनों ग्रन्थ लगभग ई.पू. पाँचवीं-चौथी शताब्दी की रचनाएँ हैं। आचारांग की सूत्रात्मक औपनिषदिक शैली उसे उपनिषदों का निकटवर्ती और स्वयं भगवान महावीर की वाणी सिद्ध करती है। भाव, भाषा और शैली तीनों के आधार पर यह सम्पूर्ण पालि और प्राकृत साहित्य में प्राचीनतम है। आत्मा के स्वरूप एवं अस्तित्व सम्बन्धी इसके विवरण औपनिषदिक विवरणों के अनुरूप हैं। इसमें प्रतिपादित महावीर का जीवनवृत्त भी अलौकिकता और अतिशयता रहित है। ऐसा प्रतीत होता है कि यह विवरण भी उसी व्यक्ति द्वारा कहा गया है, जिसने स्वयं उनकी जीवनचर्या को निकटता से देखा और जाना होगा। अर्धमागधी आगम साहित्य में ही सूत्रकृतांग के प्रथम श्रुतस्कन्ध के छठे अध्याय, आचारांगचूला और कल्पसूत्र में भी महावीर की जीवनचर्या का उल्लेख है, किन्तु वे भी अपेक्षाकृत रूप में आचारांग के प्रथम श्रुतस्कन्ध की अपेक्षा परवर्ती हैं, क्योंकि उनमें क्रमशः अलौकिकता, अतिशयता और अतिरंजना का प्रवेश होता गया है। इसी प्रकार ऋषिभाषित की साम्प्रदायिक अभिनिवेश से रहित उदारदृष्टि तथा भाव और भाषागत अनेक तथ्य उसे आचारांग के प्रथम श्रुतस्कन्ध को छोड़कर सम्पूर्ण प्राकृत एवं पालिसाहित्य में

प्राचीनतम सिद्ध करते हैं। पालिसाहित्य में प्राचीनतम ग्रन्थ सुत्तनिपात माना जाता है, किन्तु अनेक तथ्यों के आधार पर यह सिद्ध हो चुका है कि ऋषिभाषित, सुत्तनिपात से भी प्राचीन है। अर्धमागधी आगमों की प्रथम वाचना स्थूलभद्र के समय अर्थात् ईसा पूर्व तीसरी शती में हुई थी, अतः इतना निश्चित है कि उस समय तक अर्धमागधी आगम साहित्य अस्तित्व में आ चुका था। इस प्रकार अर्धमागधी आगम साहित्य के कुछ ग्रन्थों के रचनाकाल की उत्तर सीमा ई. पू. पाँचवीं-चौथी शताब्दी सिद्ध होती है, जो कि इस साहित्य की प्राचीनता को प्रमाणित करती है।

फिर भी हमें यह स्मरण रखना होगा कि सम्पूर्ण अर्धमागधी आगम साहित्य न तो एक व्यक्ति की रचना है और न एक काल की। यह सत्य है कि इस साहित्य को अन्तिम रूप वीरनिर्वाण सम्वत् 980 में वल्लभी में सम्पन्न हुई वाचना में प्राप्त हुआ। किन्तु इस आधार पर हमारे कुछ विद्वान मित्र यह गलत निष्कर्ष निकाल लेते हैं कि अर्धमागधी आगम साहित्य ईस्वी सन् की पाँचवी शताब्दी की रचना है। यदि अर्धमागधी आगम ईसा की पाँचवी शती की रचना हैं, तो वल्लभी की इस अन्तिम वाचना के पूर्व भी वल्लभी, मथुरा, खण्डगिरि और पाटलीपुत्र में जो वाचनायें हुई थीं उनमें संकलित साहित्य कौन सा था ? उन्हें यह स्मरण रखना चाहिए कि वल्लभी में आगमों को संकलित, सुव्यवस्थित और सम्पादित करके लिपिबद्ध (पुस्तकारुढ़) किया गया था, अतः यह किसी भी स्थिति में उनका रचना काल नहीं माना जा सकता है। संकलन और सम्पादन का अर्थ रचना नहीं है। पुनः आगमों में विषय-वस्तु, भाषा और शैली की जो विविधता और भिन्नता परिलक्षित होती है, वह स्पष्टतया इस तथ्य की प्रमाण है कि संकलन और सम्पादन के समय उनकी मौलिकता को यथावत रखने का प्रयत्न किया गया है, अन्यथा आज उनका प्राचीन स्वरूप समाप्त ही हो जाता और आचारांग के प्रथम श्रुतस्कन्ध की भाषा और शैली भी परिवर्तित हो जाती तथा उसके उपधानश्रुत नामक नवें अध्ययन में वर्णित महावीर का जीवनवृत्त अलौकिकता एवं अतिशयों से युक्त बन जाता। यद्यपि यह सत्य है कि आगमों की विषय-वस्तु में कुछ प्रक्षिप्त अंश हैं, किन्तु प्रथम तो ऐसे प्रक्षेप बहुत ही कम हैं और दूसरे उन्हें स्पष्ट रूप से पहचाना भी जा सकता है। अतः इस आधार पर सम्पूर्ण अर्धमागधी आगम साहित्य को परवर्ती मान लेना सबसे बड़ी भ्रान्ति होगी।

अर्धमागधी आगम साहित्य पर कभी-कभी महाराष्ट्री प्राकृत के प्रभाव को देखकर भी उसकी प्राचीनता पर संदेह किया जाता है। किन्तु प्राचीन हस्तप्रतों के आधार पर पाठों के तुलनात्मक अध्ययन से यह स्पष्ट हो जाता है कि अनेक प्राचीन हस्तप्रतों में आज भी उनका "त" श्रुतिप्रधान अर्धमागधी स्वरूप सुरक्षित है। आचारांग के प्रकाशित संस्करणों के अध्ययन से भी यह स्पष्ट हो जाता है कि परवर्तीकाल में उसमें कितने पाठान्तर हो गये हैं। इस साहित्य पर जो महाराष्ट्री प्रभाव आ गया है वह लिपिकारों और टीकाकारों की अपनी भाषा के प्रभाव के कारण है। उदाहरण के रूप में सूत्रकृतांग का "रामपुत्ते" पाठ चूर्णि में "रामाउत्ते" और शीलांक की टीका में "रामगुत्ते" हो गया। अतः अर्धमागधी आगमों में, महाराष्ट्री प्राकृत के प्रभाव को देखकर उनकी प्राचीनता पर संदेह नहीं करना चाहिये। अपितु उन ग्रन्थों की विभिन्न प्रतों एवं निर्युक्ति, भाष्य, चूर्णि और टीकाओं के आधार पर पाठों के प्राचीन स्वरूपों को

सुरक्षित रखने का प्रयत्न करना चाहिये। वस्तुतः अर्धमागधी आगम साहित्य में विभिन्न काल की सामग्री सुरक्षित है। इसकी उत्तर सीमा ई.पू. पाँचवीं-चौथी शताब्दी और निम्न सीमा ई.सन् की पाँचवीं शताब्दी है। वस्तुतः अर्धमागधी आगम साहित्य के विभिन्न ग्रन्थों का या उनके किसी अंश विशेष का काल निर्धारित करते समय उनमें उपलब्ध सांस्कृतिक सामग्री, दार्शनिक चिन्तन की स्पष्टता एवं गहनता तथा भाषा-शैली आदि सभी पक्षों पर प्रामाणिकता के साथ विचार करना चाहिए। इस दृष्टि से अध्ययन करने पर ही यह स्पष्ट बोध हो सकेगा कि अर्धमागधी आगम साहित्य का कौन सा ग्रन्थ अथवा उसका कौन सा अंश विशेष किस काल की रचना है।

अर्धमागधी आगमों की विषय-वस्तु सम्बन्धी निर्देश श्वेताम्बर परम्परा में हमें स्थानांग, समवायांग, नन्दीसूत्र, नन्दीचूर्णी एवं तत्त्वार्थभाष्य में तथा दिगम्बर परम्परा में तत्त्वार्थ की टीकाओं के साथ-साथ ध्वला और जयध्वला में मिलते हैं। तत्त्वार्थसूत्र की दिगम्बर परम्परा की टीकाओं और ध्वलादि में उनकी विषय-वस्तु सम्बन्धी निर्देश मात्र अनुश्रुतिपरक है, वे ग्रन्थों के वास्तविक अध्ययन पर आधारित नहीं हैं। उनमें दिया गया विवरण तत्त्वार्थभाष्य एवं परम्परा से प्राप्त सूचनाओं पर आधारित है। जबकि श्वेताम्बर परम्परा में स्थानांग, समवायांग, नन्दी आदि अर्धमागधी आगमों और उनकी व्याख्याओं एवं टीकाओं में उनकी विषय-वस्तु का जो विवरण है वह उन ग्रन्थों के अवलोकन पर आधारित है क्योंकि प्रथम तो इस परम्परा में आगमों के अध्ययन-अध्यापन की परम्परा आज तक जीवित चली आ रही है। दूसरे आगम ग्रन्थों की विषय-वस्तु में कालक्रम में क्या परिवर्तन हुआ है, इसकी सूचना श्वेताम्बर परम्परा के उपर्युक्त आगम ग्रन्थों से ही प्राप्त हो जाती है। इनके अध्ययन से यह भी स्पष्ट हो जाता है कि किस काल में किस आगम ग्रन्थ में कौन सी सामग्री जुड़ी और अलग हुई है। आचारांग में आचारचूला और निशीथ के जुड़ने और पुनः निशीथ के अलग होने की घटना, समवायांग और स्थानांग में समय-समय पर हुए प्रक्षेप, ज्ञाताधर्मकथा के द्वितीय वर्ग में जुड़े हुए अध्याय, प्रश्नव्याकरण की विषय-वस्तु में हुआ सम्पूर्ण परिवर्तन, अन्तकृच्छ्रशा, अनुत्तरौपपातिक एवं विपाक के अध्ययनों में हुए आंशिक परिवर्तन-- इन सबकी प्रामाणिक जानकारी हमें उन विवरणों का तुलनात्मक एवं समीक्षात्मक अध्ययन करने से मिल जाती है। इनमें प्रश्नव्याकरण की विषय-वस्तु का परिवर्तन ही ऐसा है, जिसके वर्तमान स्वरूप की सूचना केवल नन्दीचूर्णी (ईस्वी सन् सातवीं शती) में मिलती है। वर्तमान प्रश्नव्याकरण लगभग ईस्वी सन् की पाँचवीं-छठी शताब्दी में अस्तित्व में आया है। इस प्रकार अर्धमागधी आगम साहित्य लगभग एक सहस्र वर्ष की सुदीर्घ अवधि में किस प्रकार निर्मित, परिवर्धित, परिवर्तित एवं सम्पादित होता रहा है इसकी सूचना भी स्वयं अर्धमागधी आगम साहित्य और उसकी टीकाओं से मिल जाती है।

वस्तुतः अर्धमागधी आगम विशेष या उसके अंश विशेष के रचनाकाल का निर्धारण एक जटिल समस्या है, इस सम्बन्ध में विषय-वस्तु सम्बन्धी विवरण, विचारों का विकासक्रम, भाषा-शैली आदि अनेक दृष्टियों से निर्णय करना होता है। उदाहरण के रूप में स्थानांग में सात

निह्नवों और नौ गणों का उल्लेख मिलता है जो कि वीरनिर्वाण सं. 584 तक अस्तित्व में आ चुके थे। किन्तु उसमें बोटिकों एवं उन परवर्ती गणों, कुलों और शाखाओं के उल्लेख नहीं है, जो वीरनिर्वाण सं. 609 अथवा उसके बाद अस्तित्व में आये, अतः विषय-वस्तु की दृष्टि से स्थानांग के रचनाकाल की अन्तिम सीमा वीरनिर्वाण सम्वत् 609 के पूर्व अर्थात् ईस्वी सन् की प्रथम शताब्दी का उत्तरार्ध या द्वितीय शताब्दी का पूर्वार्ध सिद्ध होती है। इसी प्रकार आचारांग के प्रथम श्रुतस्कन्ध की विषय-वस्तु एवं भाषा-शैली आचारांग के रचनाकाल को अर्धमागधी आगम साहित्य में सबसे प्राचीन सिद्ध करती है। अर्धमागधी आगम के काल-निर्धारण में इन सभी पक्षों पर विचार अपेक्षित है।

इस प्रकार न तो हमारे कुछ दिगम्बर विद्वानों की यह दृष्टि समुचित है कि अर्धमागधी आगम देवद्विगणि की वाचना के समय अर्थात् ईसा की पाँचवीं शताब्दी में अस्तित्व में आये और न कुछ श्वेताम्बर आचार्यों का यह कहना ही समुचित है कि सभी अंग आगम अपने वर्तमान स्वरूप में गणधरों की रचना है और उनमें किसी भी प्रकार का परिवर्तन, परिवर्धन, प्रक्षेप या विलोप नहीं हुआ है। किन्तु इतना निश्चित है कि कुछ प्रक्षेपों को छोड़कर अर्धमागधी आगम साहित्य शौरसेनी आगम साहित्य से प्राचीन है। शौरसेनी आगम साहित्य का प्राचीनतम ग्रन्थ कंसायपाहुडसुत्त भी ईस्वी सन् की तीसरी-चौथी शताब्दी से प्राचीन नहीं है। उसके पश्चात् षष्ठ्यण्डागम, मूलाचार, भगवतीआराधना, तिलोयपण्णत्ति, पिण्डछेदशास्त्र, आवश्यक (प्रतिक्रमणसूत्र) आदि का क्रम आता है, किन्तु पिण्डछेदशास्त्र और आवश्यक (प्रतिक्रमण) के अतिरिक्त इन सभी ग्रन्थों में गुणस्थान सिद्धान्त आदि की उपस्थिति से यह फलित होता है कि ये सभी ग्रन्थ पाँचवीं शती के पश्चात् के हैं। दिगम्बर आवश्यक (प्रतिक्रमण) एवं पिण्डछेदशास्त्र का आधार भी क्रमशः श्वेताम्बर मान्य आवश्यक और कल्प-व्यवहार, निशीथ आदि छेदसूत्र ही रहे हैं। उनके प्रतिक्रमण सूत्र में भी वर्तमान सूत्रकृतांग के तेईस एवं ज्ञाताधर्मकथा के उन्नीस अध्ययनों का विवरण है तथा पिण्डछेदशास्त्र में जीतकल्प के आधार पर प्रायश्चित्त देने का निर्देश है। ये यही सिद्ध करते हैं कि प्राकृत आगम साहित्य में अर्धमागधी आगम ही प्राचीनतम है, चाहे उनकी अन्तिम वाचना पाँचवीं शती के उत्तरार्ध (ई. सन् 453) में ही सम्पन्न क्यों न हुई हो ?

इस प्रकार जहाँ तक आगमों के रचनाकाल का प्रश्न है उसे ई. पू. पाँचवीं शताब्दी से ईसा की पाँचवीं शताब्दी तक लगभग एक हजार वर्ष की सुदीर्घ अवधि में व्यापक माना जा सकता है क्योंकि उपलब्ध आगमों में सभी एक काल की रचना नहीं है। आगमों के सन्दर्भ में और विशेष रूप से अंग आगमों के सम्बन्ध में परम्परागत मान्यता तो यही है कि वे गणधरों द्वारा रचित होने के कारण ई. पू. पाँचवीं शताब्दी की रचना है। किन्तु दूसरी ओर कुछ विद्वान उन्हें बल्लभी में संकलित एवं सम्पादित किये जाने के कारण ईसा की पाँचवीं शती की रचना मान लेते हैं। मेरी दृष्टि में ये दोनों ही मत समीचीन नहीं हैं। देवर्धि के संकलन, सम्पादन एवं ताडपत्रों पर लेखन काल को उनका रचना काल नहीं माना जा सकता। अंग आगम तो प्राचीन ही है। ईसा पूर्व चौथी शती में पाटलीपुत्र की वाचना में जिनद्वदश अंगों की वाचना हुई थी, वे निश्चित रूप से

उसके पूर्व ही बने होंगे। यह सत्य है कि आगमों में देवर्धि की वाचना के समय अथवा उसके बाद भी कुछ प्रक्षेप हुए हों, किन्तु उन प्रक्षेपों के आधार पर सभी अंग आगमों का रचनाकाल ई.सन् की पाँचवीं शताब्दी नहीं माना जा सकता। डॉ. हर्मन याकोबी ने यह निश्चित किया है कि आगमों का प्राचीन अंश ई.पू. चौथी शताब्दी के उत्तरार्द्ध से लेकर ई.पू. तीसरी शताब्दी के पूर्वार्द्ध के बीच का है। न केवल अंग आगम अपितु दशाश्रुतस्कन्ध, बृहत्कल्प और व्यवहार भी, जिन्हें आचार्य भद्रबाहु की रचना माना जाता है याकोबी और शुब्रिग के अनुसार ई.पू. चतुर्थ शती के उत्तरार्द्ध से ई.पू. तीसरी शती के पूर्वार्द्ध में निर्मित हैं। पं. दलसुखभाई आदि की मान्यता है कि आगमों का रचनाकाल प्रत्येक ग्रन्थ की भाषा, छन्दयोजना, विषय-वस्तु और उपलब्ध आन्तरिक और बाह्य साध्यों के आधार पर ही निश्चित किया जा सकता है। आचारांग का प्रथम श्रुतस्कन्ध अपनी भाषा-शैली, विषय-वस्तु, छन्दयोजना आदि की दृष्टि से महावीर की वाणी के सर्वाधिक निकट प्रतीत होता है। उसकी औपनिषदिक शैली भी यही बताती है कि वह एक प्राचीन ग्रन्थ है। उसका काल किसी भी स्थिति में ई.पू. चतुर्थ शती के बाद का नहीं हो सकता। उसके द्वितीय श्रुतस्कन्ध के रूप में जो "आयारचूला" जोड़ी गयी है, वह भी ई.पू. दूसरी या प्रथम शती से परवर्ती नहीं है। सूत्रकृतांग भी एक प्राचीन आगम है उसकी भाषा, छन्दयोजना एवं उसमें विभिन्न दार्शनिक परम्पराओं के तथा ऋषियों के जो उल्लेख मिले हैं उनके आधार पर यह कहा जा सकता है कि वह भी ई.पू. चौथी-तीसरी शती से बाद का नहीं हो सकता, क्योंकि उसके बाद विकसित दार्शनिक मान्यताओं का उसमें कहीं कोई उल्लेख नहीं है। उसमें उपलब्ध वीरस्तुति में भी अतिरंजनाओं का प्रायः अभाव ही है। अंग आगमों में तीसरा क्रम स्थानांग का आता है। स्थानांग, बौद्ध आगम अंगुत्तरनिकाय की शैली का ग्रन्थ है। ग्रन्थ लेखन की यह शैली भी प्राचीन रही है। स्थानांग में नौ गणों और सात निह्नवों के उल्लेख को छोड़कर अन्य ऐसा कुछ भी नहीं है जिससे उसे परवर्ती कहा जा सके। हो सकता है कि जैनधर्म के इतिहास की दृष्टि से महत्त्वपूर्ण होने के कारण ये उल्लेख उसमें अन्तिम वाचना के समय प्रक्षिप्त किये गये हों। उसमें जो दस दशाओं और उनमें प्रत्येक के अध्यायों के नामों का उल्लेख है, वह भी उन आगमों की प्राचीन विषय-वस्तु का निर्देश करता है। यदि वह वल्लभी के वाचनाकाल में निर्मित हुआ होता तो उसमें दस दशाओं की जो विषय-वस्तु वर्णित है वह भिन्न होती। अतः उसकी प्राचीनता में सन्देह नहीं किया जा सकता। समवायांग, स्थानांग की अपेक्षा एक परवर्ती ग्रन्थ है। इसके प्रारम्भ में द्वादश अंगों का स्पष्ट उल्लेख है। साथ ही इसमें उत्तराध्ययन के 36, ऋषिभाषित के 44, सूत्रकृतांग के 23, सूत्रकृतांग के प्रथम श्रुतस्कन्ध के 16, आचारांग के चूलिका सहित 25 अध्ययन, दशा, कल्प और व्यवहार के 26 अध्ययन आदि का उल्लेख होने से इतना तो निश्चित है कि यह ग्रन्थ इसमें निर्दिष्ट आगमों के स्वरूप के निर्धारित होने के पश्चात् ही बना होगा। पुनः इसमें चतुर्दश गुणस्थानों का जीवस्थान के रूप में स्पष्ट उल्लेख मिलता है। यह निश्चित है कि गुणस्थान का यह सिद्धान्त उमास्वाति के पश्चात् अर्थात् ईसा की चतुर्थ शती के बाद ही अस्तित्व में आया है। यदि इसमें जीवठाण के रूप में चौदह गुणस्थानों के उल्लेख को बाद में प्रक्षिप्त भी मान लिया जाय तो भी अपनी भाषा-शैली और विषय-वस्तु की दृष्टि से इसका वर्तमान स्वरूप ईसा की

3-4 शती से पहले का नहीं है। हो सकता है उसके कुछ अंश प्राचीन हों, लेकिन आज उन्हें खोज पाना अति कठिन कार्य है। जहाँ तक भगवतीसूत्र का प्रश्न है, विद्वानों के अनुसार इसके अनेक स्तर हैं। इसमें कुछ स्तर अवश्य ही ई. पू. के हैं, किन्तु समवायांग की भाँति भगवती में भी पर्याप्त प्रक्षेप हुआ है। भगवतीसूत्र में अनेक स्थलों पर जीवाजीवाभिगम, प्रज्ञापना, अनुयांगद्वार, नन्दी आदि परवर्ती आगमों का निर्देश हुआ है। इनके उल्लेख होने से यह स्पष्ट है कि इसके सम्पादन के समय इसमें ये और इसी प्रकार की अन्य सूचनायें दे दी गयी हैं। इससे यह प्रतिफलित होता है कि वल्लभी वाचना में इसमें पर्याप्त रूप से परिवर्धन और संशोधन अवश्य हुआ है, फिर भी इसके कुछ शतकों की प्राचीनता निर्विवाद है। कुछ पाश्चात्य एवं भारतीय विद्वान इसके प्राचीन एवं परवर्ती स्तरों के पृथक्करण का कार्य कर रहे हैं। उनके निष्कर्ष प्राप्त होने पर ही इसका रचनाकाल निश्चित किया जा सकता है।

उपासकदशा आगम साहित्य में श्रावकाचार का वर्णन करने वाला प्रथम ग्रन्थ है। स्थानांगसूत्र में उल्लिखित इसके दस अध्ययनों और उनकी विषय-वस्तु में किसी प्रकार के परिवर्तन होने के संकेत नहीं मिलते हैं। अतः मैं समझता हूँ कि यह ग्रन्थ भी अपने वर्तमान स्वरूप में ई. पू. की ही रचना है और इसके किसी भी अध्ययन का विलोप नहीं हुआ है। श्रावकव्रतों के अणुव्रत और शिक्षाव्रत के रूप में वर्गीकृत करने के सम्बन्ध में तत्त्वार्थसूत्र में स्पष्टतः इसका अनुसरण देखा जाता है अतः यह तत्त्वार्थ से अर्थात् ईसा की तीसरी शती से परवर्ती नहीं हो सकता है। ज्ञातव्य है कि अनुत्तरोपपातिक में उपलब्ध वर्गीकरण परवर्ती है, क्योंकि उसमें गुणव्रत की अवधारणा आ गयी है।

अंग आगम साहित्य में अन्तकृद्दशा की विषय-वस्तु का उल्लेख हमें स्थानांगसूत्र में मिलता है। उसमें इसके निम्न दस अध्याय उल्लिखित हैं-- नमि, मातंग, सोमिल, रामपुत्त, सुदर्शन, जमालि, भगालि, किंकिम, पल्लतेतिय, फाल अम्बडपुत्र। इनमें से सुदर्शन सम्बन्धी कुछ अंश को छोड़कर वर्तमान अन्तकृद्दशासूत्र में ये कोई भी अध्ययन नहीं मिलते हैं। किन्तु समवायांग और नन्दीसूत्र में क्रमशः इसके सात और आठ वर्गों के उल्लेख मिलते हैं। इससे यह प्रतिफलित होता है कि स्थानांग में उल्लिखित अन्तकृद्दशा का प्राचीन अंश विलुप्त हो गया है। यद्यपि समवायांग और नन्दी में क्रमशः इसके सात एवं आठ वर्गों का उल्लेख होने से इतना तय है कि वर्तमान अन्तकृद्दशा समवायांग और नन्दी की रचना के समय अस्तित्व में आ गया था। अतः इसका वर्तमान स्वरूप ईसा की चौथी-पाँचवीं शती का है। उसके प्राचीन दस अध्यायों के जो उल्लेख हमें स्थानांग में मिलते हैं उन्हीं दस अध्ययनों के उल्लेख दिगम्बर एवं यापनीय परम्परा के ग्रन्थों में यथा अकलंक के राजवार्तिक, धवला, अंगप्रज्ञप्ति आदि में भी मिलते हैं। इससे यह फलित होता है कि इस अंग आगम के प्राचीन स्वरूप के विलुप्त हो जाने के पश्चात् भी माथुरी वाचना की अनुश्रुति से स्थानांग में उल्लिखित इसके दस अध्यायों की चर्चा होती रही है। हो सकता है कि इसकी माथुरी वाचना में ये दस अध्ययन रहे होंगे।

बहुत कुछ यही स्थिति अनुत्तरोपपातिकदशा की है। स्थानांगसूत्र की सूचना के अनुसार इसमें निम्न दस अध्ययन कहे गये हैं-- 1. ऋषिदास, 2. धन्य, 3. सुनक्षत्र, 4. कार्तिक,

5. संस्थान, 6. शालिभद्र, 7. आनन्द, 8. तेतली, 9. दशार्णभद्र, 10. अतिमुक्त। उपलब्ध अनुत्तरोपपातिकदशा में तीन वर्ग हैं उसमें द्वितीय वर्ग में ऋषिदास, धन्य और सुनक्षत्र ऐसे तीन अध्ययन मिलते हैं इनमें भी धन्य का अध्ययन ही विस्तृत है। सुनक्षत्र और ऋषिदास के विवरण अत्यन्त संक्षेप में ही हैं। स्थानांग में उल्लिखित शेष सात अध्याय वर्तमान अनुत्तरोपपातिकसूत्र में उपलब्ध नहीं होते। इससे यह प्रतीत होता है कि यह ग्रन्थ वल्लभी वाचना के समय ही अपने वर्तमान स्वरूप में आया होगा।

जहाँ तक प्रश्नव्याकरणदशा का प्रश्न है इतना निश्चित है कि वर्तमान प्रश्नव्याकरण की विषय-वस्तु न केवल स्थानांग में उल्लिखित उसकी विषय-वस्तु से भिन्न है, अपितु नन्दी और समवायांग की उल्लिखित विषय-वस्तु से भी भिन्न है। प्रश्नव्याकरण की वर्तमान आस्रव और संवर द्वार वाली विषय-वस्तु का सर्वप्रथम निर्देश नन्दीचूर्णि में मिलता है। इससे यह फलित होता है कि वर्तमान प्रश्नव्याकरणसूत्र नन्दी के पश्चात् ई. सन्. की पाँचवीं-छठवीं शती के मध्य ही कभी निर्मित हुआ है। इतना तो निश्चित है कि नन्दी के रचयिता देववाचक के सामने यह ग्रन्थ अपने वर्तमान स्वरूप में नहीं था। किन्तु ज्ञाताधर्मकथा, अन्तकृद्दशा और अनुत्तरोपपातिकदशा में जो परिवर्तन हुए थे, वे नन्दीसूत्रकार के पूर्व हो चुके थे क्योंकि वे उनके इस परिवर्तित स्वरूप का विवरण देते हैं। इस सम्बन्ध में विस्तृत चर्चा मैंने अपने एक स्वतन्त्र लेख में की है जो "जैन आगम साहित्य", सम्पादक डॉ. के.आर. चन्द्रा, अहमदाबाद, में प्रकाशित है।

इसी प्रकार जब हम उपांग साहित्य की ओर आते हैं तो उसमें रायपसेणियसुत्त में राजा पसेणीय द्वारा आत्मा के अस्तित्व के सम्बन्ध में जो प्रश्न उठाये गये हैं उनका विवरण हमें पालित्रिपिटक में भी उपलब्ध होता है। इससे यह फलित होता है कि औपपातिक का यह अंश कम से कम पालित्रिपिटक जितना प्राचीन तो है ही। जीवाजीवाभिगम के रचनाकाल को निश्चित रूप से बता पाना तो कठिन है, किन्तु इसकी विषय-वस्तु के आधार पर हम यह कह सकते हैं कि वह ग्रन्थ ई. पू. की रचना होनी चाहिये। उपांग साहित्य में प्रज्ञापनासूत्र को तो स्पष्टतः आर्य श्याम की रचना माना जाता है। आर्य श्याम का आचार्यकाल वी. नि. सं. 335-376 के मध्य माना जाता है। अतः इसका रचनाकाल ई. पू. द्वितीय शताब्दी के लगभग निश्चित होता है।

इसी प्रकार उपांग वर्ग के अन्तर्गत वर्णित चन्द्रप्रज्ञप्ति, सूर्यप्रज्ञप्ति और जम्बूद्वीपप्रज्ञप्ति -- ये तीन प्रज्ञप्तियाँ भी प्राचीन ही हैं। वर्तमान में चन्द्रप्रज्ञप्ति और सूर्यप्रज्ञप्ति में कोई भेद नहीं दिखाई देता है। किन्तु सूर्यप्रज्ञप्ति में ज्योतिष सम्बन्धी जो चर्चा है वह वेदांग ज्योतिष के समान है, इससे इसकी प्राचीनता स्पष्ट हो जाती है। यह ग्रन्थ किसी भी स्थिति में ई. पू. प्रथम शती से परवर्ती नहीं है। इन तीनों प्रज्ञप्तियों को दिगम्बर परम्परा में भी दृष्टिवाद के एक अंश -- परिकर्म के अन्तर्गत माना है। अतः यह ग्रन्थ भी दृष्टिवाद के पूर्ण विच्छेद एवं सम्प्रदाय-भेद के पूर्व का ही होना चाहिये।

छेदसूत्रों में दशाश्रुत, बृहत्कल्प और व्यवहार को स्पष्टतः भद्रबाहु प्रथम की रचना माना

गया है अतः इसका काल ई.पू. चतुर्थ-तृतीय शताब्दी के बाद का नहीं हो सकता है। ये सभी ग्रन्थ अछेल परम्परा में भी मान्य रहे हैं इसी प्रकार निशीथ भी अपने मूल रूप में तो आचारांग की ही एक चूला रहा है, बाद में उसे पृथक् किया गया है। अतः इसकी प्राचीनता में भी सन्देह नहीं किया जा सकता। याकोबी, शूब्रिंग आदि पाश्चात्य विद्वानों ने एकमत से छेदसूत्रों की प्राचीनता स्वीकार की है। इस वर्ग में मात्र जीतकल्प ही ऐसा ग्रन्थ है जो निश्चित ही परवर्ती है। पं. दलसुखभाई मालवणिया के अनुसार यह आचार्य जिनभद्र की कृति है। ये जिनभद्र विशेषावश्यकभाष्य के कर्ता हैं। इनका काल अनेक प्रमाणों से ई.सन् की सातवीं शती है। अतः जीतकल्प का भी काल वही होना चाहिये। मेरी दृष्टि में पं. दलसुखभाई की यह मान्यता निरापद नहीं है, क्योंकि दिगम्बर परम्परा में इन्द्रनन्दि के छेदपिण्डशास्त्र में जीतकल्प के अनुसार प्रायश्चित्त देने का विधान किया गया है, इससे फलित होता है कि यह ग्रन्थ स्पष्ट रूप से सम्प्रदाय भेद से पूर्व की रचना होनी चाहिये। हो सकता है इसके कर्ता जिनभद्र विशेषावश्यक के कर्ता जिनभद्र से भिन्न हों और उनके पूर्ववर्ती भी हों। किन्तु इतना निश्चित है कि नन्दीसूत्र और पाक्षिकसूत्र में जो आगमों की सूची मिलती है उसमें जीतकल्प का नाम नहीं है। अतः यह उसके बाद की ही रचना होगी। इसका काल भी ई. सन् की पाँचवीं शती का उत्तरार्द्ध होना चाहिये। इसकी दिगम्बर और यापनीय परम्परा में मान्यता तभी संभव हो सकती है जब यह स्पष्ट रूप से संघभेद के पूर्व निर्मित हुआ हो। स्पष्ट संघ-भेद पाँचवीं शती के उत्तरार्ध में अस्तित्व में आया है। छेद वर्ग में महानिशीथ का उद्धार आचार्य हरिभद्र ने किया था, यह सुनिश्चित है। आचार्य हरिभद्र का काल ई.सन् की आठवीं शती माना जाता है। अतः यह ग्रन्थ उसके पूर्व ही निर्मित हुआ होगा। हरिभद्र इसके उद्धारक अवश्य हैं किन्तु रचयिता नहीं। मात्र इतना माना जा सकता है कि उन्होंने इसके त्रुटित भाग की रचना की हो। इस प्रकार इसका काल भी आठवीं शती से पूर्व का ही है।

मूलसूत्रों के वर्ग में दशवैकालिक को आर्य शय्यभव की कृति माना जाता है। इनका काल महावीर के निर्वाण के 75 वर्ष बाद है। अतः यह ग्रन्थ ई.पू. पाँचवीं-चौथी शताब्दी की रचना है। उत्तराध्ययन यद्यपि एक संकलन है किन्तु इसकी प्राचीनता में कोई शंका नहीं है। इसकी भाषा-शैली तथा विषय-वस्तु के आधार पर विद्वानों ने इसे ई.पू. चौथी-तीसरी शती का ग्रन्थ माना है। मेरी दृष्टि में यह पूर्व प्रश्नव्याकरण का ही एक विभाग था। इसकी अनेक गाथायें तथा कथानक पालित्रिपिटक साहित्य तथा महाभारत आदि में यथावत् मिलते हैं। दशवैकालिक और उत्तराध्ययन यापनीय और दिगम्बर परम्परा में मान्य रहे हैं अतः ये भी संघ भेद या सम्प्रदाय भेद के पूर्व की रचना है। अतः इनकी प्राचीनता में कोई सन्देह नहीं किया जा सकता। आवश्यक श्रमणों दैनन्दिन क्रियाओं का ग्रन्थ था अतः इसके कुछ प्राचीन पाठ तो भगवान महावीर के समकालिक ही माने जा सकते हैं। चूँकि दशवैकालिक, उत्तराध्ययन और आवश्यक के सामायिक आदि विभाग दिगम्बर और यापनीय परम्परा में भी मान्य रहे हैं, अतः इनकी प्राचीनता असंदिग्ध है।

प्रकीर्णक साहित्य में नौ प्रकीर्णकों का उल्लेख नन्दीसूत्र में है अतः ये सभी नन्दीसूत्र से तो

प्राचीन हैं ही, इसमें सन्देह नहीं किया जा सकता। पुनः आतुरप्रत्याख्यान, महाप्रत्याख्यान, मरणसमाधि आदि प्रकीर्णकों की सैकड़ों गाथाएँ यापनीय ग्रन्थ मूलाचार और भगवतीआराधना में पायी जाती हैं, मूलाचार एवं भगवतीआराधना भी छठवीं शती से परवर्ती नहीं है। अतः इन नौ प्रकीर्णकों को तो ई.सन् की चौथी-पाँचवीं शती से परवर्ती नहीं माने जा सकता। यद्यपि वीरभद्र द्वारा रचित कुछ प्रकीर्णक नवीं-दसवीं शती की रचनाएँ हैं। इसी प्रकार चूलिकासूत्रों के अन्तर्गत नन्दी और अनुयोगद्वार सूत्रों में भी अनुयोगद्वार को कुछ विद्वानों ने आर्यरक्षित के समय का माना है। अतः वह ई.सन् की प्रथम शती का ग्रन्थ होना चाहिए। नन्दीसूत्र के कर्त्ता देववाचक देवधि से पूर्ववर्ती है अतः उनका काल भी पाँचवीं शताब्दी से परवर्ती नहीं हो सकता।

इस प्रकार हम देखते हैं कि उपलब्ध आगमों में प्रक्षेपों को छोड़कर अधिकांश ग्रन्थ तो ई.पू. के हैं। यह तो एक सामान्य चर्चा हुई, अभी इन ग्रन्थों में से प्रत्येक के काल-निर्धारण के लिए स्वतन्त्र और सम्प्रदाय निरपेक्ष दृष्टि से अध्ययन की आवश्यकता बनी हुई है। आशा है जैन विद्वानों की भावी पीढ़ी इस दिशा में कार्य करेगी।

आगमों की वाचनाएँ

यह सत्य है कि वर्तमान में उपलब्ध श्वेताम्बर मान्य अर्धमागधी आगमों के अन्तिम स्वरूप का निर्धारण वल्लभी वाचना में वि.नि. संवत् 980 या 993 में हुआ किन्तु उसके पूर्व भी आगमों की वाचनाएँ तो होती रही हैं। जो ऐतिहासिक साक्ष्य हमें उपलब्ध हैं उनके अनुसार अर्धमागधी आगमों की पाँच वाचनाएँ होने के उल्लेख प्राप्त होते हैं।

प्रथम वाचना -- प्रथम वाचना महावीर के निर्वाण के 160 वर्ष पश्चात् हुई। परम्परागत मान्यता तो यह है कि मध्यदेश में द्वादशवर्षीय भीषण अकाल के कारण कुछ मुनि काल-कवलित हो गये और कुछ समुद्र के तटवर्ती प्रदेशों की ओर चले गये। अकाल की समाप्ति पर वे मुनिगण वापस लौटे तो उन्होंने यह पाया कि उनका आगम-ज्ञान अंशतः विस्मृत एवं विश्रृंखलित हो गया है और कहीं-कहीं पाठभेद हो गया है। अतः उस युग के प्रमुख आचार्यों ने पाटलीपुत्र में एकत्रित होकर आगमज्ञान को व्यवस्थित करने का प्रयत्न किया। दृष्टिवाद और पूर्व साहित्य का कोई विशिष्ट ज्ञाता वहाँ उपस्थित नहीं था। अतः ग्यारह अंग तो व्यवस्थित किये गये हैं किन्तु दृष्टिवाद और उसमें अन्तर्निहित साहित्य को व्यवस्थित नहीं किया जा सका, क्योंकि उसके विशिष्ट ज्ञाता भद्रबाहु उस समय नेपाल में थे। संघ की विशेष प्रार्थना पर उन्होंने स्थूलिभद्र आदि कुछ मुनियों को पूर्व साहित्य की वाचना देना स्वीकार किया। स्थूलिभद्र भी उनसे दस पूर्वी तक का ही अध्ययन अर्थ सहित कर सके और शेष चार पूर्वी का मात्र शाब्दिक ज्ञान ही प्राप्त कर पाये।

इस प्रकार पाटलीपुत्र की वाचना में द्वादश अंगों को सुव्यवस्थित करने का प्रयत्न अवश्य किया गया किन्तु उनमें एकादश अंग ही सुव्यवस्थित किये जा सके। दृष्टिवाद और उसमें अन्तर्भुक्त पूर्व साहित्य को पूर्णतः सुरक्षित नहीं किया जा सका और उसका क्रमशः विलोप होना प्रारम्भ हो गया। फलतः उसकी विषय-वस्तु को लेकर अंग बाह्य ग्रन्थ निर्मित किये जाने

लगे।

द्वितीय वाचना -- आगमों की द्वितीय वाचना ई. पू. द्वितीय शताब्दी में महावीर के निर्वाण के लगभग 300 वर्ष पश्चात् उड़ीसा के कुमारी पूर्ववत् पर सम्राट खारवेल के काल में हुई थी। इस वाचना के सन्दर्भ में विशेष जानकारी प्राप्त नहीं होती है -- मात्र यही ज्ञात होता है कि इसमें श्रुत के संरक्षण का प्रयत्न हुआ था। वस्तुतः उस युग में आगमों के अध्ययन-अध्यापन की परम्परा गुरु-शिष्य के माध्यम से मौखिक रूप से ही चलती थी। अतः देशकालगत प्रभावों तथा विस्मृति-दोष के कारण उनमें स्वाभाविक रूप से भिन्नता आ जाती थी। अतः वाचनाओं के माध्यम से उनके भाषायी स्वरूप तथा पाठभेद को सुव्यवस्थित किया जाता है। कालक्रम में जो स्थविरों के द्वारा नवीन ग्रन्थों की रचना होती थी, उस पर भी विचार करके उन्हें इन्हीं वाचनाओं में मान्यता प्रदान की जाती थी। इसी प्रकार परिस्थितिवश आचार-नियमों में एवं उनके आगमिक सन्दर्भों की व्याख्या में जो अन्तर आ जाता था, उसका निराकरण भी इन्हीं वाचनाओं में किया जाता था। खण्डगिरि पर हुई इस द्वितीय वाचना में ऐसे किन विवादों का समाधान खोजा गया था -- इसकी प्रामाणिक जानकारी उपलब्ध नहीं है।

तृतीय वाचना

आगमों की तृतीय वाचना वि. नि. 827 अर्थात् ई. सन् की तीसरी शताब्दी में मथुरा में आर्य स्कंदिल के नेतृत्व में हुई। इसलिए इसे माथुरी वाचना या स्कन्दिली वाचना के नाम से भी जाना जाता है। माथुरी वाचना के सन्दर्भ में दो प्रकार की मान्यताएँ नन्दीचूर्ण में हैं। प्रथम मान्यता के अनुसार सुकाल होने के पश्चात् आर्य स्कन्दिल की अध्यक्षता में शेष रहे मुनियों की स्मृति के आधार पर कालिकसूत्रों को सुव्यवस्थित किया गया। अन्य कुछ का मन्तव्य यह है कि इस काल में सूत्र नष्ट नहीं हुआ था किन्तु अनुयोगधर स्वर्गवासी हो गये थे। अतः एक मात्र जीवित स्कन्दिल ने अनुयोगों का पुनः प्रवर्तन किया।

चतुर्थ वाचना -- चतुर्थ वाचना तृतीय वाचना के समकालीन ही है। जिस समय उत्तर, पूर्व और मध्य क्षेत्र में विचरण करने वाला मुनि संघ मथुरा में एकत्रित हुआ, उसी समय दक्षिण-पश्चिम में विचरण करने वाला मुनि संघ वल्लभी (सौराष्ट्र) में आर्य नागार्जुन के नेतृत्व में एकत्रित हुआ। इसे नागार्जुनीय वाचना भी कहते हैं।

आर्य स्कन्दिल की माथुरी वाचना और आर्य नागार्जुन की वल्लभी वाचना समकालिक हैं। नन्दीसूत्र स्थविरावली में आर्य स्कंदिल और नागार्जुन के मध्य आर्य हिमवत का उल्लेख है। इससे यह फलित होता है कि आर्य स्कंदिल और नागार्जुन समकालिक ही रहे होंगे। नन्दीसूत्र स्थविरावली में आर्य स्कंदिल के सन्दर्भ में यह कहा गया कि उनका अनुयोग आज भी दक्षिणार्द्र भरत क्षेत्र में प्रचलित है। इसका एक तात्पर्य यह भी हो सकता है कि उनके द्वारा सम्पादित आगम दक्षिण भारत में प्रचलित थे। ऐतिहासिक साक्ष्यों से यह ज्ञात होता है कि उत्तर भारत के निर्ग्रन्थ संघ के विभाजन के फलस्वरूप जिस यापनीय सम्प्रदाय का विकास हुआ था उसमें आर्य स्कंदिल के द्वारा सम्पादित आगम ही मान्य किये जाते थे और इस यापनीय सम्प्रदाय का प्रभाव क्षेत्र मध्य और दक्षिण भारत था। आचार्य पाल्यकीर्ति शाकटायन ने तो स्त्री-निर्वाण प्रकरण में

स्पष्ट रूप से मथुरागम का उल्लेख किया है। अतः यह स्पष्ट है कि यापनीय सम्प्रदाय जिन आगमों को मान्य करता था, वे माथुरी वाचना के आगम थे। मूलाचार, भगवतीआराधना आदि यापनीय आगमों में वर्तमान में श्वेताम्बर मान्य आचारांग, उत्तराध्ययन, दशवैकालिक, कल्प, व्यवहार संग्रहणीसूत्रों एवं निर्युक्तियों आदि की सैकड़ों गाथाएँ आज भी उपलब्ध हो रही हैं। इससे यही फलित होता है कि यापनीयों के पास माथुरी वाचना के आगम थे। हम यह भी पाते हैं कि यापनीय ग्रन्थों में जो आगमों की गाथाएँ मिलती हैं वे न तो अर्धमागधी में हैं, न महाराष्ट्री प्राकृत में, अपितु वे शौरसेनी में हैं। मात्र यही नहीं अपराजित की भगवतीआराधना की टीका में आचारांग, उत्तराध्ययन, कल्पसूत्र, निशीथ आदि से जो अनेक अवतरण दिये हैं वे सभी अर्धमागधी में न होकर शौरसेनी में हैं।

इससे यह फलित होता है कि स्कंदिल की अध्यक्षता वाली माथुरी वाचना में आगमों की अर्धमागधी भाषा पर शौरसेनी का प्रभाव आ गया था। दूसरे माथुरी वाचना के आगमों के जो भी पाठ भगवतीआराधना की टीका आदि में उपलब्ध होते हैं, उनमें वल्लभी वाचना के वर्तमान आगमों से पाठभेद भी देखा जाता है। साथ ही अचेलकत्व की समर्थक कुछ गाथाएँ और गद्यांश भी पाये जाते हैं। कुन्दकुन्द के ग्रन्थों में अनुयोगद्वारसूत्र, प्रकीर्णकों एवं निर्युक्ति आदि की कुछ गाथाएँ क्वचित् पाठभेद के साथ मिलती हैं-- सम्भवतः उन्होंने ये गाथायेँ यापनीयों के माथुरी वाचना के आगमों से ही ली होंगी।

एक ही समय में आर्य स्कंदिल द्वारा मथुरा में और नागार्जुन द्वारा वल्लभी में वाचना किये जाने की एक सम्भावना यह भी हो सकती है कि दोनों में किन्हीं बातों को लेकर मतभेद थे। सम्भव है कि इन मतभेदों में वस्त्र-पात्र आदि सम्बन्धी प्रश्न भी रहे हों। पं. कैलाशचन्द्रजी ने जैन साहित्य का इतिहास -- पूर्व पीठिका (पृ. 500) में माथुरी वाचना की समकालीन वल्लभी वाचना के प्रमुख के रूप में देवर्धिगणि का उल्लेख किया है, यह उनकी भ्रान्ति है। वास्तविकता तो यह है कि माथुरी वाचना का नेतृत्व आर्य स्कंदिल और वल्लभी की प्रथम वाचना का नेतृत्व आर्य नागार्जुन कर रहे थे और ये दोनों समकालिक थे, यह बात हम नन्दीसूत्र के प्रमाण से पूर्व में ही कह चुके हैं। यह स्पष्ट है कि आर्य स्कंदिल और नागार्जुन की वाचना में मतभेद था।

पं. कैलाशचन्द्रजी ने यह प्रश्न उठाया है कि यदि वल्लभी वाचना नागार्जुन की थी तो देवर्धि ने वल्लभी में क्या किया ? साथ ही उन्होंने यह भी कल्पना कर ली कि वादिवेतालशान्तिसूरि वल्लभी की वाचना में नागार्जुनीयों का पक्ष उपस्थित करने वाले आचार्य थे। हमारा यह दुर्भाग्य है कि दिगम्बर विद्वानों ने श्वेताम्बर साहित्य का समग्र एवं निष्पक्ष अध्ययन किये बिना मात्र यत्र-तत्र उद्धृत या अंशतः पठित अंशों के आधार पर अनेक भ्रान्तियाँ खड़ी कर दीं। इसके प्रमाण के रूप में उनके द्वारा उद्धृत मूल गाथा में ऐसा कहीं कोई उल्लेख ही नहीं है, कि शान्तिसूरि वल्लभी वाचना के समकालिक थे। यदि हम आगमिक व्याख्याओं को देखें तो स्पष्ट हो जाता है कि अनेक वर्षों तक नागार्जुनीय और देवर्धि की वाचनायें साथ-साथ चलती रहीं हैं, क्योंकि इनके पाठान्तरों का उल्लेख मूल ग्रन्थों में कम और टीकाओं में अधिक

हुआ है।

पंचम वाचना -- वी. नि. के 980 वर्ष पश्चात् ई. सन् की पाँचवीं शती के उत्तरार्द्ध में आर्य स्कंदिल की माथुरी वाचना और आर्य नागार्जुन की वल्लभी वाचना के लगभग 150 वर्ष पश्चात् देवर्धिगणिक्षमाश्रमण की अध्यक्षता में पुनः वल्लभी में एक वाचना हुई। इस वाचना में मुख्यतः आगमों को पुस्तकारूढ करने का कार्य किया गया। ऐसा लगता है कि इस वाचना में माथुरी और नागार्जुनीय दोनों वाचनाओं को समान्वित किया गया है और जहाँ मतभेद परिलक्षित हुआ वहाँ "नागार्जुनीयास्तु पठन्ति" ऐसा लिखकर नागार्जुनीय पाठ को भी सम्मिलित किया गया।

प्रत्येक वाचना के सन्दर्भ में प्रायः यह कहा जाता है कि मध्यदेश में द्वादशवर्षीय दुष्काल के कारण श्रमणसंघ समुद्रतटीय प्रदेशों की ओर चला गया और वृद्ध मुनि, जो इस अकाल में लम्बी यात्रा न कर सके कालगत हो गये। सुकाल होने पर जब मुनिसंघ लौटकर आया तो उसने यह पाया कि इनके श्रुतज्ञान में विस्मृति और विसंगति आ गयी है। प्रत्येक वाचना से पूर्व अकाल की यह कहानी मुझे बुद्धिगम्य नहीं लगती है। मेरी दृष्टि में प्रथम वाचना में श्रमण संघ के विश्रृंखलित होने का प्रमुख कारण अकाल की अपेक्षा मगध राज्य में युद्ध से उत्पन्न अशांति और आराजकता ही थी क्योंकि उस समय नन्दों के अत्याचारों एवं चन्द्रगुप्त मौर्य के आक्रमण के कारण मगध में अशांति थी। उसी के फलस्वरूप श्रमण संघ सुदूर समुद्रीतट की ओर या नेपाल आदि पर्वतीय क्षेत्र की ओर चला गया था। भद्रबाहु की नेपाल यात्रा का भी सम्भवतः यही कारण रहा होगा।

जो भी उपलब्ध साक्ष्य है उससे यह फलित होता है कि पाटलिपुत्र की वाचना के समय द्वादश अंगों को ही व्यवस्थित करने का प्रयत्न हुआ था। उसमें एकादश अंग सुव्यवस्थित हुए और बारहवें दृष्टिवाद, जिसमें अन्य दर्शन एवं महावीर के पूर्व पार्श्वनाथ की परम्परा का साहित्य समाहित था, इसका संकलन नहीं किया जा सका। इसी सन्दर्भ में स्थूलिभद्र के द्वारा भद्रबाहु के सान्निध्य में नेपाल जाकर चतुर्दश पूर्वों के अध्ययन की बात कही जाती है। किन्तु स्थूलिभद्र भी मात्र दस पूर्वों का ही ज्ञान अर्थ सहित ग्रहण कर सके, शेष चार पूर्वों का केवल शाब्दिक ज्ञान ही प्राप्त कर सके। इसका फलितार्थ यही है कि पाटलीपुत्र की वाचना में एकादश अंगों का ही संकलन और संपादन हुआ था। किसी भी चतुर्दश पूर्वविद् की उपस्थिति नहीं होने से दृष्टिवाद के संकलन एवं संपादन का कार्य नहीं किया जा सका।

उपांग साहित्य के अनेक ग्रन्थ जैसे प्रज्ञापना आदि, छेदसूत्रों में आचारदशा, कल्प, व्यवहार आदि तथा घूलिकासूत्रों में नन्दी, अनुयोगद्वार आदि -- ये सभी परवर्ती कृति होने से इस वाचना में सम्मिलित नहीं किये गये होंगे। यद्यपि आवश्यक, दशवैकालिक, उत्तराध्ययन आदि ग्रन्थ पाटलीपुत्र की वाचना के पूर्व के हैं किन्तु इस वाचना में इनका क्या किया गया, यह जानकारी प्राप्त नहीं है। हो सकता है कि सभी साधु-साधवियों के लिये इनका स्वाध्याय आवश्यक होने के कारण इनके विस्मृत होने का प्रश्न ही न उठा हो।

पाटलीपुत्र वाचना के बाद उड़ीसा के कुमारी पर्वत (खण्डगिरि) पर खारवेल के राज्य

काल में हुई थी। इस वाचना के सम्बन्ध में मात्र इतना ही ज्ञात है कि इसमें भी श्रुत को सुव्यवस्थित करने का प्रयत्न किया गया था। संभव है कि इस वाचना में ई. पू. प्रथम शती से पूर्व रचित ग्रन्थों के संकलन और सम्पादन का कोई प्रयत्न किया गया हो।

जहाँ तक माथुरी वाचना का प्रश्न है इतना तो निश्चित है कि उसमें ई. सन् की चौथी शती तक के रचित सभी ग्रन्थों के संकलन एवं सम्पादन का प्रयत्न किया गया होगा। इस वाचना के कार्य के सन्दर्भ में जो सूचना मिलती है, उसमें इस वाचना में कालिकसूत्रों को व्यवस्थित करने का निर्देश है। नन्दिसूत्र में कालिकसूत्र को अंग-बाह्य, आवश्यक व्यतिरिक्त श्रुतों का ही एक भाग बताया गया है। कालिकसूत्रों के अन्तर्गत उत्तराध्ययन, ऋषिभाषित, दशाश्रुत, कल्प, व्यवहार, निशीथ तथा वर्तमान में उपांग के नाम से अभिहित अनेक ग्रन्थ आते हैं। हो सकता है कि अंग सूत्रों की जो पाटलीपुत्र की वाचना चली आ रही थी वह मथुरा में मान्य रही हो, किन्तु उपांगों में से कुछ को तथा कल्प आदि छेद सूत्रों को सुव्यवस्थित किया गया हो। किन्तु यापनीय ग्रन्थों की टीकाओं में जो माथुरी वाचना के आगमों के उद्धरण मिलते हैं, उन पर जो शौरसेनी का प्रभाव दिखता है, उससे ऐसा लगता है कि माथुरी वाचना में न केवल कालिक सूत्रों का अपितु उस काल तक रचित सभी ग्रन्थों के संकलन का काम किया गया था। ज्ञातव्य है कि यह माथुरी वाचना अचेलता की पोषक यापनीय परम्परा में भी मान्य रही है। यापनीय ग्रन्थों की व्याख्याओं एवं टीकाओं में इस वाचना के आगमों के अवतरण तथा इन आगमों के प्रामाण्य के उल्लेख मिलते हैं। आर्य शाकटायन ने अपने स्त्री-निर्वाण प्रकरण एवं अपने व्याकरण की स्वोपज्ञटीका में न केवल मथुरा आगम का उल्लेख किया है, अपितु उनकी अनेक मान्यताओं का निर्देश भी किया है तथा अनेक अवतरण भी दिये हैं। इसी प्रकार भगवतीआराधना की अपराजित की टीका में भी आचारांग, उत्तराध्ययन, निशीथ आदि के अवतरण पाये जाते हैं, यह हम पूर्व में कह चुके हैं।

आर्य स्कंदिल की माथुरी वाचना वस्तुतः उत्तर भारत के निर्ग्रन्थ संघ के सचेल-अचेल दोनों पक्षों के लिये मान्य थी और उसमें दोनों ही पक्षों के सम्पोषक साक्ष्य उपस्थित थे। यहाँ यह प्रश्न स्वाभाविक रूप से उठता है कि यदि माथुरी वाचना उभय पक्षों को मान्य थी तो फिर उसी समय नागार्जुन की अध्यक्षता में वल्लभी में वाचना करने की क्या आवश्यकता थी। मेरी मान्यता है कि अनेक प्रश्नों पर स्कंदिल और नागार्जुन में मतभेद रहा होगा। इसी कारण से नागार्जुन को स्वतन्त्र वाचना करने की आवश्यकता पड़ी।

इस समस्त चर्चा से पं. कैलाशचन्द्रजी के इस प्रश्न का उत्तर भी मिल जाता है कि वल्लभी की दूसरी वाचना में क्या किया गया ? एक ओर मुनि श्री कल्याणविजयजी की मान्यता यह है कि वल्लभी में आगमों को मात्र पुस्तकारूढ़ किया गया तो दूसरी ओर पं. कैलाशचन्द्रजी यह मानते हैं कि वल्लभी में आगमों को नये सिरे से लिखा गया, किन्तु ये दोनों ही मत मुझे एकांगी प्रतीत होते हैं। यह सत्य है कि वल्लभी में न केवल आगमों को पुस्तकारूढ़ किया गया, अपितु उन्हें संकलित एवं सम्पादित भी किया गया किन्तु यह संकलन एवं सम्पादन निराधार नहीं था। न तो दिगम्बर परम्परा का यह कहना उचित है कि वल्लभी में श्वेताम्बरों ने अपनी

मान्यता के अनुरूप आगमों को नये सिरे से रच डाला और न यह कहना ही समुचित होगा कि वल्लभी में जो आगम संकलित किये गये वे अक्षुण्ण रूप से वैसे ही थे जैसे-- पाटलीपुत्र आदि की पूर्व वाचनाओं में उन्हें संकलित किया गया था। यह सत्य है कि आगमों की विषय-वस्तु के साथ-साथ अनेक आगम ग्रन्थ भी कालक्रम में विलुप्त हुए हैं। वर्तमान आगमों का यदि सम्यक् प्रकार से विश्लेषण किया जाय तो इस तथ्य की पुष्टि हो जाती है। आज आचारांग का सातवाँ अध्यायन विलुप्त है। इसी प्रकार अन्तकृद्दशा, अनुत्तरौपपातिक व विपाकदशा के भी अनेक अध्याय आज अनुपलब्ध हैं। नन्दिसूत्र की सूची के अनेक आगम ग्रन्थ आज अनुपलब्ध हैं। इस सम्बन्ध में विस्तृत चर्चा हमने आगमों के विच्छेद की चर्चा के प्रसंग में की है। ज्ञातव्य है कि देवर्धि की वल्लभी वाचना में न केवल आगमों को पुस्तकारुद्द किया गया है, अपितु उन्हें सम्पादित भी किया गया है। इस सम्पादन के कार्य में उन्होंने आगमों की अवशिष्ट उपलब्ध विषय-वस्तु को अपने ढंग से पुनः वर्गीकृत भी किया था और परम्परा या अनुश्रुति से प्राप्त आगमों के वे अंश जो उनके पूर्व की वाचनाओं में समाहित नहीं थे, उन्हें समाहित भी किया। उदाहरण के रूप में ज्ञाताधर्मकथा में सम्पूर्ण द्वितीय श्रुतस्कन्ध के दस वर्ग और अध्ययन इसी वाचना में समाहित किये गये हैं, क्योंकि श्वेताम्बर, यापनीय एवं दिगम्बर परम्परा के प्रतिक्रमणसूत्र एवं अन्यत्र उसके उन्नीस अध्ययनों का ही उल्लेख मिलता है। प्राचीन ग्रन्थों में द्वितीय श्रुतस्कन्ध के दस वर्गों का कहीं कोई निर्देश नहीं है।

इसी प्रकार अन्तकृद्दशा, अनुत्तरौपपातिकदशा और विपाकदशा के सन्दर्भ में स्थानांग में जो दस-दस अध्ययन होने की सूचना है उसके स्थान पर इनमें भी जो वर्गों की व्यवस्था की गई वह देवर्धि की ही देन है। उन्होंने इनके विन्युप्त अध्यायों के स्थान पर अनुश्रुति से प्राप्त सामग्री जोड़कर इन ग्रन्थों को नये सिरे से व्यवस्थित किया था।

यह एक सुनिश्चित सत्य है कि आज प्रश्नव्याकरण की आस्रव-सँवर द्वार सम्बन्धी जो विषय-वस्तु उपलब्ध है वह किसके द्वारा संकलित व संपादित है यह निर्णय करना कठिन कार्य है किन्तु यदि हम यह मानते हैं कि नन्दीसूत्र के रचयिता देवर्धि न होकर देव वाचक हैं, जो देवर्धि से पूर्व के हैं तो यह कल्पना भी की जा सकती है कि देवर्धि ने आस्रव व सँवर द्वार सम्बन्धी विषय-वस्तु को लेकर प्रश्नव्याकरण की प्राचीन विषय-वस्तु का जो विच्छेद हो गया था, उसकी पूर्ति की होगी। इस प्रकार ज्ञाताधर्म से लेकर विपाकसूत्र तक के छः अंग आगमों में जो आशिक या सम्पूर्ण परिवर्तन हुए हैं, वे देवर्धि के द्वारा ही किये हुए माने जा सकते हैं। यद्यपि यह परिवर्तन उन्होंने किसी पूर्व परम्परा या अनुश्रुति के आधार पर ही किया होगा यह विश्वास किया जा सकता है। इसके अतिरिक्त देवर्धि ने एक यह महत्त्वपूर्ण कार्य भी किया कि जहाँ अनेक आगमों में एक ही विषय-वस्तु का विस्तृत विवरण था वहाँ उन्होंने एक स्थल पर विस्तृत विवरण था रखकर अन्यत्र उस ग्रन्थ का निर्देश कर दिया। हम देखते हैं कि भगवती आदि कुछ प्राचीन स्तरों के आगमों में भी, उन्होंने प्रज्ञापना, नन्दी, अनुयोगद्वार जैसे परवर्ती आगमों का निर्देश करके आगमों में विषय-वस्तु के पुनरावर्तन को कम किया। इसी प्रकार जब एक ही आगम में कोई विवरण बार-बार आ रहा था तो उस विवरण के प्रथम शब्द के बाद

"जाव" शब्द रखकर अन्तिम शब्द का उल्लेख कर उसे संक्षिप्त बना दिया। इसके साथ ही उन्होंने कुछ महत्त्वपूर्ण सूचनाएँ जो यद्यपि परवर्तीकाल की थीं, उन्हें भी आगमों में दे दिया जैसे स्थानागमसूत्र में सात निह्नवों और सात गणों का उल्लेख। इस प्रकार वल्लभी की वाचना में न केवल आगमों को पुस्तकासूद किया गया अपितु उनकी विषय-वस्तु को सुव्यवस्थित और संपादित भी किया गया। सम्भव है कि इस सन्दर्भ में प्रक्षेप और विलोपन भी हुआ होगा किन्तु यह सब भी अनुश्रुति या परम्परा के आधार पर ही किया गया था अन्यथा आगमों को मान्यता न मिलती।

सामान्यतया यह माना जाता है कि वाचनाओं में केवल अनुश्रुति से प्राप्त आगमों को ही संकलित किया जाता था किन्तु मेरी दृष्टि में वाचनाओं में न केवल आगम पाठों को सम्पादित एवं संकलित किया जाता अपितु उनमें नवनिर्मित ग्रन्थों को मान्यता भी प्रदान की जाती और जो आचार और विचार सम्बन्धी मतभेद होते थे उन्हें समन्वित या निराकृत भी किया जाता था। इसके अतिरिक्त इन वाचनाओं में वाचना स्थलों की अपेक्षा से आगमों के भाषिक स्वरूप में भी परिवर्तन हुआ है।

उदाहरण के रूप में जो आगम पटना अथवा उड़ीसा के कुमारी पर्वत (खण्डगिरि) में सुव्यवस्थित किये गये थे, उनकी भाषा अर्धमागधी ही रही, किन्तु जब वे आगम मथुरा और वल्लभी में पुनः सम्पादित किये गये तो उनमें भाषिक परिवर्तन आ गये। माथुरी वाचना में जो आगमों का स्वरूप तय हुआ था, उस पर व्यापक रूप से शौरसेनी का प्रभाव आ गया था। दुर्भाग्य से आज हमें माथुरी वाचना के आगम उपलब्ध नहीं हैं, किन्तु इन आगमों के जो उद्धृत अंश उत्तर भारत की अचेल धारा यापनीय संघ के ग्रन्थों में और उनकी टीकाओं में उद्धृत मिलते हैं, उनमें हम यह पाते हैं कि भावगत समानता के होते हुए भी शब्द-रूपों और भाषिक स्वरूप में भिन्नता है। उत्तराध्ययन, आचारांग, निशीथ, कल्प, व्यवहार आदि से जो अंश भगवतीआराधना की टीका में उद्धृत हैं वे अपने भाषिक स्वरूप और पाठभेद की अपेक्षा से वल्लभी के आगमों से किंचित् भिन्न हैं।

अतः इन वाचनाओं के कारण आगमों में न केवल भाषिक परिवर्तन हुए अपितु पाठान्तर भी अस्तित्व में आये हैं। वल्लभी की अन्तिम वाचना में वल्लभी की ही नागार्जुनीय वाचना के पाठान्तर तो लिये गये, किन्तु माथुरी वाचना के पाठान्तर समाहित नहीं हैं। यद्यपि कुछ विद्वानों की मान्यता है कि वल्लभी की देवार्धि की वाचना का आधार माथुरी वाचना के आगम थे और यही कारण था कि उन्होंने नागार्जुनीय वाचना के पाठान्तर दिये हैं। किन्तु मेरा मन्तव्य इससे भिन्न है। मेरी दृष्टि में उनकी वाचना का आधार भी परम्परा से प्राप्त नागार्जुनीय वाचना के पूर्व के आगम रहे होंगे, किन्तु जहाँ उन्हें अपनी परम्परागत वाचना का नागार्जुनीय वाचना से मतभेद दिखायी दिया, वहाँ उन्होंने नागार्जुनीय वाचना का उल्लेख कर दिया, क्योंकि माथुरी वाचना स्पष्टतः शौरसेनी से प्रभावित थी, दूसरे उस वाचना के आगमों के जो भी अवतरण आज मिलते हैं उनमें कुछ वर्तमान आगमों की वाचना से मेल नहीं खाते हैं। उनसे यही फलित होता है कि देवार्धि की वाचना का आधार स्कंदिल की वाचना तो नहीं रही है। तीसरे माथुरी

वाचना के जो अवतरण आज यापनीय ग्रन्थों में मिलते हैं, उनसे इतना तो फलित होता है कि माथुरी वाचना के आगमों में भी वस्त्र-पात्र सम्बन्धी एवं स्त्री की तद्भव मुक्ति के उल्लेख तो थे, किन्तु उनमें अचेतता को उत्सर्ग मार्ग माना गया था। यापनीय ग्रन्थों में उद्धृत, अचेतपक्ष के सम्प्लोषक कुछ अवतरण तो वर्तमान वल्लभी वाचना के आगमों यथा आचारांग के प्रथम श्रुतस्कन्ध आदि में मिलते हैं किन्तु कुछ अवतरण वर्तमान वाचना में नहीं मिलते हैं। अतः माथुरी वाचना के पाठान्तर वल्लभी की देवर्धि की वाचना में समाहित नहीं हुए हैं, इसकी पुष्टि होती है। मुझे ऐसा लगता है कि वल्लभी की देवर्धि की वाचना का आधार माथुरी वाचना के आगम न होकर उनकी अपनी ही गुरु-परम्पर से प्राप्त आगम रहे होंगे। मेरी दृष्टि में उन्होंने नागार्जुनीय वाचना के ही पाठान्तर अपनी वाचना में समाहित किये -- क्योंकि दोनों में भाषा एवं विषय-वस्तु दोनों ही दृष्टि से कम ही अन्तर था। माथुरी वाचना के आगम या तो उन्हें उपलब्ध ही नहीं थे अथवा भाषा एवं विषय-वस्तु दोनों की अपेक्षा भिन्नता अधिक होने से उन्होंने उसे आधार न बनाया हो। फिर भी देवर्धि को परम्परा से प्राप्त जो आगम थे, उनका और माथुरी वाचना के आगमों का मूलस्रोत तो एक ही था। हो सकता है कि दोनों में कालक्रम में भाषा एवं विषय-वस्तु की अपेक्षा क्वचित् अन्तर आ गये हों। अतः यह दृष्टिकोण भी समुचित नहीं होगा कि देवर्धि की वल्लभी वाचना के आगम माथुरी वाचना के आगमों से नितान्त भिन्न थे।

यापनीयों के आगम

यापनीय संघ के आचार्य आचारांग, सूत्रकृतांग, उत्तराध्ययन, दशवैकालिक, कल्प, निशीथ, व्यवहार, आवश्यक आदि आगमों को मान्य करते थे। इस प्रकार आगमों के विच्छेद होने की जो दिगम्बर मान्यता है, वह उन्हें स्वीकार्य नहीं थी। यापनीय आचार्यों द्वारा निर्मित किसी भी ग्रन्थ में कहीं भी यह उल्लेख नहीं है कि अंगादि-आगम विच्छिन्न हो गये हैं। वे आचारांग, सूत्रकृतांग, दशवैकालिक, उत्तराध्ययन, निशीथ, बृहत्कल्प, व्यवहार, कल्प आदि को अपनी परम्परा के ग्रन्थों के रूप में उद्धरित करते थे। इस सम्बन्ध में आदरणीय पं. नाथूराम प्रेमी (जैन साहित्य और इतिहास, पृ. 91) का यह कथन द्रष्टव्य है-- "अक्सर ग्रन्थकार किसी मत का खण्डन करने के लिए उसी मत के ग्रन्थों का हवाला दिया करते हैं और अपने सिद्धान्त को पुष्ट करते हैं। परन्तु इस टीका (अर्थात् भगवती-आराधना की विजयोदया टीका) में ऐसा नहीं है, इसमें तो टीकाकार ने अपने ही आगमों का हवाला देकर अचेतता सिद्ध की है।"

आगमों के अस्तित्व को स्वीकार कर उनके अध्ययन और स्वाध्याय सम्बन्धी निर्देश भी यापनीय ग्रन्थ मूलाचार में स्पष्ट रूप से उपलब्ध होते हैं। मूलाचार (5/80-82) में चार प्रकार के आगम ग्रन्थों का उल्लेख है-- 1. गणधर कथित, 2. प्रत्येकबुद्ध कथित, 3. श्रुतकेवलि कथित और 4. अभिन्न दशपूर्वी कथित।

इसके साथ ही यह भी कहा गया है कि संयमी पुरुषों एवं स्त्रियों अर्थात् मुनियों एवं आर्यिकाओं के लिए अस्वाध्यायकाल में इनका स्वाध्याय करना वर्जित है किन्तु इनके अतिरिक्त कुछ अन्य ऐसे ग्रन्थ हैं जिनका अस्वाध्यायकाल में पाठ किया जा सकता है, जैसे -- आराधना

(भगवतीआराधना या आराधनापताका), निर्युक्ति, मरणाविभक्ति, संग्रह (पंचसंग्रह या संग्रहणीसूत्र), स्तुति (देविदत्तु), प्रत्याख्यान (आउरपच्चक्खाण एवं महापच्चक्खाण), धर्मकथा (ज्ञाताधर्मकथा) तथा ऐसे ही अन्य ग्रन्थ।

यहाँ पर चार प्रकार के आगम ग्रन्थों का जो उल्लेख हुआ है, उस पर थोड़ी विस्तृत चर्चा अपेक्षित है, क्योंकि मूलाचार की मूलगाथा में मात्र इन चार प्रकार के सूत्रों का उल्लेख हुआ है। उसमें इन ग्रन्थों का नाम निर्देश नहीं है। मूलाचार के टीकाकार वसुनन्दि न तो यापनीय परम्परा से सम्बद्ध थे और न उनके सम्मुख ये ग्रन्थ ही थे। अतः इस प्रसंग में उनकी प्रत्येक-बुद्धकथित की व्याख्या पूर्णतः भ्रान्त ही है। मात्र यही नहीं, अगली गाथा की टीका में उन्होंने "थुदि", "पच्चक्खाण" एवं "धम्मकहा" को जिन ग्रन्थों से समीकृत किया है वह तो और भी अधिक भ्रामक है। आश्चर्य है कि वे "थुदि" से देवागमस्तोत्र और परमेष्ठिरस्तोत्र को समीकृत करते हैं, जबकि मूलाचार का मन्तव्य अन्य ही है। जहाँ तक गणधरकथित ग्रन्थों का प्रश्न है वहाँ लेखक का तात्पर्य आचारांग, सूत्रकृतांग आदि अंग ग्रन्थों से है, प्रत्येकबुद्धकथित ग्रन्थों से तात्पर्य प्रश्नव्याकरण, उत्तराध्ययन और ऋषिभाषित आदि से है, क्योंकि ये ग्रन्थ प्रत्येकबुद्धकथित माने जाते हैं। ये ग्रन्थ प्रत्येकबुद्धकथित हैं, ऐसा स्पष्ट उल्लेख भी समवायांग, उत्तराध्ययन निर्युक्ति आदि में है। श्रुतेकवलिकथित ग्रन्थों से तात्पर्य आचार्य शय्यम्भवरचित दशवैकालिक, आचार्य भद्रबाहु (प्रथम) रचित बृहत्कल्प, दशाश्रुतस्कन्ध (आयारदसा), व्यवहार आदि से है तथा अभिन्न दशपूर्विकथित ग्रन्थों से उनका तात्पर्य कम्मपयडी आदि "पूर्व" साहित्य के ग्रन्थों से है। यहाँ स्मरण रखने योग्य तथ्य यह है कि यदि यापनीय परम्परा में ये ग्रन्थ विच्छिन्न माने जाते, तो फिर इनके स्वाध्याय का निर्देश लगभग ईसा की छठीं शताब्दी के ग्रन्थ मूलाचार में कैसे हो पाता। दिगम्बर परम्परा के अनुसार तो वीरनिर्वाण के 683 वर्ष पश्चात् अर्थात् ईसा की दूसरी शती में आचारांग धारियों की परम्परा भी समाप्त हो गई थी फिर वीरनिर्वाण के एक हजार वर्ष पश्चात् भी आचारांग आदि के स्वाध्याय करने का निर्देश देने का कोई अर्थ ही नहीं रह जाता है। ज्ञातव्य है कि मूलाचार की यही गाथा कुन्दकुन्द के सुत्तपाहुड में भी मिलती है, किन्तु कुन्दकुन्द आगमों के उपर्युक्त प्रकारों का उल्लेख करने के पश्चात् उनकी स्वाध्याय विधि के सम्बन्ध में कुछ नहीं कहते हैं। जबकि मूलाचार स्पष्ट रूप से उनके स्वाध्याय का निर्देश करता है। मात्र यही नहीं मूलाचार में आगमों के अध्ययन की उपधान विधि अर्थात् तप पूर्वक आगमों के अध्ययन करने की विधि का भी उल्लेख है। आगमों के अध्ययन की यह उपधान विधि श्वेताम्बरों में आज भी प्रचलित है। विधिमार्गप्रपा (पृ. 49-51) में इसका विस्तृत उल्लेख है। इससे यह भी स्पष्ट रूप से प्रमाणित हो जाता है कि मूलाचार आगमों को विच्छिन्न नहीं मानता था। यापनीय परम्परा में ये अंग आगम और अंगबाह्य आगम प्रचलन में थे, इसका एक प्रमाण यह भी है कि नवीं शताब्दी में यापनीय आचार्य अपराजित भगवतीआराधना की टीका में न केवल इन आगमों से अनेक उद्धरण प्रस्तुत करते हैं, अपितु स्वयं दशवैकालिक पर टीका भी लिख रहे हैं। मात्र यही नहीं, यापनीय पयुषण के अवसर पर कल्पसूत्र का वाचन भी करते थे, ऐसा निर्देश स्वयं दिगम्बराचार्य कर रहे हैं।

क्या यापनीय आगम वर्तमान श्वेताम्बर आगमों से भिन्न थे ?

इस प्रसंग में यह विचारणीय है कि यापनीयों के ये आगम कौन से थे ? क्या वे इन नामों से उपलब्ध श्वेताम्बर परम्परा के आगमों से भिन्न थे या यही थे ? हमारे कुछ दिगम्बर विद्वानों ने यह कहने का अतिसाहस भी किया है कि ये आगम वर्तमान श्वेताम्बर आगमों से सर्वथा भिन्न थे। पं. कैलाशचन्द्रजी (जैन साहित्य का इतिहास, पूर्व पीठिका, पृ. 525) ने ऐसा ही अनुमान किया है, वे लिखते हैं "जैन परम्परा में दिगम्बर और श्वेताम्बर के समान एक यापनीय संघ भी था। यह संघ यद्यपि नग्नता का पक्षधर था, तथापि श्वेताम्बरीय आगमों को मानता था। इस संघ के आचार्य अपराजितसूरि की संस्कृत टीका भगवतीआराधना नामक प्राचीन ग्रन्थ पर है। जो मुद्रित भी हो चुकी है। उसमें नग्नता के समर्थन में अपराजितसूरि ने आगम ग्रन्थों से अनेक उद्धरण दिये हैं, जिनमें से अनेक उद्धरण वर्तमान आगमों में नहीं मिलते। आदरणीय पंडितजी ने यहाँ जो "अनेक" शब्द का प्रयोग किया है वह भ्रान्ति उत्पन्न करता है। मैंने अपराजितसूरि की टीका में उद्धृत आगमिक सन्दर्भों की श्वेताम्बर आगमों से तुलना करने पर स्पष्ट रूप से यह पाया है कि लगभग 90 प्रतिशत सन्दर्भों में आगमों की अर्धमागधी प्राकृत पर शौरसेनी प्राकृत के प्रभाव के फलस्वरूप हुए आंशिक पाठभेद को छोड़कर कोई अन्तर नहीं है। जहाँ किंचित् पाठभेद है वहाँ भी अर्थ-भेद नहीं है। आदरणीय पंडितजी ने इस ग्रन्थ में भगवतीआराधना की विजयोदया टीका (पृ. 320-327) से एक उद्धरण दिया है, जो वर्तमान आचारांग में नहीं मिलता है। उनके द्वारा प्रस्तुत वह उद्धरण निम्न है--

तथा चोक्तमाचारङ्गे -- सुदं *आउस्सत्तो* भगवदा एवमक्खादा इह खलु संयमाभिमुख दुविहा इत्थी पुरिसा जादा हवति। तं जहा सक्कसमण्णागदे णो सक्कसमण्णागदे चेव। तत्थ जे सक्कसमण्णागदे थिणा* हत्थपाणीपादे सव्विदिय समण्णागदे तस्स णं णो कप्पदि एगमवि वत्थ धारिउं एवं परिहिउं एवं अण्णत्थ एणेण पडिलेहणेण इति।

निश्चय ही उपर्युक्त सन्दर्भ आचारांग में इसी रूप में शब्दशः नहीं है किन्तु "सक्कसमन्नागय" नामक पद और उक्त कथन का भाव आचारांग के प्रथम श्रुतस्कन्ध के अष्टम अध्ययन में आज भी सुरक्षित है। अतः इस आधार पर यह कल्पना करना अनुचित होगा कि यापनीय परम्परा का आचारांग, वर्तमान में श्वेताम्बर परम्परा में उपलब्ध आचारांग से भिन्न था। क्योंकि अपराजितसूरि द्वारा उद्धृत आचारांग के अन्य सन्दर्भ आज भी श्वेताम्बर परम्परा के इसी आचारांग में उपलब्ध है। अपराजित ने आचारांग के "लोकविचय" नामक द्वितीय अध्ययन के पंचम उद्देशक का उल्लेखपूर्वक जो उद्धरण दिया है, वह आज भी उसी अध्याय के उसी उद्देशक में उपलब्ध है। इसी प्रकार उसमें "अहं पुण एवं जाणेज्ज उपातिकंते हेमंते-- ठविज्ज" जो यह पाठ आचारांग से उद्धृत है-- वह भी वर्तमान आचारांग के अष्टम अध्ययन के चतुर्थ उद्देशक में है। उत्तराध्ययन, सूत्रकृतांग, कल्प आदि के सन्दर्भों की भी लगभग यही स्थिति है। अब हम उत्तराध्ययन के सन्दर्भों पर विचार करेंगे। आदरणीय पंडितजी ने जैन साहित्य की पूर्वपीठिका में अपराजित की भगवतीआराधना की टीका की निम्न दो गाथाएँ उद्धृत की हैं--

परिचल्लेसु वत्थेसु ण पुणो चेलमादिए ।
 अचेलपवरे भिक्खू जिणरूपधरे सदा ।।
 सचेलगो सुखी भवदि असुखी वा वि अचेलगो ।
 अहं तो सचेलो होक्खामि इदि भिक्खू न चितए ।।

पंडितजी ने इन्हें उत्तराध्ययन की गाथा कहा है और उन्हें वर्तमान उत्तराध्ययन में अनुपलब्ध भी बताया है। किन्तु जब हमने स्वयं पंडितजी द्वारा ही सम्पादित एवं अनुवादित भगवतीआराधना की टीका देखी तो उसमें इन्हें स्पष्ट रूप से उत्तराध्ययन की गाथायें नहीं कहा गया है। उसमें मात्र "इमानि च सूत्राणि अचेलतां दर्शयन्ति" कहकर इन्हें उद्धृत किया गया है। आदरणीय पंडितजी को यह भ्रान्ति कैसे हो गई, हम नहीं जानते। पुनः वे गाथाएँ भी चाहे शब्दशः उत्तराध्ययन में न हों, किन्तु भावरूप से तो दोनों ही गाथाएँ और शब्द-रूप से इनके आठ चरणों में से चार चरण तो उपलब्ध ही हैं। उपरोक्त उद्धृत गाथाओं से तुलना के लिए उत्तराध्ययन की ये गाथाएँ प्रस्तुत हैं--

"परिजुण्णेहिं वत्थेहिं होक्खामि ति अचेलए ।
 अदुवा "सचेलए होक्खं" इदं भिक्खू न विन्तए ।।
 "एगया अचेलए होइ सचेले यावि एगया ।"
 एयं धम्महिंयं नच्चा नाणी नो परिदेवए ।।

-- उत्तराध्ययन, 2/12-13

जिस प्रकार श्वेताम्बर परम्परा में ही चूर्णि में आगत पाठों और शीलांक या अभयदेव की टीका में आगत पाठों में अर्धमागधी और महाराष्ट्री प्राकृत की दृष्टि से पाठभेद रहा है, उसी प्रकार यापनीय परम्परा के आगम के पाठ माथुरी वाचना के होने के कारण शौरसेनी प्राकृत से युक्त रहे होंगे। किन्तु यहाँ यह भी स्मरण रखना आवश्यक है कि प्राचीन स्तर के सभी आगम ग्रन्थ मूलतः अर्धमागधी के रहे हैं। उनमें जो महाराष्ट्री या शौरसेनी के शब्द-रूप उपलब्ध होते हैं, वे परवर्ती हैं। विजयोदया में आचारांग आदि के सभी आगमिक सन्दर्भों को देखने से यह स्पष्ट हो जाता है कि वे पूर्णतः शौरसेनी प्रभाव से युक्त हैं। मूलतः आचारांग, उत्तराध्ययन आदि आगम तो निश्चित ही अर्धमागधी में रहे हैं। यहाँ दो सम्भावनाएँ हो सकती हैं, प्रथम यही है कि माथुरी वाचना के समय उन पर शौरसेनी का प्रभाव आया हो और यापनीयों ने उसे मान्य रखा हो। दूसरे यह है कि यापनीयों द्वारा उन आगमों का शौरसेनीकरण करते समय श्वेताम्बर परम्परा में मान्य आचारांग आदि से उनमें पाठभेद हो गया हो, किन्तु इस आधार पर भी यह कहना उचित नहीं होगा कि यापनीय और श्वेताम्बर परम्परा के आगम भिन्न थे। ऐसा पाठभेद तो एक ही परम्परा के आगमों में भी उपलब्ध है। स्वयं पं. कैलाशचन्द्रजी ने अपने ग्रन्थ जैन साहित्य का इतिहास-पूर्वपीठिका में अपराजितसूरि की भगवतीआराधना की टीका से आचारांग का जो उपर्युक्त पाठ दिया है, उसमें और स्वयं उनके द्वारा सम्पादित भगवतीआराधना की अपराजितसूरि की टीका में उद्धृत पाठ में ही अन्तर है-- एक में "थीण" पाठ है-- दूसरे में "थीरांग" पाठ है, जिससे अर्थ-भेद भी होता है। एक ही लेखक और

सम्पादक की कृति में भी पाठभेद हो तो भिन्न परम्पराओं में किंचित् पाठभेद होना स्वाभाविक है, किन्तु उससे उनकी पूर्ण भिन्नता की कल्पना नहीं की जा सकती है। पुनः यापनीय परम्परा द्वारा उद्धृत आचारांग, उत्तराध्ययन आदि के उपर्युक्त पाठों की अचेतकत्व की अवधारणा का प्रश्न है, वह श्वेताम्बर परम्परा के आगमों में आज भी उपलब्ध है।

इसी प्रसंग में उत्तराध्ययन की जो अन्य गाथायें उद्धृत की गई हैं, वे आज भी उत्तराध्ययन के 23वें अध्ययन में कुछ पाठभेद के साथ उपलब्ध हैं। आराधना की टीका में उद्धृत इन गाथाओं पर भी शौरसेनी का स्पष्ट प्रभाव है। यह भी स्पष्ट है कि मूल उत्तराध्ययन अर्धमागधी की रचना है। इससे ऐसा लगता है कि यापनीयों ने अपने समय के अविभक्त परम्परा के आगमों को मान्य करते हुए भी उन्हें शौरसेनी प्राकृत में रूपान्तरित करने का प्रयास किया था, अन्यथा अपराजित की टीका में मूल आगमों के उद्धरणों का शौरसेनी रूप न मिलकर अर्धमागधी रूप ही मिलता। इस सम्बन्ध में पं. नाथूरामजी प्रेमी (जैन साहित्य और इतिहास, पृ. 60) का निम्न वक्तव्य विचारणीय है--

"श्वेताम्बर सम्प्रदाय मान्य जो आगम ग्रन्थ हैं, यापनीय संघ शायद उन सभी को मानता था, परन्तु ऐसा जान पड़ता है कि दोनों के आगमों में कुछ पाठभेद था और उसका कारण यह हो कि उपलब्ध क्लृप्ती वाचना के पहले की कोई वाचना (संभवतः माथुरी वाचना) यापनीय संघ के पास थी, क्योंकि विजयोदया टीका में आगमों के जो उद्धरण हैं वे श्वेताम्बर आगमों में बिल्कुल ज्यों के त्यों नहीं बल्कि कुछ पाठभेद के साथ मिलते हैं। यापनीयों के पास स्कंदिल की माथुरी वाचना के आगम थे यह मानने में एक बाधा आती है, वह यह कि स्कंदिल की वाचना का काल वीरनिर्वाण 827-840 अर्थात् ईसा की तृतीय शती का अन्त और चतुर्थशती का प्रारम्भ है, जबकि संघभेद उसके लगभग 200 वर्ष पहले ही घटित हो चुका था। किन्तु पं. नाथूरामजी यह शंका इस आधार पर निरस्त हो जाती है कि वास्तविक सम्प्रदाय-भेद ईस्वी सन् की द्वितीय शताब्दी में न होकर पाँचवीं शती में हुआ। यद्यपि यह माना जाता है कि फल्गुमित्र की परम्परा की कोई वाचना थी, किन्तु इस वाचना के सम्बन्ध में स्पष्ट निर्देश कहीं भी उपलब्ध नहीं है।

निष्कर्ष यह है कि यापनीय आगम वही थे, जो उन नामों से आज श्वेताम्बर परम्परा में उपलब्ध हैं। मात्र उनमें किंचित् पाठभेद था तथा भाषा की दृष्टि से शौरसेनी का प्रभाव अधिक था। यापनीय ग्रन्थों में आगमों के जो उद्धरण मिलते हैं उनमें कुछ तो वर्तमान श्वेताम्बर परम्परा के आगमों में अनुपलब्ध हैं, कुछ पाठान्तर के साथ उपलब्ध हैं। जो अनुपलब्ध हैं, उनके सम्बन्ध में दो विकल्प हैं-- प्रथम यह कि मूलागमों के वे अंश बाद के श्वेताम्बर आचार्यों ने अगली वाचना में निकाल दिये और दूसरा यह कि वे अंश यापनीय मान्यता के प्रक्षिप्त अंश हो। किन्तु प्रथम विकल्प में इसलिए विश्वास नहीं होता कि यदि परवर्ती वाचनाओं में वे सब बातें, जो उस युग के आचार्यों को मान्य नहीं थीं या उनकी परम्परा के विरुद्ध थीं, निकाल दी गई होतीं तो वर्तमान श्वेताम्बर आगमों में अचेतता के समर्थक सभी अंश निकाल दिये जाने चाहिए थे। मुझे ऐसा लगता है कि आगमों की वाचनाओं (संकलन) के समय केवल वे ही अंश नहीं

आ पाये थे जो विस्मृत हो गये थे अथवा पुनरावृत्ति से बचने के लिए "जाव" पाठ देकर वहाँ से हटा दिये गये थे। मान्यता भेद के कारण कुछ अंश जानबूझकर निकाले गये हों, ऐसा कोई भी विश्वसनीय प्रमाण हमें नहीं मिलता है। किन्तु यह हो सकता है कि वे अंश किसी अन्य गण की वाचना के रहे हों, जिनके प्रतिनिधि उस वाचना में सम्मिलित नहीं थे। कुछ ऐसे प्रमाण उपलब्ध हैं कि विभिन्न गणों में वाचना-भेद या पाठभेद होता था। विभिन्न गणों के निर्माण का एक कारण वाचना भेद भी माना गया है। यह कहा जाता है कि महावीर के ग्यारह गणधरों की नौ वाचनाएँ थीं अर्थात् महावीर के काल में भी वाचना-भेद था। क्योंकि प्रत्येक वाचनाचार्य की अध्यापन शैली भिन्न होती थी। ज्ञातव्य है कि जैन परम्परा में शब्द के स्थान पर अर्थ पर बल दिया जाता था, तीर्थंकर को अर्थ का प्रवर्तक माना गया था जबकि वैदिक परम्परा शब्द प्रधान थी। यही कारण है कि जैनों ने यह माना कि चाहे शब्द-भेद हो, पर अर्थ-भेद नहीं होना चाहिए। यही कारण है कि वाचना भेद बढ़ते गये। हमें यापनीय ग्रन्थों में उपलब्ध आगमिक उद्धरणों से वर्तमान आगमों के पाठों का जो पाठभेद मिलता है उनका कारण वाचना-भेद है, अर्थ-भेद नहीं, क्योंकि ऐसे अनुपलब्ध अंशों या पाठभेदों में विषय प्रतिपादन की दृष्टि से महत्वपूर्ण अन्तर नहीं है। किन्तु इस सम्भावना से पूरी तरह इन्कार नहीं किया जा सकता कि स्वयं यापनीयों ने भी अपनी मान्यता की पुष्टि के लिए कुछ अंश जोड़े हों अथवा परिवर्तित किये हों। श्वेताम्बर परम्परा में भी वल्लभी वाचना में या उसके पश्चात् भी आगमों में कुछ अंश जुड़ते रहे हैं-- इस तथ्य से इन्कार नहीं किया जा सकता। हम पण्डित कैलाशचन्द्रजी (जैन साहित्य का इतिहास पूर्वपीठिका, पृ. 527) के इस कथन से सहमत हैं कि वल्लभी वाचना के समय और उसके बाद भी आगमों के स्वरूप में कुछ परिवर्तन हुए हैं। किन्तु उनके द्वारा प्रयुक्त "बहुत" शब्द आपत्तिजनक है। फिर भी ध्यान रखना होगा कि इनमें प्रक्षेप ही अधिक हुआ है, विस्मृति को छोड़कर जान-बूझकर निकाला कुछ नहीं गया है।

किन्तु ऐसा प्रक्षेप मात्र श्वेताम्बरों ने किया है और दिगम्बरों तथा यापनीयों ने नहीं किया है-- यह नहीं कहा जा सकता। सम्भव है कि यापनीय परम्परा ने भी आगमों में अपने अनुकूल कुछ अंश प्रक्षिप्त किये हों। मूलाचार, भगवतीआराधना आदि ग्रन्थों को देखने से ऐसा स्पष्ट लगता है कि उन्होंने अर्धमागधी आगम साहित्य की ही सैकड़ों गाथायें शौरसेनी प्राकृत में रूपान्तरित करके अपने इन ग्रन्थों को रचना की है, मूलाचार का लगभग आधा भाग प्रकीर्णकों, निर्युक्तियों एवं आगमों की गाथाओं से निर्मित है। यह तो निश्चित है कि प्राचीन आगम साहित्य अर्धमागधी में था। यापनीय ग्रन्थों में उपलब्ध आगमिक सन्दर्भ के सदैव शौरसेनी रूप ही मिलते हैं, जो इस तथ्य के स्पष्ट प्रमाण हैं कि उन्होंने अर्धमागधी आगम साहित्य को शौरसेनी में अपने ढंग से रूपान्तरित करने का प्रयत्न किया होगा और इस प्रयत्न में उन्होंने अपने मत की पुष्टि का भी प्रयास किया होगा।

अतः इस तथ्य से इन्कार नहीं किया जा सकता कि यापनीय आचार्यों ने भी मूल आगमों के साथ छेड़छाड़ की थी और अपने मत की पुष्टि हेतु उन्होंने उनमें परिवर्धन और प्रक्षेप भी किये।

मात्र श्वेताम्बर और यापनीय ही आगमों के साथ छेड़छाड़ करने के दोषी नहीं हैं, बल्कि दिगम्बर आचार्य और पण्डित भी इस दौड़ में पीछे नहीं रहे हैं। यापनीय ग्रन्थों में दिगम्बर परम्परा के द्वारा जो प्रक्षेपण और परिवर्तन किये गये हैं वे तो और भी अधिक विचारणीय हैं, क्योंकि इनके कारण अनेक यापनीय ग्रन्थों का यापनीय स्वरूप ही विकृत हो गया है। हमारे दिगम्बर विद्वान् श्वेताम्बर ग्रन्थों में प्रक्षेपण की बात तो कहते हैं किन्तु वे इस बात को विस्मृत कर जाते हैं कि स्वयं उन्होंने यापनीय और अपने ग्रन्थों में भी किस प्रकार हेर-फेर किये हैं। इस सम्बन्ध में मैं अपनी ओर से कुछ न कहकर दिगम्बर विद्वानों का मत प्रस्तुत करना चाहूँगा।

पं. कैलाशचन्द्रजी स्व-सम्पादित "भगवतीआराधना" की प्रस्तावना (पृ. 9) में लिखते हैं-- "विजयोदया के अध्ययन से प्रकट होता है कि उनके सामने टीका लिखते समय जो मूलग्रन्थ उपस्थित था, उसमें और वर्तमान मूल (ग्रन्थ) में अन्तर है। अनेक गाथाओं में वे शब्द नहीं मिलते जो टीकाओं में हैं।"

इससे स्पष्ट होता है कि जब दिगम्बर आचार्यों ने इस यापनीय ग्रन्थ को अपने में समाहित किया होगा तो इसकी मूल गाथाओं के शब्दों में भी हेर-फेर कर दिया होगा। यदि पं. कैलाशचन्द्रजी ने उन सभी स्थलों का जहाँ उन्हें पाठभेद प्रतीत हुआ, निर्देश किया होता तो सम्भवतः हम अधिक प्रामाणिकता से कुछ बात कह सकते थे। टीका और मूल के सारे अन्तरों को हम भी अभी तक खोज नहीं पाये हैं। अतः अभी तो उनके मत को ही विश्वसनीय मानकर संतोष करेंगे। स्वयंभू के रिटठनेभिचरिउ (हरिवंशपुराण) में भी इसी प्रकार की छेड़-छाड़ हुई थी। इस सन्दर्भ में पं. नाथूरामजी प्रेमी (जैन साहित्य और इतिहास, पृ. 202) लिखते हैं-- "इसमें तो संदेह नहीं है कि इस अन्तिम अंश में मुनि जसकित्ति (यशकीर्ति) का भी हाथ है परन्तु यह कितना है यह निर्णय करना कठिन है। बहुत कुछ सोच-विचार के बाद हम इस निर्णय पर पहुँचे हैं कि मुनि जसकित्ति को इस ग्रन्थ की कोई ऐसी जीर्ण-शीर्ण प्रति मिली थी जिसके अन्तिम पत्र नष्ट-भ्रष्ट थे और शायद अन्य प्रतियाँ दुर्लभ थीं, इसलिए उन्होंने गोपगिरि (ग्वालियर) के समीप कुमरनगरी के जैन मन्दिर में व्याख्यान करने के लिए इसे ठीक किया अर्थात् जहाँ-जहाँ जितना अंश पढ़ा नहीं गया था या नष्ट हो गया था, उसको स्वयं रचकर जोड़ दिया और जहाँ-जहाँ जोड़ा, वहाँ-वहाँ अपने परिश्रम के एवज में अपना नाम भी जोड़ दिया। इससे स्पष्ट है कि कुछ दिगम्बर आचार्यों ने दूसरों की रचनाओं को भी अपने नाम पर चढ़ा लिया।

इसी प्रकार तिलोयपण्णत्ति में भी पर्याप्त रूप से मिलावट हुई है। जहाँ "तिलायपण्णत्ति" का ग्रन्थ-परिमाण 8000 श्लोक बताया गया है वहाँ वर्तमान तिलोयपण्णत्ति का श्लोक-परिमाण 9340 है अर्थात् लगभग 1340 श्लोक अधिक हैं। पं. नाथूरामजी प्रेमी के शब्दों में -- ये इस बात के संकेत देते हैं कि पीछे से इसमें मिलावट की गयी है। इस सन्दर्भ में पं. फूलचन्द्रशास्त्री के, जैन साहित्य भास्कर, भाग 11, अंक प्रथम में प्रकाशित "वर्तमान तिलोयपण्णत्ति और

उसके रचनाकार का विचार" नामक लेख के आधार पर वे लिखते हैं-- "उससे मालूम होता है कि यह ग्रन्थ अपने असल रूप में नहीं रहा है। उसमें न केवल बहुत सा लगभग एक अष्टमांश प्रक्षिप्त है, बल्कि बहुत-सा परिवर्तन और परिशोध भी किया गया है, जो मूल ग्रन्थ कर्ता के अनुकूल नहीं है।" इसी प्रकार कसायपाहुडसुत्त की मूल गाथाएँ 180 थीं, किन्तु आज उसमें 233 गाथाएँ मिलती हैं-- अर्थात् उसमें 53 गाथाएँ परवर्ती आचार्यों द्वारा प्रक्षिप्त हैं। यही स्थिति कुन्दकुन्द के समयसार, वट्टकेर के मूलाचार आदि की भी है। प्रकाशित संस्करणों में भी गाथाओं की संख्याओं में बहुत अधिक अन्तर है। समयसार के ज्ञानपीठ के संस्करण में 415 गाथाएँ हैं तो अजिताश्रम संस्करण में 437 गाथाएँ। मूलाचार के दिगम्बर जैनग्रन्थमाला के संस्करण में 1242 गाथाएँ हैं तो फलटण के संस्करण में 1414 गाथाएँ हैं अर्थात् 162 गाथाएँ अधिक हैं, यह सब इस बात का प्रमाण है कि दिगम्बर परम्परा के आचार्यों ने श्वेताम्बरों और यापनीयों की अपेक्षा बहुत अधिक प्रक्षेप एवं परिवर्तन किया है। इन उल्लेखों के अतिरिक्त वर्तमान में भी इस प्रकार के परिवर्तनों के प्रयास हुए हैं। जैसे "धवला" के सम्पादन के समय मूल ग्रन्थ षट्खण्डागम से "संजद" पद को हटा देना, ताकि उस ग्रन्थ के यापनीय स्वरूप या स्त्री-मुक्ति के समर्थक होने का प्रमाण नष्ट किया जा सके। इस सन्दर्भ में दिगम्बर समाज में कितनी ऊहापोह मची थी और पक्ष-विपक्ष में कितने लेख लिखे गये थे, यह तथ्य किसी से छिपा नहीं है। यह भी सत्य है कि अन्त में मूलप्रति में "संजद" पद पाया गया। तथापि ताम्रपत्र वाली प्रति में वह पद नहीं लिखा गया, सम्भवतः भविष्य में वह एक नई समस्या उत्पन्न करेगा। इस सन्दर्भ में भी मैं अपनी ओर से कुछ न कहकर दिगम्बर परम्परा के मान्य विद्वन् पं. कैलाशचन्द्रजी के शब्दों को ही उद्धृत कर रहा हूँ। पं. बालचन्द्रशास्त्री की कृति "षट्खण्डागम-परिशीलन" के अपने प्रधान सम्पादकीय में वे लिखते हैं-- "समुच्चा ग्रन्थ प्रकाशित होने से पूर्व ही एक और विवाद उठ खड़ा हुआ। प्रथम भाग के सूत्र 93 में जो पाठ हमें उपलब्ध था, उसमें अर्थ-संगति की दृष्टि से "संजदासंजद" के आगे "संजद" पद जोड़ने की आवश्यकता प्रतीत हुई, किन्तु इससे फलित होने वाली सैद्धान्तिक व्यवस्थाओं से कुछ विद्वानों के मन आलोलित हुए और वे "संजद" पद को वहाँ जोड़ना एक अनधिकार चेष्टा कहने लगे। इस पर बहुत बार मौखिक शास्त्रार्थ भी हुए और उत्तर-प्रत्युत्तर रूप लेखों की श्रृंखलाएँ भी चल पड़ीं, जिनका संग्रह कुछ स्वतन्त्र ग्रन्थों में प्रकाशित भी हुआ। इसके मौखिक समाधान हेतु जब सम्पादकों ने ताडपत्रीय प्रतियों के पाठ की सूक्ष्मता से जाँच करायी तब पता चला कि वहाँ की दोनों भिन्न प्रतियों में हमारा सुझाया गया संजद पद विद्यमान है। इससे दो बातें स्पष्ट हुईं-- एक तो यह कि सम्पादकों ने जो पाठ-संशोधन किया है, वह गम्भीर चिन्तन और समझदारी पर आधारित है और दूसरी यह कि मूल प्रतियों से पाठ मिलान की आवश्यकता अब भी बनी हुई है, क्योंकि जो पाठान्तर मूडबिंद्री से प्राप्त हुए थे और तृतीय भाग के अन्त में समाविष्ट किये गये थे उनमें यह संशोधन नहीं मिला।"

मेरे उपर्युक्त लेखन का तात्पर्य किसी की भावनाओं को ठेस पहुँचाना नहीं है किन्तु मूलग्रन्थों के साथ ऐसी छेड़-छाड़ करने के लिए श्वेताम्बर, दिगम्बर, यापनीय-- सभी समानरूप से दोषी हैं। जहाँ श्वेताम्बरों ने अपने ही पूर्व अविभक्त परम्परा के आगमों से ऐसी छेड़-छाड़

की, वहाँ यापनीयों ने श्वेताम्बर मान्य आगमों और आगमिक व्याख्याओं से और दिगम्बरों ने यापनीय परम्परा के ग्रन्थों से ऐसी ही छेड़-छाड़ की।

निष्कर्ष यह है कि इस प्रकार की छेड़-छाड़ प्राचीन काल से लेकर वर्तमान काल तक होती रही है। कोई भी परम्परा इस सन्दर्भ में पूर्ण निर्दोष नहीं कही जा सकती। अतः किसी भी परम्परा का अध्ययन करते समय यह आवश्यक है कि हम उन प्रक्षिप्त अथवा परिवर्धित अंशों पर निष्पक्ष दृष्टि से विचार करें, क्योंकि इस छेड़-छाड़ में कहीं कुछ ऐसा अवश्य रह जाता है, जिससे यथार्थता को समझा जा सकता है।

परिवर्धनों और परिवर्तनों के बावजूद भी श्वेताम्बर आगमों की एक विशेषता है, वह यह कि वे सब बातें भी जिनका उनकी परम्परा से स्पष्ट विरोध है, उनमें यथावत् रूप से सुरक्षित हैं। यही कारण है कि श्वेताम्बर आगम जैन धर्म के प्राचीन स्वरूप की जानकारी देने में आज भी पूर्णतया सक्षम हैं। आवश्यकता है निष्पक्ष भाव से उनके अध्ययन की। क्योंकि उनमें बहुत कुछ ऐसा मिल जाता है, जिसमें जैनधर्म के विकास और उसमें आये परिवर्तनों को समझा जा सकता है। यही बात किसी सीमा तक यापनीय और दिगम्बर ग्रन्थों के सन्दर्भ में भी कही जा सकती है, यद्यपि श्वेताम्बर साहित्य की अपेक्षा वह अल्प ही है। प्रक्षेप और परिष्कार के बाद भी समग्र जैन साहित्य में बहुत कुछ ऐसा है, जो सत्य को प्रस्तुत करता है, किन्तु शर्त यही है कि उसका अध्ययन ऐतिहासिक और सम्प्रदाय निरपेक्ष दृष्टि से हो, तभी हम सत्य को समझ सकेंगे।

आगमों के विच्छेद की अवधारणा

आगम के विच्छेद की यह अवधारणा जैनधर्म के श्वेताम्बर एवं दिगम्बर दोनों ही सम्प्रदायों में उल्लिखित हैं। दिगम्बर परम्परा में आगमों के विच्छेद की यह अवधारणा तिलोयपण्णत्ति, षट्खण्डागम की ध्वला टीका, हरिवंशपुराण, आदिपुराण आदि में मिलती है। इन सब ग्रन्थों में तिलोयपण्णत्ति अपेक्षा कृत प्राचीन है। तिलोयपण्णत्ति का रचनाकाल विद्वानों ने ईसा की छठी-सातवीं शती के लगभग माना है। इसके पश्चात् षट्खण्डागम की ध्वला टीका, हरिवंशपुराण, आदिपुराण आदि ग्रन्थ आते हैं जो लगभग ई. की नवीं शती की रचनाएँ हैं। हरिवंश पुराण में आगम-विच्छेद की चर्चा को कुछ विद्वानों ने प्रक्षिप्त माना है क्योंकि वह यापनीय परम्परा का ग्रन्थ है और यापनीयों में नवीं-दसवीं शताब्दी तक आगमों के अध्ययन और उन पर टीका लिखने की परम्परा जीवित रही है। सम्भव यह भी है कि जिस प्रकार श्वेताम्बरों में आगमों के विच्छेद की चर्चा होते हुए भी आगमों की परम्परा जीवित रही उसी प्रकार यापनीयों में भी श्रुत विच्छेद की परम्परा का उल्लेख होते हुए भी श्रुत के अध्ययन एवं उन पर टीका आदि के लेखन की परम्परा जीवित रही है। पुनः हरिवंशपुराण में भी मात्र पूर्व एवं अंग ग्रन्थ के विच्छेद की चर्चा है शेष ग्रन्थ तो थे ही।

इन ग्रन्थों के अनुसार भगवान महावीर के निर्वाण के पश्चात् गौतम, सुधर्मा (लोहार्य) और जम्बू ये तीन आचार्य केवली हुए, इन तीनों का सम्मिलित काल 62 वर्ष माना गया है।

तत्पश्चात् विष्णु, नन्दिमित्र, अपराजित, गोवर्धन और भद्रबाहु ये पाँच आचार्य चतुर्दश पूर्वों के धारक श्रुतकेवली हुए। इन पाँच आचार्यों का सम्मिलित काल 100 वर्ष है। इस प्रकार भद्रबाहु के काल तक अंग और पूर्व की परम्परा अविच्छिन्न बनी रही। उसके बाद प्रथम पूर्व साहित्य का विच्छेद प्रारम्भ हुआ। भद्रबाहु के पश्चात् विशाख, प्रोष्ठिल, क्षत्रिय, जय, नाग, सिद्धार्थ, धृतिसेन, विजय बुद्धिल, धर्मसेन और गंगदेव -- ये ग्यारह आचार्य दस पूर्वों के धारक हुए। इनका सम्मिलित काल 183 वर्ष माना गया है। इस प्रकार वीरनिर्वाण के पश्चात् 345 वर्ष तक पूर्वधरों का अस्तित्व रहा। इसके बाद पूर्वधरों के विच्छेद के साथ ही पूर्व ज्ञान का विच्छेद हो गया। इनके पश्चात् नक्षत्र, यशपाल, पाण्डु, ध्रुवसेन और कंस -- ये पाँच आचार्य एकादश अंगों के ज्ञाता हुए। इनका सम्मिलित काल 220 वर्ष माना गया। इस प्रकार भगवान महावीर निर्वाण के 565 वर्ष पश्चात् आचारांग को छोड़कर शेष अंगों का भी विच्छेद हो गया। इनके बाद सुभद्र, यशोभद्र, यशोबाहु और लोहाचार्य -- ये चार आचार्य आचारांग के धारक हुए। इनका काल ११८ वर्ष रहा। इस प्रकार वीरनिर्वाण के ६८३ वर्ष पश्चात् अंग एवं पूर्व साहित्य के ग्रन्थों के पूर्णज्ञाता आचार्यों की परम्परा समाप्त हो गई। इनके बाद आचार्य धरसेन तक अंग और पूर्व के एकदेश ज्ञाता (आंशिकज्ञाता) आचार्यों की परम्परा चली। उसके बाद पूर्व और अंग साहित्य का विच्छेद हो गया। मात्र अंग और पूर्व के आधार पर उनके एकदेश ज्ञाता आचार्यों द्वारा निर्मित ग्रन्थ ही शेष रहे। अंग और पूर्वधरों की यह सूची हमने हरिवंशपुराण के आधार पर दी है। अन्य ग्रन्थों एवं श्रवण बेलगोला के कुछ अभिलेखों में भी यह सूची दी गयी है किन्तु इन सभी सूचियों में कहीं नामों में और कहीं क्रम में अन्तर है, जिससे इनकी प्रामाणिकता संदेहास्पद बन जाती है। किन्तु जो कुछ साहित्यिक और अभिलेखीय साक्ष्य उपलब्ध हैं उन्हें ही आधार बनाना होगा अन्य कोई विकल्प भी नहीं है। यद्यपि इन साक्ष्यों में भी एक भी साक्ष्य ऐसा नहीं है, जो सातवीं शती से पूर्व का हो। इन समस्त विवरणों से हम इस निष्कर्ष पर पहुँच सकते हैं कि दिगम्बर परम्परा में श्रुत विच्छेद की इस चर्चा का प्रारम्भ लगभग छठी-सातवीं शताब्दी में हुआ और उसमें अंग एवं पूर्व साहित्य के ग्रन्थों के ज्ञाता आचार्यों के विच्छेद की चर्चा हुई है।

श्वेताम्बर परम्परा में पूर्व ज्ञान के विच्छेद की चर्चा तो निर्युक्ति, भाष्य, चूर्णि आदि आगमिक व्याख्या ग्रन्थों में हुई है। किन्तु अंग-आगमों के विच्छेद की चर्चा मात्र त्रित्योगालिय प्रकीर्णक के अतिरिक्त अन्यत्र कहीं नहीं मिलती है। त्रित्योगालिय प्रकीर्णक को देखने से लगता है कि यह ग्रन्थ लगभग छठी-सातवीं शताब्दी में निर्मित हुआ है। इसका रचना काल और कुछ विषय-वस्तु भी त्रिलोयपण्णत्ति से समरूप ही है। इस प्रकीर्णक का उल्लेख, नन्दीसूत्र की कालिक और उत्कालिक ग्रन्थों की सूची में नहीं है किन्तु व्यवहारभाष्य (10/704) में इसका उल्लेख हुआ है। व्यवहारभाष्य स्पष्टतः सातवीं शताब्दी की रचना है। अन्ततः त्रित्योगालिय पाँचवीं शती के पश्चात् तथा सातवीं शती के पूर्व अर्थात् लगभग ईस्वी सन् की छठी शताब्दी में निर्मित हुआ होगा। यही काल त्रिलोयपण्णत्ति का भी है। इन दोनों ग्रन्थों में ही सर्वप्रथम श्रुत के विच्छेद की चर्चा है। त्रित्योगालिय में तीर्थंकरों की माताओं के चौदह स्वप्न, स्त्री-मुक्ति तथा दस आश्चर्यों का उल्लेख होने से एवं नन्दीसूत्र, अनुयोगद्वार तथा आवश्यकनिर्युक्ति से इसमें

अनेक गाथाएँ अवतरित किये जाने से यही सिद्ध होता है कि यह श्वेताम्बर ग्रन्थ है। श्वेताम्बर परम्परा में प्रकीर्णक रूप में इसकी आज भी मान्यता है। इस ग्रन्थ की गाथा 807 से 857 तक में न केवल पूर्वी के विच्छेद की चर्चा है अपितु अंग साहित्य के विच्छेद की भी चर्चा है।

तित्थोगालिय एवं अन्य ग्रन्थों के साक्ष्य से ज्ञात होता है कि श्वेताम्बर परम्परा के अनुसार अन्तिम चतुर्दशपूर्वधर आर्य भद्रबाहु हुए। आर्य भद्रबाहु स्वर्गवास के साथ ही चतुर्दश पूर्वधरों की परम्परा समाप्त हो गयी। इनका स्वर्गवास काल वीरनिर्वाण के 170 वर्ष पश्चात् माना जाता है। इसके पश्चात् स्थूलिभद्र दस पूर्वी के अर्थ सहित और शेष चार पूर्वी के मूल मात्र के ज्ञाता हुए। यथार्थ में तो वे दस पूर्वी के ही ज्ञाता थे। तित्थोगालिय में स्थूलिभद्र को दस पूर्वधरों में प्रथम कहा गया है। उसमें अन्तिम दसपूर्वी सत्यमित्र पाठभेद से सर्वमित्र को बताया गया है, किन्तु उनके काल का निर्देश नहीं किया गया है। उसके बाद उस ग्रन्थ में यह उल्लेखित है कि अनुक्रम से भगवान महावीर के निर्वाण के 1000 वर्ष पश्चात् वाचक वृषभ के समय में पूर्वगत् श्रुत का विच्छेद हो जायेगा। श्वेताम्बर परम्परा के अनुसार दस पूर्वधरों के पश्चात् भी पूर्वधरों की परम्परा चलती रही है, श्वेताम्बरों में अभिन्न-अक्षर दसपूर्वधर और भिन्न-अक्षर दसपूर्वधर, ऐसे दो प्रकार के वर्गों का उल्लेख है, जो सम्पूर्ण दस पूर्वी के ज्ञाता होते, वे अभिन्न-अक्षर दसपूर्वधर कहे जाते थे और जो आंशिक रूप से दस पूर्वी के ज्ञाता होते थे, उन्हें भिन्न-अक्षर दसपूर्वधर कहा जाता था।

इस प्रकार हम देखते हैं कि चतुर्दश पूर्वधरों के विच्छेद की इस चर्चा में दोनों परम्परा में अन्तिम चतुर्दशपूर्वी भद्रबाहु को ही माना गया है। श्वेताम्बर परम्परा के अनुसार वीरनिर्वाण के 170 वर्ष पश्चात् और दिगम्बर परम्परा के अनुसार 162 वर्ष पश्चात् चतुर्दश पूर्वधरों का विच्छेद हुआ। यहाँ दोनों परम्पराओं में मात्र आठ वर्षों का अन्तर है। किन्तु दस पूर्वधरों के विच्छेद के सम्बन्ध में दोनों परम्पराओं में कोई समरूपता नहीं देखी जाती है। श्वेताम्बर परम्परानुसार आर्य सर्वमित्र और दिगम्बर परम्परा के अनुसार आर्य धर्मसेन या आर्य सिद्धार्थ अन्तिम दस पूर्वी हुए हैं। श्वेताम्बर परम्परा में आर्य सर्वमित्र को अन्तिम दस पूर्वधर कहा गया है। दिगम्बर परम्परा में भगवती आराधना के कर्त्ता शिवार्थ के गुरुओं के नामों में सर्वगुप्तगणि और मित्रगणि नाम आते हैं किन्तु दोनों में कोई समरूपता हो यह निर्णय करना कठिन है। दिगम्बर परम्परा में दस पूर्वधरों के पश्चात् एकदेश पूर्वधरों का उल्लेख तो हुआ है किन्तु उनकी कोई सूची उपलब्ध नहीं होती। अतः इस सम्बन्ध में किसी प्रकार की तुलना कर पाना सम्भव नहीं है।

पूर्व साहित्य के विच्छेद की चर्चा के पश्चात् तित्थोगालिय में अंग साहित्य के विच्छेद की चर्चा हुई है, जो निम्नानुसार है--

उसमें उल्लिखित है कि वीरनिर्वाण के 1250 वर्ष पश्चात् विपाकसूत्र सहित छः अंगों का विच्छेद हो जायेगा। इसके पश्चात् वीरनिर्वाण सं. 1300 में समवायांग का, वीरनिर्वाण सं. 1350 में स्थानांग का, वीरनिर्वाण सं. 1400 में कल्प-व्यवहार का, वीरनिर्वाण सं. 1500 में

आचारदशा का, वीरनिर्वाण सं. 1900 में सूत्रकृतांग का और वीरनिर्वाण सं. 2000 में निशीथसूत्र का विच्छेद होगा। ज्ञातव्य है कि इसके पश्चात् लगभग अठारह हजार वर्ष तक विच्छेद की कोई चर्चा नहीं है। फिर वीरनिर्वाण सं. 20,000 में आचारांग का, वीरनिर्वाण सं. 20500 में उत्तराध्ययन का, वीरनिर्वाण सं. 20900 में दशवैकालिक मूल का और वीरनिर्वाण सं. 21,000 में दशवैकालिक के अर्थ का विच्छेद होगा -- यह कहा गया है।

ज्ञातव्य है कि पण्डित दलसुखभाई ने जैन साहित्य के बृहद् इतिहास की भूमिका (पृ. 61) में आचारांग का विच्छेद वीरनिर्वाण के 2300 वर्ष पश्चात् लिखा है किन्तु मूल गाथा से कहीं भी यह अर्थ फलित नहीं होता। उन्होंने किस आधार पर यह अर्थ किया यह हम नहीं जानते हैं। हो सकता है कि उनके पास इस गाथा का कोई दूसरा पाठान्तर रहा हो।

इस प्रकार हम देखते हैं कि अंग आगमों के विच्छेद की चर्चा श्वेताम्बर परम्परा में भी चली है, किन्तु इसके बावजूद भी श्वेताम्बर परम्परा ने अंग साहित्य को, चाहे आंशिक रूप से ही क्यों न हो, सुरक्षित रखने का प्रयास किया है।

प्रथम तो प्रश्न यह है कि क्या विच्छेद का अर्थ तत्-तत् ग्रन्थ का सम्पूर्ण रूप से विनाश है? मेरी दृष्टि में विच्छेद का अर्थ यह नहीं कि उस ग्रन्थ का सम्पूर्ण लोप हो गया। मेरी दृष्टि में विच्छेद का तात्पर्य उसके कुछ अंशों का विच्छेद ही मानना होगा। यदि हम निष्पक्ष दृष्टि से विचार करें तो ज्ञात होता है कि श्वेताम्बर परम्परा में भी जो अंग साहित्य आज अवशिष्ट हैं वे उस रूप में तो नहीं हैं जिस रूप से उनकी विषय-वस्तु का उल्लेख स्थानांग, समवायांग, नन्दीसूत्र आदि में हुआ है। यह सत्य है कि न केवल पूर्व साहित्य का अपितु अंग साहित्य का भी बहुत कुछ अंश विच्छिन्न हुआ है। आज आचारांग के प्रथम श्रुतस्कन्ध का सातवाँ महापरिज्ञा नामक अध्याय अनुपलब्ध है। भगवतीसूत्र, ज्ञाताधर्मकथा, अन्तकृद्दशा, अनुतरौपपातिक, प्रश्नव्याकरण, विपाकदशा आदि ग्रन्थों की भी बहुत कुछ सामग्री विच्छिन्न हुई है, इससे इन्कार नहीं किया जा सकता। क्योंकि स्थानांग में दस दशाओं की जो विषय-वस्तु वर्णित है, वह उनकी वर्तमान विषय-वस्तु से मेल नहीं खाती है। उनमें जहाँ कुछ प्राचीन अध्ययन विलुप्त हुए हैं, वहीं कुछ नवीन सामग्री समाविष्ट भी हुई है। अन्तिम वाचनाकार देवर्दिगणि ने स्वयं भी इस तथ्य को स्वीकार किया है कि मुझे जो भी त्रुटित सामग्री मिली है, उसको ही मैंने संकलित किया है। अतः आगम ग्रन्थों के विच्छेद की जो चर्चा है, उसका अर्थ यही लेना चाहिये कि यह श्रुत-संपदा यथावत् रूप में सुरक्षित नहीं रह सकी। वह आंशिक रूप से विस्मृति के गर्भ में चली गई। क्योंकि भगवान् महावीर के निर्वाण के पश्चात् लगभग एक हजार वर्ष तक यह साहित्य मौखिक रहा और मौखिक परम्परा में विस्मृति स्वाभाविक है। विच्छेद का क्रम तभी रूका जब आगमों को लिखित रूप दे दिया गया।

दिगम्बर परम्परा में श्रुत-विच्छेद सम्बन्धी यह जो चर्चा है उसके सम्बन्ध में यह बात विशेष रूप से ज्ञातव्य है कि उसमें श्रुतधरों के अर्थात् श्रुत के ज्ञाता आचार्यों के विच्छेद की चर्चा हुई है न कि श्रुत ग्रन्थों के विच्छेद चर्चा हुई है। दूसरे यह कि पूर्व और अंग के इस विच्छेद की

चर्चा में भी पूर्व और अंगों के एकदेश ज्ञाता आचार्यों का अस्तित्व तो स्वीकार किया ही गया है। धरसेन के सम्बन्ध में भी मात्र यह कहा गया है कि वे अंग और पूर्वों के एकदेश ज्ञाता थे। इनके बाद अंग एवं पूर्व के एकदेश ज्ञाता आचार्यों की परम्परा भी समाप्त हो गयी हो, ऐसा उल्लेख हमें किसी भी दिगम्बर ग्रन्थ में नहीं मिला। यही कारण है कि पं. दलसुखभाई मालवणिया (वही, पृ. 62) आदि कुछ विद्वान इन उल्लेखों को श्रुतधरों के विच्छेद का उल्लेख मानते हैं न कि श्रुत के विच्छेद का पुनः इस चर्चा में मात्र पूर्व और अंग साहित्य के विच्छेद की ही चर्चा हुई है। कालिक और उत्कालिक सूत्रों के अथवा छेदसूत्रों के विच्छेद की कहीं कोई चर्चा दिगम्बर परम्परा में नहीं उठी है। दुर्भाग्य यह है कि दिगम्बर विद्वानों ने श्रुतधरों के विच्छेद को ही श्रुत का विच्छेद मान लिया और कालिक, उत्कालिक आदि आगमों के विच्छेद की कोई चर्चा न होने पर भी उनका विच्छेद स्वीकार कर लिया। यह सत्य है कि जब श्रुत के अध्ययन की परम्परा मौखिक हो तो श्रुतधर के विच्छेद से श्रुत का विच्छेद मानना होगा किन्तु जब श्रुत लिखित रूप में भी हो, तो श्रुतधर के विच्छेद से श्रुत का विच्छेद नहीं माना जा सकता। दूसरे मौखिक परम्परा से चले आ रहे श्रुत में विस्मृति आदि के कारण किसी अंश-विशेष के विच्छेद को पूर्ण विच्छेद मानना भी समीचीन नहीं है। विच्छेद की इस चर्चा का तात्पर्य मात्र यही है कि महावीर की यह श्रुत-सम्पदा अक्षुण्ण नहीं रह सकी और उसके कुछ अंश विलुप्त हो गये। अतः आंशिक रूप में जिनवाणी आज भी है, इसे स्वीकार करने में किसी को कोई विप्रतिपत्ति नहीं होना चाहिये।

अर्धमागधी आगमों की विषय-वस्तु सरल है

अर्धमागधी आगम साहित्य की विषय-वस्तु मुख्यतः उपदेशपरक, आचारपरक एवं कथापरक है। भगवती के कुछ अंश, प्रज्ञापना, अनुयोगद्वार, जो कि अपेक्षाकृत परवर्ती है, को छोड़कर उनमें प्रायः गहन दार्शनिक एवं सैद्धान्तिक चर्चाओं का अभाव है। विषय-प्रतिपादन सरल, सहज और सामान्य व्यक्ति के लिए भी बोधगम्य है। वह मुख्यतः विवरणात्मक एवं उपदेशात्मक है। इसके विपरीत शौरसेनी आगमों में आराधना और मूलाचार को छोड़कर लगभग सभी ग्रन्थ दार्शनिक एवं सैद्धान्तिक चर्चा से युक्त है। वे परिपक्व दार्शनिक विचारों के परिचायक हैं। गुणस्थान और कर्मसिद्धान्त की वे गहराईयों, जो शौरसेनी आगमों में उपलब्ध हैं, अर्धमागधी आगमों में उनका प्रायः अभाव ही है। कुन्दकुन्द के समयसार के समान उनमें सैद्धान्तिक दृष्टि से अध्यात्मवाद के प्रतिस्थापन का भी कोई प्रयास परिलक्षित नहीं होता। यद्यपि ये सब उनकी कमी भी कही जा सकती है, किन्तु चिन्तन के विकास क्रम की दृष्टि से विचार करने पर स्पष्ट रूप से यह फलित होता है कि अर्धमागधी आगम साहित्य प्राथमिक स्तर का होने से प्राचीन भी है और साथ ही विकसित शौरसेनी आगमों के लिए आधार भूत भी। समवायांग में जीवस्थानों के नाम से 14 गुणस्थानों का मात्र निर्देश है, जबकि षट्खण्डागम जैसा प्राचीन शौरसेनी आगम भी उनकी गम्भीरता से चर्चा करता है। मूलाचार, भगवतीआराधना, कुन्दकुन्द के ग्रन्थ और गोम्मतसार आदि सभी में गुणस्थानों की विस्तृत चर्चा है। चूँकि तत्त्वार्थ में गुणस्थानों की चर्चा का एवं स्याद्बद-सप्तभंगी का अभाव है, अतः ये सभी

रचनाएँ तत्त्वार्थ के बाद की कृतियाँ मानी जा सकती हैं। इसी प्रकार कषायपाहुड, षट्खण्डागम, गोम्मट्टसार आदि शौरसेनी आगम ग्रन्थों में कर्मसिद्धान्त की जो गहन चर्चा है, वह भी अर्धमागधी आगम साहित्य में अनुपलब्ध है। अतः शौरसेनी आगमों की अपेक्षा अर्धमागधी आगमों की सरल, बोधगम्य एवं प्राथमिक स्तर की विवरणात्मक शैली उनकी प्राचीनता की सूचक है।

तथ्यों का सहज संकलन

अर्धमागधी आगमों में तथ्यों का सहज संकलन किया गया है अतः अनेक स्थानों पर सैद्धान्तिक दृष्टि से उनमें भिन्नताएँ भी पायी जाती हैं। वस्तुतः ये ग्रन्थ अकृत्रिम भाव से रचे गये हैं और उन्हें उनके सम्पादन काल में भी संगतियुक्त बनाने का कोई प्रयास नहीं किया गया है। एक ओर उत्सर्ग की दृष्टि से उनमें अहिंसा के सूक्ष्मता के साथ पालन करने के निर्देश हैं तो दूसरी ओर अपवाद की अपेक्षा से ऐसे अनेक विवरण भी हैं जो इस सूक्ष्म अहिंसक जीवनशैली के अनुकूल नहीं हैं। इसी प्रकार एक ओर उनमें मुनि की अचेतता का प्रतिपादन समर्थन किया गया है, तो दूसरी ओर वस्त्र, पात्र के साथ-साथ मुनि के उपकरणों की लम्बी सूची भी मिल जाती है। एक ओर केशलोच का विधान है तो दूसरी क्षुर-मुण्डन की अनुज्ञा भी है। उत्तराध्ययन में वेदनीय के भेदों में क्रोध वेदनीय आदि का उल्लेख है, जो कि कर्मसिद्धान्त के ग्रन्थों में यहाँ तक कि स्वयं उत्तराध्ययन के कर्मप्रकृति नामक अध्ययन में भी अनुपलब्ध है, उक्त साक्ष्यों से ऐसा प्रतीत होता है कि अर्धमागधी आगम साहित्य जैन संघ का, निष्पक्ष इतिहास प्रस्तुत करता है। तथ्यों का यथार्थ रूप में प्रस्तुतीकरण उसकी अपनी विशेषता है। वस्तुतः तथ्यात्मक विविधताओं एवं अन्तर्विरोधों के कारण अर्धमागधी आगम साहित्य के ग्रन्थों के काल क्रम का निर्धारण भी सहज हो जाता है।

अर्धमागधी आगमों में जैनसंघ के इतिहास का प्रामाणिक रूप

यदि हम अर्धमागधी आगमों का समीक्षात्मक दृष्टि से अध्ययन करें, तो हमें यह स्पष्ट हो जाता है कि जैन परम्परा के आचार एवं विचार में देशकालगत परिस्थितियों के कारण कालक्रम में क्या-क्या परिवर्तन हुए इसको जानने का आधार अर्धमागधी आगम ही है, क्योंकि इन परिवर्तनों को समझने के लिए उनमें उन तथ्यों के विकास क्रम को खोजा जा सकता है। उदाहरण के रूप में जैनधर्म में साम्प्रदायिक अभिनिवेश कैसे दृढ़-मूल होता गया, इसकी जानकारी ऋषिभाषित, उत्तराध्ययन, सूत्रकृतांग और भगवती के पन्द्रहवें शतक के समीक्षात्मक अध्ययन से मिल जाती है। ऋषिभाषित में नारद, मंखलिगोशाल, असितदेवल, तारायण, याज्ञवल्क्य, बाहुक आदि ऋषियों को अर्हत् ऋषि कहकर सम्मानित किया गया है। उत्तराध्ययन में भी कपिल, नमि, करकण्डु, नगति, गर्दभाली, संजय आदि का सम्मानपूर्वक स्मरण किया गया और सूत्रकृतांग में इनमें से कुछ को आचारभेद के बावजूद भी परम्परा-सम्मत माना गया। किन्तु ज्ञाताधर्मकथा में नारद की और भगवती के पन्द्रहवें शतक में मंखली गोशाल की समालोचना भी की गई है। इस आधार पर हम कह सकते हैं कि जैन परम्परा में अन्य

परम्पराओं के प्रति उदारता का भाव कैसे परिवर्तित होता गया और साम्प्रदायिक अभिनिवेश कैसे दृढ़मूल होते गये, इसका यथार्थ चित्रण उनमें उपलब्ध हो जाता है। इसी प्रकार आचारांग प्रथम श्रुतस्कन्ध, आचारचूला, दशवैकालिक, निशीथ आदि छेदसूत्र तथा उनके भाष्य और चूर्णियों के अध्ययन से यह स्पष्ट होता है कि जैनाचार में कालक्रम में क्या-क्या परिवर्तन हुआ है। इसी प्रकार ऋषिभाषित उत्तराध्ययन, भगवती, ज्ञाताधर्मकथा आदि के अध्ययन से स्पष्ट होता है कि पार्श्वपत्नों का महावीर के संघ पर क्या प्रभाव पड़ा और दोनों के बीच सम्बन्धों में कैसे परिवर्तन होता गया। इसी प्रकार के अनेक प्रश्न, जिनके कारण आजका जैन समाज साम्प्रदायिक कठघरों में बन्द है, अर्धमागधी आगमों के निष्पक्ष अध्ययन के माध्यम से सुलझाये जा सकते हैं। शौरसेनी आगमों में मात्र मूलाचार और भगवतीआराधना को, जो अपनी विषय-वस्तु के लिये अर्धमागधी आगम साहित्य के ऋणी हैं, इस कोटि में रखा जा सकता है, किन्तु शेष आगमतुल्य शौरसेनी ग्रन्थ जैनधर्म को सीमित घेरों में आबद्ध ही करते हैं।

अर्धमागधी-आगम शौरसेनी-आगम और परवर्ती महाराष्ट्री व्याख्या साहित्य के आधार

अर्धमागधी-आगम शौरसेनी आगम और महाराष्ट्री आगमिक व्याख्या साहित्य के आधार रहे हैं। अर्धमागधी आगमों की व्याख्या के रूप में क्रमशः निर्युक्ति, भाष्य, चूर्णि, वृत्ति, टब्बा आदि लिखे गये हैं, ये सभी जैनधर्म एवं दर्शन के प्राचीनतम स्रोत हैं। यद्यपि शौरसेनी आगम और व्याख्या साहित्य में चिन्तन के विकास के साथ-साथ देश, काल और सहगामी परम्पराओं के प्रभाव से बहुत कुछ ऐसी सामग्री भी है, जो उनकी अपनी मौलिक कह जा सकती है फिर भी अर्धमागधी आगमों को उनके अनेक ग्रन्थों के मूलस्रोत के रूप में स्वीकार किया जा सकता है। मात्र मूलाचार में ही तीन सौ से अधिक गाथाएँ उत्तराध्ययन, दशवैकालिक, आवश्यकनिर्युक्ति, जीवसमास, आतुरप्रत्याख्यान, चन्द्रवेध्यक (चन्द्रवेज्जय) आदि में उपलब्ध होती है। इसी प्रकार भगवतीआराधना में भी अनेक गाथायें अर्धमागधी आगम और विशेष रूप से प्रकीर्णकों (पड़न्ना) से मिलती है। षट्खण्डागम और प्रज्ञापना में भी जो समानताएँ परिलक्षित होती हैं, उनकी विस्तृत चर्चा पण्डित दलसुखभाई मालवणिया ने (प्रो. ए.एन. उपाध्ये व्याख्यानमाला में) की है। नियमसार की कुछ गाथाएँ अनुयोगद्वार एवं इतर आगमों में भी पाई जाती हैं, जबकि समयसार आदि कुछ ऐसे शौरसेनी आगम ग्रन्थ भी हैं, जिनकी मौलिक रचना का श्रेय उनके कर्ताओं को ही है। तिलोपपन्नति का प्राथमिक रूप विशेष रूप से आवश्यकनिर्युक्ति तथा कुछ प्रकीर्णकों के आधार पर तैयार हुआ था, यद्यपि बाद में उसमें पर्याप्त रूप से परिवर्तन और परिवर्धन किया गया है। इस प्रकार शौरसेनी आगमों के निष्पक्ष अध्ययन से यह बात स्पष्ट हो जाती है कि उनका मूल आधार अर्धमागधी आगम साहित्य ही रहा है तथापि उनमें जो सैद्धान्तिक गहराईयें और विकास परिलक्षित होते हैं, वे उनके रचनाकारों की मौलिक देन है।

अर्धमागधी आगमों का कर्तृत्व अज्ञात

अर्धमागधी आगमों में प्रज्ञापना, दशवैकालिक और छेदसूत्रों के कर्तृत्व छोड़कर शेष के

रचनाकारों के सम्बन्ध में हमें कोई स्पष्ट जानकारी प्राप्त नहीं होती है। यद्यपि दशवैकालिक आर्य शयम्भवसूरि की, तीन छेदसूत्र आर्यभट्टबाहु की और प्रज्ञापना श्यामाचार्य की कृति मानी जाती है, महानिशीथ का उसकी दीमकों से भक्षित प्रति के आधार पर आचार्य हरिभद्र ने समुद्धार किया था, यह स्वयं उसी में उल्लेखित है, तथापि अन्य आगमों के कर्ताओं के बारे में हम अन्धकार में ही हैं। सम्भवतः उसका मूल कारण यह रहा होगा कि सामान्यजन में इस बात का पूर्ण विश्वास बना रहे कि अर्धमागधी आगम गणधरो अथवा पूर्वधरो की कृति है, इसलिये कर्ताओं ने अपने नाम का उल्लेख नहीं किया। यह वैसी ही स्थिति है जैसी हिन्दू पुराणों के कर्ता के रूप में केवल वेद व्यास को जाना जाता है। यद्यपि वे अनेक आचार्यों की और पर्याप्त परवर्तीकाल की रचनाएँ हैं।

इसके विपरीत शौरसेनी आगमों की मुख्य विशेषता यह है कि उनमें सभी ग्रन्थों का कृत्तृत्व सुनिश्चित है। यद्यपि उनमें भी कुछ परिवर्तन और प्रक्षेप परवर्ती आचार्यों ने किये हैं। फिर भी इस सम्बन्ध में उनकी स्थिति अर्धमागधी आगम की अपेक्षा काफी स्पष्ट है। अर्धमागधी आगमों में तो यहाँ तक भी हुआ है कि कुछ विलुप्त कृतियों के स्थान पर पर्याप्त परवर्ती काल में दूसरी कृति ही रख दी गई। इस सम्बन्ध में प्रश्नव्याकरण की सम्पूर्ण विषय-वस्तु के परिवर्तन की चर्चा पूर्व में ही की जा चुकी है। अभी-अभी अंगचूलिया और बंगचूलिया नामक दो विलुप्त आगमों का पता चला, ये भोगीलाल लेहरचन्द भारतीय संस्कृति विद्यामन्दिर में उपलब्ध है, जब इनका अध्ययन किया गया तो पता चला कि वे लोकाशाह के पश्चात् अर्थात् सोलहवीं या सत्रहवीं शताब्दी में किसी अज्ञात आचार्य ने बनाकर रख दिये हैं। यद्यपि इससे यह निष्कर्ष भी नहीं निकाल लेना चाहिए कि यह स्थिति सभी अर्धमागधी आगमों की है। सत्य तो यह है कि उनके प्रक्षेपों और परिवर्तनों को आसानी से पहचाना जा सकता है, जबकि शौरसेनी आगमों में हुए प्रक्षेपों को जानना जटिल है।

आगमों की विषय-वस्तु के सम्बन्ध में जिस अतिशयता की चर्चा परवर्ती आचार्यों ने की है, वह उनके कथन की विश्वसनीयता पर प्रश्न चिन्ह उपस्थित करती है। हमारी श्रद्धा और विश्वास चाहे कुछ भी हो किन्तु तर्क, बुद्धि और गवेषणात्मक दृष्टि से तो ऐसा प्रतीत होता है कि आगम साहित्य की विषय-वस्तु को बढ़ा-चढ़ाकर बताया गया। यह कहना कि आचारांग के आगे प्रत्येक अंग ग्रन्थ की श्लोक संख्या एक दूसरे से क्रमशः द्विगुणित रही थी अथवा 14वें पूर्व की विषय-वस्तु इतनी थी कि उसे चौदह हाथियों के बराबर स्याही से लिखा जा सकता था, विश्वास की वस्तु हो सकती है, किन्तु बुद्धिगम्य नहीं है।

अन्त में विद्वानों से मेरी यह अपेक्षा है कि वे आगमों और विशेष रूप से अर्धमागधी आगमों का अध्ययन श्वेताम्बर, दिगम्बर, मूर्तिपूजक, स्थानकवासी या तेरापंथी दृष्टि से न करें अपितु इन साम्प्रदायिक अभिनिवेशों से ऊपर उठकर करें, तभी हम उनके माध्यम से जैनधर्म के प्राचीन स्वरूप का यथार्थ दर्शन कर सकेंगे और प्रामाणिक रूप से यह भी समझ सकेंगे कि कालक्रम में उनमें कैसे और क्या परिवर्तन हुए हैं। आज आवश्यकता है पं. बेचरदासजी जैसी निष्पक्ष एवं तटस्थ बुद्धि से उनके अध्ययन की। अन्यथा दिगम्बर को उसमें वस्त्रसम्बन्धी उल्लेख प्रक्षेप

लोगों, तो श्वेताम्बर सारे वस्त्रपात्र के उल्लेखों को महावीरकालीन मानने लगेगा और दोनों ही यह नहीं समझ सकेंगे कि वस्त्र-पात्र का क्रमिक विकास किन परिस्थितियों और कैसे हुआ है ? इस सम्बन्ध में निर्वृत्ति भाष्य, चूर्णि और टीका का अध्ययन आवश्यक है क्योंकि ये इनके अध्ययन की कुंजिया हैं। शौरसेनी और अर्धमागधी आगमों का तुलनात्मक अध्ययन भी उनमें निहित सत्य को यथार्थ रूप से आलोकित कर सकेगा। आशा है युवा-विद्वान् मेरी इस प्रार्थना पर ध्यान देंगे।

जैन आगम साहित्य का परिचय देने के उद्देश्य से सम्प्रतिकाल में अनेक प्रयत्न हुए हैं। सर्वप्रथम पाश्चात्य विद्वानों में हर्मन जेकोबी शूब्रिंग, विन्टरनित्ज आदि ने अपनी भूमिकाओं एवं स्वतन्त्र निबन्धों में इस पर प्रकाश डाला। इस दिशा में अंग्रेजी में सर्वप्रथम हीरालाल रासिकलाल कापडिया ने A History of the Cononical Literature of the Jainas नामक पुस्तक लिखी। यह ग्रन्थ अत्यन्त शोधपरक दृष्टि से लिखा गया और आज भी एक प्रमाणिक ग्रन्थ के रूप में मान्य किया जाता है। इसके पश्चात् प्रो. जगदीशचन्द्र जैन का ग्रन्थ 'प्राकृत साहित्य का इतिहास' भी इस क्षेत्र में दूसरा महत्त्वपूर्ण ग्रन्थ है। पार्श्वनाथ विद्याभ्रम शोध संस्थान की जैन साहित्य का बृहद् इतिहास योजना के अन्तर्गत प्रकाशित प्रथम तीनों खण्डों में प्राकृत आगम साहित्य का विस्तृत विवरण उपलब्ध होता है। इसी दिशा में आचार्य देवेन्द्रमुनिशास्त्री की पुस्तक जैनागम मनन ओर मीमांसा भी एक महत्त्वपूर्ण कृति है। मुनि नाराजजी की पुस्तक जैनागम और पाली-त्रिपिटक भी तुलनात्मक अध्ययन की दृष्टि से महत्त्वपूर्ण है। पं. कैलाशचन्द्रजी द्वारा लिखित जैन साहित्य के इतिहास की पूर्व पीठिका में अर्धमागधी आगम साहित्य का और उसके प्रथम भाग में शौरसेनी आगम साहित्य का उल्लेख हुआ है किन्तु उसमें निष्पक्ष दृष्टि का निर्वाह नहीं हुआ है और अर्धमागधी आगम साहित्य के मूल्य और महत्त्व को सम्यक् प्रकार से नहीं समझा गया है।

पूज्य आचार्य श्री जयन्तसेनसूरिजी ने प्रस्तुत कृति की सृजना जन-साधारण को आगम साहित्य की विषय-वस्तु का परिचय देने के उद्देश्य की है, किन्तु जब मैंने इस कृति को देखा तो मुझे लगा कि उन्होंने पूरी प्रामाणिकता के साथ संशोधनात्मक दृष्टि का भी निर्वाह किया है, जो उनकी सहज विद्वत्ता की परिचायक है। साथ ही उन्होंने इसके लेखन में अपने को साम्प्रदायिक अभिनिवेश से भी मुक्त रखा है, इससे उनकी उदार एवं व्यापक दृष्टि का परिचय भी मिल जाता है। प्रस्तुत कृति बारह अध्यायों में विभक्त है। प्रथम तीन अध्याय अर्धमागधी आगमों के महत्त्व, प्रमाण्य, वर्गीकरण एवं रचनाकाल का उल्लेख करते हैं। इस चर्चा में आचार्य श्री ने पूर्णतः अन्वेषक दृष्टि का निर्वाह किया है। अध्याय क्रमांक चार से सात तक चार अध्यायों में आगमों की विषय-वस्तु का विवरण दिया गया है। आठवाँ अध्याय आगमिक व्याख्या साहित्य से सम्बन्धित है। नवें अध्याय में आगम में वर्णित समाज-व्यवस्था का, दसवें में शासन-व्यवस्था का, ग्यारहवें में अर्थ-व्यवस्था का और बारहवें में धर्म-व्यवस्था का चित्रण है। ये अन्तिम चार अध्याय सामान्य पाठक द्वारा आगमों के मूल्य एवं महत्त्व को समझने में अति सहायक है। आशा है, पाठकागण इस कृति के पठन से आगमों के विषय का सहज ही

रसास्वादन कर सकेंगे। इस हेतु हम आचार्यश्री के आभारी रहेंगे कि उन्होंने आगमों की विषय-वस्तु को सहज और बोधगम्य रूप में हमारे सामने प्रस्तुत किया है। मैं व्यक्तिगत रूप से भी आचार्यश्री का आभारी हूँ कि उन्होंने भूमिका लिखने के माध्यम से मुझे आगम-साहित्य के आलोडन का सहज अवसर दिया।

✽ प्रो. सागरमल जैन, पार्श्वनाथ शोधपीठ, वाराणसी

प्राचीन जैनागमों में चार्वाक दर्शन का प्रस्तुतीकरण एवं समीक्षा

- प्रो. सागरमल जैन

चार्वाक या लोकायत दर्शन का भारतीय दार्शनिक चिन्तन में भौतिकवादी दर्शन के रूप में विशिष्ट स्थान है। भारतीय चिन्तन में भौतिकवादी जीवन दृष्टि की उपस्थिति के प्रमाण अति प्राचीन काल से ही उपलब्ध होने लगते हैं। भारत की प्रत्येक धार्मिक एवं दार्शनिक चिन्तन धारा ने उसकी समालोचना की है। जैन धार्मिक एवं दार्शनिक साहित्य में महावीर के युग से लेकर आज तक लगभग 2500 वर्ष की सुदीर्घ कालावधि में इस विचारधारा का प्रस्तुतीकरण एवं समालोचना होती रही है। इस समग्र विस्तृत चर्चा को प्रस्तुत निबन्ध में समेट पाना सम्भव नहीं है, अतः हम प्राकृत आगम साहित्य तक ही अपनी इस चर्चा को सीमित रखेंगे।

इस प्राचीनतम प्राकृत आगम साहित्य में मुख्यतया 'आचारंग', 'सूत्रकृतांग', 'उत्तराध्ययन' और 'ऋषिभाषित' को समाहित किया जा सकता है। ये सभी ग्रन्थ ई० पू० पाँचवीं शती से लेकर तीसरी के बीच निर्मित हुए हैं, ऐसा माना जाता है।¹ इसके अतिरिक्त उपांग साहित्य के एक ग्रन्थ 'राजप्रश्नीय' को भी हमने इस चर्चा में समाहित किया है। इसका कारण यह है कि 'राजप्रश्नीय' का वह भाग जो चार्वाक दर्शन का प्रस्तुतीकरण और समीक्षा करता है एक तो चार्वाक दर्शन की स्थापना एवं समीक्षा दोनों ही दृष्टि से अति समृद्ध है, दूसरे अतिप्राचीन भी माना जाता है, क्योंकि ठीक इसी चर्चा का बौद्ध त्रिपिटक साहित्य में बुद्ध और राजा पयासी के बीच होने का उल्लेख हमें मिलता है।² जैन परम्परा में इस चर्चा को पार्श्वपत्य परम्परा के महावीर के समकालीन आचार्य केशीकुमार श्रमण और राजा पयासी और बौद्ध त्रिपिटक में पयासी के बीच सम्पन्न हुआ बताया गया है। यद्यपि कुछ जैन आचार्यों ने पयासी का संस्कृत रूप प्रदेशी मान लिया है किन्तु देववाचक, सिद्धसेनगणि, मलयगिरि और मुनिचन्द्रसूरि³ ने राजा प्रसेनजित को ही माना है, जो ऐतिहासिक दृष्टि से अधिक प्रामाणिक लगता है। प्रसेनजित को श्वेताम्बिका (सेयविया) नगरी का राजा बताया गया है जो इतिहास-सिद्ध है। उनका सारथि चित्त केशीकुमार को श्रावस्ती से यहाँ केवल इसीलिये लेकर आया था कि राजा की भौतिकवादी जीवन-दृष्टि को परिवर्तित किया जा सके। 'कथावस्तु' की प्राचीनता, प्रामाणिकता तथा तार्किकता की दृष्टि से ही इसे भी प्रस्तुत विवेचन में समाहित किया गया है।

प्रस्तुत विवेचना में मुख्य रूप से चार्वाक दर्शन के तज्जीवतच्छरीरवाद के एवं परलोक तथा पुण्य-पाप की अवधारणाओं के उसके द्वारा किये गये खण्डनों के प्रस्तुतीकरण के साथ-साथ उनकी इन आगमों में उपलब्ध समीक्षाएँ भी प्रस्तुत की गई हैं। इससे भी 'ऋषिभाषित' (ई० पू० चौथी शती) में भौतिकवादी जीवन-दृष्टि का जो प्रस्तुतीकरण है, वह उपर्युक्त विवरण से कुछ विशिष्ट प्रकार का है। उसमें जो दण्डोक्कल, रज्जूक्कल, स्तेनाक्कल,

देसोक्कल, सव्वोक्कल के नाम से भौतिवादियों के पाँच प्रकारों का उल्लेख है⁴, वह अन्यत्र किसी भी भारतीय साहित्य में उपलब्ध नहीं है। इसी प्रकार 'सूत्रकृतांग' के द्वितीय श्रुतस्कन्ध एवं राजप्रश्नीय में चार्वाक दर्शन की स्थापना और खण्डन दोनों के लिए जो तर्क प्रस्तुत किये गये हैं वे भी महत्त्वपूर्ण कहे जा सकते हैं। इसके अतिरिक्त प्राकृत आगमिक-व्याख्या साहित्य में मुख्यतः 'विशेषावश्यकभाष्य' (छठीं शती) के 'गणधरवाद'⁵ में लगभग 500 गाथाओं में भौतिकवादी चार्वाक दर्शन की विभिन्न अवधारणाओं की जो समीक्षा महावीर और गौतम आदि 11 गणधरों के मध्य हुए वाद-विवाद के रूप में प्रस्तुत की गई है, वह भी दार्शनिक दृष्टि से अति महत्त्वपूर्ण कही जा सकती है। अन्य आगमिक संस्कृत टीकाओं (10वीं-11वीं शती) में भी चार्वाक दर्शन की जैन दार्शनिकों द्वारा की गई समीक्षाओं की दृष्टि से महत्त्वपूर्ण सामग्री उपलब्ध है। इन आगमों की प्राकृत एवं संस्कृत आगमिक व्याख्याओं, यथा-निर्युक्ति, भाष्यचूर्णि, वृत्ति, टीका आदि के अतिरिक्त जैन दार्शनिक ग्रन्थों में भी भौतिकवादी जीवन-दृष्टि की समीक्षाएँ उपलब्ध हैं। किन्तु इन सबको तो किसी एक स्वतन्त्र ग्रन्थ में ही समेटा जा सकता है। अतः इस निबन्ध की सीमा मर्यादाओं का ध्यान रखते हुए हम अपनी विवेचना को पूर्व निर्देशित प्राचीन स्तर के प्राकृत आगमों तक ही सीमित रखेंगे।

‘आचारांग’ में लोकसंज्ञा के रूप में लोकयत दर्शन का निर्देश

जैन आगमों में ‘आचारांग’ का प्रथम श्रुतस्कन्ध अतिप्राचीन माना जाता है। विद्वानों में ऐसी मान्यता है कि इस ग्रन्थ में स्वयं महावीर के वचनों का संकलन हुआ है। इसका रचनाकाल चौथी-पाँचवीं शताब्दी ई० पू० माना जाता है। ‘आचारांग’ में स्पष्ट रूप से लोकायत दर्शन का उल्लेख तो नहीं है किन्तु इस ग्रन्थ की समीक्षा की गई है। सूत्र के प्रारम्भ में कहा गया है कि कुछ लोगों को यह ज्ञात नहीं होता कि मेरी आत्मा औपपातिक (पुनर्जन्म करने वाली) है। मैं कहाँ से आया हूँ और यहाँ से अपना जीवन समाप्त करके कहाँ जन्म ग्रहण करूँगा ? सूत्रकार कहता है कि व्यक्ति को यह जानना चाहिए कि मेरी आत्मा औपपातिक (पुनर्जन्म ग्रहण करने वाली) है जो इन दिशाओं और विदिशाओं में संचरण करती है और वही ‘मैं हूँ, वस्तुतः जो यह जानता है वही आत्मवादी, लोकवादी, कर्मवादी और क्रियावादी है।⁶ इस प्रकार इस ग्रन्थ के प्रारम्भ में चार्वाक दर्शन की मान्यताओं के विरुद्ध चार बातों की स्थापना की गई है -- आत्मवाद, लोकवाद, कर्मवाद और क्रियावाद। आत्मा की स्वतन्त्र और नित्य सत्ता को स्वीकार करना आत्मवाद है। संसार में यथार्थ आत्मा को लोक में जन्म-मरण करने वाला समझना लोकवाद है। शुभाशुभ कर्मों को कर्ता-भोक्ता एवं परिणामी (विकारी) मानना क्रियावाद है। इसी प्रकार आचारांग में लोकसंज्ञा का परित्याग करके इन सिद्धान्तों में विश्वास करने का निर्देश दिया गया है। ज्ञातव्य है कि ‘आचारांग’ में लोकायत या चार्वाक दर्शन का निर्देश “लोक संज्ञा” के रूप में हुआ है।⁷ यद्यपि इसमें इन मान्यताओं की समालोचना तो की गई है किन्तु उसकी कोई तार्किक भूमिका प्रस्तुत नहीं की गई है।

‘सूत्रकृतांग’ में लोकायत दर्शन

‘आचारांग’ के पश्चात् ‘सूत्रकृतांग’ का क्रम आता है। इसके प्रथम श्रुतस्कन्ध को भी

विद्वानों ने अतिप्राचीन (लगभग ई० पू० चौथी शती) माना है। सूत्रकृतांग के प्रथम श्रुतस्कन्ध के प्रथम अध्याय में हमें चार्वाक दर्शन के पंचमहाभूतवाद और तज्जीवतच्छरीरवाद के उल्लेख प्राप्त होते हैं। इसमें पंचमहाभूतवाद को प्रस्तुत करते हुए कहा गया है कि पृथ्वी, अप, तेजस्, वायु और आकाश ऐसे पाँच महाभूत माने गये हैं। उन पाँच महाभूतों से ही प्राणी की उत्पत्ति होती है और देह का विनाश होने पर देही का भी विनाश हो जाता है।⁸ साथ ही यह भी बताया गया है कि व्यक्ति चाहे मूर्ख हो या पण्डित प्रत्येक की अपनी आत्मा होती है जो मृत्यु के बाद नहीं रहती। प्राणी औपपातिक अर्थात् पुर्नजन्म ग्रहण करने वाले नहीं है। शरीर का नाश होने पर देही अर्थात् आत्मा का भी नाश हो जाता है। इस लोक से परे न तो कोई लोक है और न पुण्य और पाप।⁹ इस प्रकार 'सूत्रकृतांग' के प्रथम श्रुतस्कन्ध में चार्वाक दर्शन की मान्यताएँ परिलक्षित नहीं होती हैं। यद्यपि 'सूत्रकृतांग' के द्वितीय श्रुतस्कन्ध में चार्वाक दर्शन की समीक्षा प्रस्तुत की गई है, किन्तु विद्वानों ने उसे किञ्चित् परवर्ती माना है। अतः उसके पूर्व हम 'उत्तराध्ययन' का विवरण प्रस्तुत करेंगे। इसमें चार्वाक दर्शन को जन-श्रद्धा (जन-सद्भि) कहा गया है।¹⁰ सम्भवतः लोक संज्ञा और जन-श्रद्धा, ये लोकायत दर्शन के ही पूर्व नाम हों। 'उत्तराध्ययन' में स्पष्ट रूप से कहा गया है कि ये सांसारिक विषय ही हमारे प्रत्यक्ष के विषय हैं। परलोक को तो हमने देखा ही नहीं। वर्तमान के काम-भोग हस्तगत हैं जबकि भविष्य में मिलने वाले (स्वर्ग-सुख) अनागत अर्थात् संदिग्ध हैं। कौन जानता है कि परलोक है भी या नहीं ? इसलिए मैं तो जन-श्रद्धा के साथ होकर रहूँगा।¹¹ इस प्रकार उत्तराध्ययन के पंचम अध्याय में चार्वाकों की पुर्नजन्म के निषेध की अवधारणा का उल्लेख एवं खण्डन किया गया है। इसी प्रकार उत्तराध्ययन के चौदहवें अध्याय में भी चार्वाकों के असत् से सत् की उत्पत्ति के सिद्धान्त का प्रस्तुतीकरण किया गया है। क्योंकि चार्वाकों का पंचमहाभूत से चेतना की उत्पत्ति का सिद्धान्त वस्तुतः असत् से सत् की उत्पत्ति का सिद्धान्त है। यद्यपि 'उत्तराध्ययन' में असत्कार्यवाद का जो उदाहरण प्रस्तुत किया गया है, वह असत्कार्यवाद के पक्ष में न जाकर सत्कार्यवाद के पक्ष में ही जाता है। उसमें कहा गया है कि जैसे -- अरणि में अग्नि, दूध में घृत और तिल में तेल असत् होकर भी उत्पन्न होता है, उसी प्रकार शरीर में जीव भी असत् होकर ही उत्पन्न होता है और उस शरीर का नाश हो जाने पर वह भी नष्ट हो जाता है।¹² सम्भवतः 'उत्तराध्ययन' में चार्वाकों के असत्कार्यवाद की स्थापना के पक्ष में ये सत्कार्यवाद की सिद्धि करने वाले उदाहरण इसीलिये दिये गये हों कि इनकी समालोचना सरलतापूर्वक की जा सके। 'उत्तराध्ययन' में आत्मा को अमूर्त होने के कारण इन्द्रिय ग्राह्य नहीं माना गया है, अमूर्त होने से नित्य कहा गया है।¹³ उपरोक्त विवरण से चार्वाकों के सन्दर्भ में निम्नलिखित जानकारी मिलती है--

1. चार्वाक दर्शन को "लोक-संज्ञा" और "जन-श्रद्धा" के नाम से अभिहित किया जाता था।

2. चार्वाक दर्शन आत्मा को स्वतन्त्र तत्त्व नहीं मानता था। वह पंचमहाभूतों से चेतना की उत्पत्ति बताता था।

3. इसी कारण वह असत्कार्यवाद अर्थात् असत् से सत् की उत्पत्ति के सिद्धान्त को स्वीकार करता था।

4. शरीर के नाश के साथ आत्मा के विनाश को स्वीकार तथा पुनर्जन्म के सिद्धान्त को अस्वीकार करता था। पुनर्जन्म की अस्वीकृति के साथ-साथ वह परलोक अर्थात् स्वर्ग-नरक की सत्ता को भी अस्वीकृत करता था।

5. वह पुण्य पाप अर्थात् शुभाशुभ कर्मों के शुभाशुभ फलों को भी अस्वीकार करता था, अतः कर्म सिद्धान्त का विरोधी था।

6. उस युग में दार्शनिकों का एक वर्ग अक्रियावाद का समर्थक था। जैनों के अनुसार अक्रियावादी वे दार्शनिक थे, जो आत्मा को अकर्ता और कूटस्थनित्य मानते थे। आत्मवादी होकर भी शुभाशुभ कर्मों के शुभाशुभ फल (कर्म सिद्धान्त) के निषेधक होने से ये प्रच्छन्न चार्वाकी ही थे। इस प्रकार आचारांग, सूत्रकृतांग और उत्तराध्ययन में चार्वाक दर्शन के जो उल्लेख हमें उपलब्ध होते हैं, वे मात्र उसकी अवधारणाओं को संक्षेप में प्रस्तुत करते हैं। उनमें इस दर्शन की मान्यताओं से साधक को विमुख करने के लिए इतना तो अवश्य कहा गया है कि यह विचारधारा समीचीन नहीं है। किन्तु इन ग्रन्थों में चार्वाक दर्शन की मान्यताओं का प्रस्तुतीकरण और निरसन दोनों ही न तो तार्किक है और न विस्तृत।

‘ऋषिभाषित’ में प्रस्तुत चार्वाक दर्शन¹⁴

ऋषिभाषित का बीसवाँ "उक्कल" नामक सम्पूर्ण अध्ययन ही चार्वाक दर्शन की मान्यताओं और तज्जीवतच्छरीरवाद का तार्किक प्रस्तुतीकरण इस प्रकार करता है--

जीव "पादतल से ऊपर से मस्तक के केशाग्र से नीचे तथा सम्पूर्ण शरीर की त्वचापर्यन्त आत्मपर्याय को प्राप्त हो जीवन जीता है और इतना ही मात्र जीवन है। जिस प्रकार बीज के भुन जाने पर उससे पुनः अंकुर की उत्पत्ति नहीं होती है, उसी प्रकार शरीर के दग्ध हो जाने पर उससे पुनः शरीर की उत्पत्ति नहीं होती। इसीलिए जीवन इतना ही है (अर्थात् शरीर की उत्पत्ति से विनाश तक की कालावधि पर्यन्त ही जीवन है)। न तो परलोक है न सुकृत और दुष्कृत कर्मों का फल विपाक है। जीव का पुनर्जन्म भी नहीं होता है। पुण्य और पाप जीव का संस्पर्श नहीं करते और इस तरह कल्याण और पाप निष्फल हैं।" 'ऋषिभाषित' में चार्वाकों की इस मान्यता की समीक्षा करते हुए पुनः कहा गया है कि "पादतल से ऊपर तथा मस्तक के केशाग्र से नीचे और शरीर की सम्पूर्ण त्वचा पर्यन्त आत्मपर्याय को प्राप्त यह जीव है, यह मरण शील है, किन्तु जीवन इतना ही नहीं है। जिस प्रकार बीज के जल जाने पर उससे पुनः उत्पत्ति नहीं होती उसी प्रकार शरीर के दग्ध हो जाने पर भी उससे पुनः उत्पत्ति नहीं होती। इसलिए पुण्य-पाप का अग्रहण होने से सुख-दुख की सम्भावना का अभाव हो जाता है और पाप कर्म के अभाव में शरीर के दहन से शरीर के दग्ध होने पर पुनः शरीर की उत्पत्ति नहीं होती अर्थात् पुनर्जन्म नहीं होता। इस प्रकार व्यक्ति मुक्ति प्राप्त कर लेता है। यहाँ हम देखते हैं कि ग्रन्थकार चार्वाकों के उनके ही तर्क का उपयोग करके यह सिद्ध कर देता है कि

पुण्य-पाप से ऊपर उठकर व्यक्ति पुनर्जन्म के चक्र से मुक्ति पा लेता है।

इस ग्रन्थ में चार्वाक दर्शन के सन्दर्भ में सबसे महत्त्वपूर्ण बात यह है कि इसमें कर्म-सिद्धान्त का उल्थापन करने वाले चार्वाकों के पाँच प्रकारों का उल्लेख हुआ है और ये प्रकार अन्य दार्शनिक ग्रन्थों में मिलने वाले देहात्मवाद इन्द्रियात्मवाद, मनःआत्मवाद आदि प्रकारों से भिन्न हैं और सम्भवतः अन्यत्र कहीं उपलब्ध नहीं होते हैं। इसमें निम्न पाँच प्रकार के उक्कलों का उल्लेख है -- दण्डोक्कल, रज्जुक्कल, स्तेनोक्कल, देशोक्कल और सव्वुक्कल।¹⁵ इस प्रसंग में सबसे पहले तो यही विचारणीय है कि उक्कल शब्द का वास्तविक अर्थ क्या है ? प्राकृत के उक्कल शब्द को संस्कृत में निम्न चार शब्दों से निष्पन्न माना जा सकता है -- उत्कट, उत्कल, उत्कुल और उत्कूल। संस्कृत कोशों में उत्कट शब्द का अर्थ उन्मत्त दिया गया है। चार्वाक दर्शनानुसार अध्यात्मवादियों की दृष्टि से उक्कल का संस्कृत रूप उत्कट मानना उचित नहीं है। उसके स्थान पर उत्कल, उत्कूल या उत्कुल मानना अधिक समीचीन है। उत्कल का अर्थ है जो निकाला गया हो, इसी प्रकार उत्कुल शब्द का तात्पर्य है जो कुल से निकाला गया है या जो कुल से बहिष्कृत है।¹⁶ चार्वाकगण आध्यात्मिक परम्पराओं से बहिष्कृत माने जाते थे, इसी दृष्टि से उन्हें उत्कल या उत्कुल कहा गया होगा।

यदि हम इसे उत्कूल से निष्पन्न मानें तो इसका अर्थ होगा किनारे से अलग हटा हुआ। "कूल" शब्द किनारा अर्थ में प्रयुक्त होता है, अर्थात् जो किनारे से अलग होकर अर्थात् मर्यादाओं को तोड़कर अपना प्रतिपादन करता है वह उक्कल है चूँकि चार्वाक नैतिक मर्यादाओं को अस्वीकार करते थे अतः उन्हें उत्कूल कहा गया होगा। अब हम इन उक्कलों के पाँच प्रकारों की चर्चा करेंगे--

(i) दण्डोक्कल

ये विचारक दण्ड के दृष्टांत द्वारा यह प्रतिपादित करते थे कि जिस प्रकार दण्ड के आदि, मध्य और अन्तिम भाग पृथक्-पृथक् होकर दण्ड संज्ञा को प्राप्त नहीं होता है उसी प्रकार शरीर से भिन्न होकर जीव, जीव नहीं होता है। अतः शरीर के नाश हो जाने पर भव अर्थात् जन्म-परम्परा का भी नाश हो जाता है। उनके अनुसार सम्पूर्ण शरीर में व्याप्त होकर जीव जीवन को प्राप्त होता है।¹⁷ वस्तुतः शरीर और जीवन की अपृथक्ता या सामुदायिकता ही इन विचारकों की मूलभूत दार्शनिक मान्यता थी। दण्डोक्कल देहात्मवादी थे।

(ii) रज्जुक्कल

रज्जुक्कलवादी यह मानते हैं कि जिस प्रकार रज्जु तन्तुओं का समुदाय मात्र है उसी प्रकार जीव भी पंचमहाभूतों का स्कन्ध मात्र है। उन स्कन्धों के विच्छिन्न होने पर भव-सन्तति का भी विच्छेद हो जाता है।¹⁸ वस्तुतः ये विचारक पंचमहाभूतों के समूह का ही जगत् का मूल तत्त्व मानते थे और जीव को स्वतन्त्र तत्त्व के रूप में स्वीकार नहीं करते थे। रज्जुक्कल स्कन्धवादी थे।

(iii) स्तेनोक्कल

'ऋषिभाषित' के अनुसार स्तेनोक्कल भौतिकवादी अन्य शास्त्रों के दृष्टान्तों को लेकर उनकी स्वपक्ष में उद्भावना करके यह कहते थे कि यह हमारा कथन है।¹⁹ इस प्रकार ये दूसरों के सिद्धान्तों का उच्छेद करते हैं। परपक्ष के दृष्टान्तों का स्वपक्ष में प्रयोग के तात्पर्य सम्भवतः वाद-विवाद में "छल" का प्रयोग हो। सम्भवतः स्तेनोक्कल या तो नैयायिकों के कोई पूर्व रूप रहे होंगे या संजयवेलट्ठीपुत्र के सिद्धान्त का यह प्राचीन कोई विधायक रूप था, जो सम्भवतः आगे चलकर जैनों के अनेकान्तवाद का आधार बना हो। ज्ञातव्य है कि ऋषिभाषित में देहात्मवादियों के तर्कों से मुक्ति की प्रक्रिया का प्रतिपादन किया गया है।

(iv) देशोक्कल

'ऋषिभाषित' में जो आत्मा के अस्तित्व को सिद्ध करके भी जीव को अकर्ता मानते थे उन्हें देशोक्कल कहा गया है।²⁰ आत्मा को अकर्ता मानने पर पुण्य-पाप, बन्धन-मोक्ष की व्यवस्था नहीं बन पाती है। इसलिए इस प्रकार के विचारकों को भी आंशिक रूप से उच्छेदवादी ही कहा गया है, क्योंकि पुण्य-पाप, सम्भवतः 'ऋषिभाषित' ही एक ऐसा ग्रन्थ है जो आत्म अकर्तावादियों को उच्छेदवादी कहता है। वस्तुतः ये सांख्य और औपनिषदिक वेदान्त के ही पूर्व रूप थे। जैन उन्हें उत्कूल या उच्छेदवादी इसलिए मानते थे कि इन मान्यताओं से लोकवाद (लोक की यथार्थता) कर्मवाद (कर्म सिद्धान्त) और आत्म कर्तावाद (क्रियावाद) का खण्डन होता था।

(v) सव्वुक्कल

सर्वोत्कूल सर्वदा अभाव से ही सबकी उत्पत्ति बताते थे। ऐसा कोई भी तत्त्व नहीं है जो सर्वथा सर्व प्रकार से सर्वकाल से रहता हो। इस प्रकार ये सर्वोच्छेदवाद की संस्थापना करते थे।²¹ दूसरे शब्दों में जो लोग समस्त सृष्टि के पीछे किसी नित्य तत्त्व को स्वीकार नहीं करते थे और अभाव से ही सृष्टि की उत्पत्ति मानते थे वे कहते थे कि कोई भी तत्त्व ऐसा नहीं है जो सर्वथा और सर्वकालों में अस्तित्व रखता हो। संसार के मूल में किसी भी सत्ता को अस्वीकार करने के कारण ये सर्वोच्छेदवादी कहलाते थे। सम्भवतः यह बौद्ध ग्रन्थों में सूचित उच्छेदवादी दृष्टि का कोई प्राचीनतम रूप था जो तार्किकता से युक्त होकर बौद्धों के शून्यवाद के रूप में विकसित हुआ होगा।

इस प्रकार 'ऋषिभाषित' में आत्मा, पुनर्जन्म, धर्म-व्यवस्था एवं कर्म-सिद्धान्त के अपलापक विचारकों का जो चित्रण उपलब्ध होता है उसे संक्षेप में इस प्रकार रखा जा सकता है --

1. ग्रन्थकार उपरोक्त विचारकों को "उक्कल" नाम से अभिहित करता है जिसके संस्कृत रूप उत्कूल, उत्कुल अथवा उत्कूल होते हैं, नाम देता है जिनके अर्थ होते हैं बहिष्कृत या मर्यादा का उल्लंघन करने वाला, इन विचारकों के सम्बन्ध में इस नाम का अन्यत्र कहीं प्रयोग हुआ है ऐसा हमें ज्ञात नहीं होता।

2. इसमें इन विचारकों के पाँच वर्ग बताये गये हैं -- दण्डोत्कल, रज्जुत्कल, स्तेनोत्कल, देशोत्कल और सर्वोत्कल। विशेषता यह है कि इसमें स्कन्धवादियों (बौद्ध स्कन्धवाद का पूर्व रूप) सर्वोच्छेदवादियों (बौद्ध शून्यवाद का पूर्व रूप) और आत्म-अकर्तावादियों (अक्रियावादियों-सांख्य और वेदान्त का पूर्व रूप) को भी इसी वर्ग में सम्मिलित किया गया है क्योंकि ये सभी कर्म सिद्धान्त एवं धर्म व्यवस्था के अपलापक माने गये हैं। यद्यपि आत्म-अकर्तावादियों को देशोत्कल कहा गया है अर्थात् आंशिक रूप से अपलापक कहा गया है।

3. इसमें शरीर पर्यन्त आत्म-पर्याय मानने का जो सिद्धान्त प्रस्तुत किया गया है वही जैनों द्वारा आत्मा को देह परिमाण मानने के सिद्धान्त का पूर्व रूप प्रतीत होता है, क्योंकि इस ग्रन्थ में शरीरात्मवाद के निराकरण के समय इस कथन के स्वपक्ष में भी प्रस्तुत किया गया है। इस प्रकार इसमें जैन, बौद्ध और सांख्य तथा औपनिषदिक वेदान्त की दार्शनिक मान्यताओं के पूर्व रूप या बीज परिलक्षित होते हैं। कहीं ऐसा तो नहीं है कि इन मान्यताओं को सुसंगत बनाने के प्रयास में ही इन दर्शनों का उदय हुआ हो।

4. इसमें जो देहात्मवाद का निराकरण किया गया है वह ठोस तार्किक आधारों पर स्थित नहीं है। मात्र यह कह दिया गया है कि जीव का जीवन शरीर की उत्पत्ति और विनाश की काल सीमा तक सीमित नहीं है।

‘सूत्रकृतांग’ (द्वितीय श्रुतस्कन्ध) में चार्वाक दर्शन का प्रस्तुतीकरण एवं समीक्षा²²

चार्वाकों अथवा तज्जीवतच्छरीरवादियों के पक्ष का तार्किक दृष्टि से प्रस्तुतीकरण और उसकी तार्किक समीक्षा का प्रयत्न जैन आगम साहित्य में सर्वप्रथम ‘सूत्रकृतांग’ के द्वितीय पौंडिक नामक अध्ययन में और उसके पश्चात् ‘राजप्रशनीयसूत्र’ में उपलब्ध होता है। अब हम ‘सूत्रकृतांग’ द्वितीय श्रुतस्कन्ध के आधार पर तज्जीवतच्छरीरवादियों के पक्ष का प्रस्तुतीकरण और उसकी समीक्षा प्रस्तुत करेंगे।

तज्जीवतच्छरीरवादी यह प्रतिपादित करते हैं कि पादतल से ऊपर मस्तक के केशों के अग्रभाग से नीचे तथा समस्त त्वक्पर्यन्त जो शरीर है वही जीव है। इस शरीर के जीवित रहने तक ही यह जीव जीवित रहता है और शरीर के नष्ट हो जाने पर नष्ट हो जाता है। इसलिए शरीर के अस्तित्वपर्यन्त ही जीवन का अस्तित्व है। इस सिद्धान्त को युक्तियुक्त समझना चाहिए। क्योंकि जो लोग युक्तिपूर्वक यह प्रतिपादित करते हैं कि शरीर अन्य है और जीव अन्य है, वे जीव और शरीर को पृथक्-पृथक् करके नहीं दिखा सकते। वे यह भी नहीं बता सकते कि आत्मा दीर्घ है या ह्रस्व है। वह परिमण्डलाकार अथवा गोल है। वह किस वर्ण और किस गन्ध से युक्त है अथवा वह भारी है, हल्का है, स्निग्ध है या रुक्ष है। अतः जो लोग जीव और शरीर को भिन्न नहीं मानते उनका ही मत युक्तिसंगत है क्योंकि जीव और शरीर को निम्नोक्त पदार्थों की तरह पृथक्-पृथक् करके नहीं दिखाया जा सकता, यथा --

1. तलवार और म्यान की तरह, 2. मुंज और इषिका की तरह, 3. मांस और

हड्डी की तरह, 4. हथेली और आँवले की तरह, 5. दही और मक्खन की तरह, 6. तिल की खली और तेल की तरह, 7. ईख के रस और उसके छिलके की तरह एवं 8. अरणि की लकड़ी और आग की तरह।

इस प्रकार जैनागमों के प्रस्तुत ग्रन्थ में ही सर्वप्रथम देहात्मवादियों के दृष्टिकोण को तार्किक रूप से प्रस्तुत करने का प्रयत्न किया गया है। पुनः उनकी देहात्मवादी मान्यता के आधार पर उनकी नीति सम्बन्धी अवधारणाओं को निम्न शब्दों में प्रस्तुत किया गया है--

यदि शरीर मात्र ही जीव है तो परलोक नहीं है। इसी प्रकार क्रिया, अक्रिया, सुकृत, दुष्कृत, कल्याण, पाप, भला-बुरा, सिद्धि-असिद्धि, स्वर्ग-नरक आदि भी नहीं है। अतः प्राणियों के वध करने, भूमि को खोदने, वनस्पतियों को काटने, अग्नि को जलाने, भोजन पकाने आदि क्रियाओं में भी कोई पाप नहीं है।

प्रस्तुत ग्रन्थ में देहात्मवाद की युक्तियुक्त समीक्षा न करके मात्र यह कहा गया है कि ऐसे लोग हमारा ही धर्म सत्य है ऐसा प्रतिपादन करते हैं और श्रमण होकर भी सांसारिक भोग विलासों में फँस जाते हैं।

इसी अध्याय में पुनः पंचमहाभूतवादियों तथा पंचमहाभूत और छठा आत्मा मानने वाले सांख्यों का भी उल्लेख हुआ है। प्रस्तुत ग्रन्थ की सूचना के अनुसार पंचमहाभूतवादी स्पष्ट रूप से यह मानते थे कि इस जगत् में पंचमहाभूत ही सब कुछ है। जिनसे हमारी क्रिया-अक्रिया, सुकृत-दुष्कृत, कल्याण-पाप, अच्छा-बुरा, सिद्धि-असिद्धि, नरक गति या नरक के अतिरिक्त अन्यगति, अधिक कहाँ तक कहें तिनके के हिलने जैसी क्रिया भी (इन्हीं पंचमहाभूतों से) होती है।

उस भूत समवाय (समूह) को पृथक्-पृथक् नाम से जानना चाहिए जैसे कि पृथ्वी एक महाभूत है, जल दूसरा महाभूत है, तेज तीसरा महाभूत है, वायु चौथा महाभूत है और आकाश पाँचवा महाभूत है। ये पाँच महाभूत किसी कर्ता के द्वारा निर्मित नहीं हैं न ही ये किसी कर्ता द्वारा बनवाये हुए हैं, ये किये हुए नहीं हैं न ही ये कृत्रिम हैं और न ये अपनी उत्पत्ति के लिए किसी की अपेक्षा रखते हैं। ये पाँचों महाभूत आदि एवं अन्त रहित है, तथा अवन्ध्य-आवश्यक कार्य करने वाले हैं। इन्हें कार्य में प्रवृत्त करने वाला कोई दूसरा पदार्थ नहीं है, ये स्वतन्त्र एवं शाश्वत हैं। यह ज्ञातव्य है कि जैनागमों में ऐसा कोई भी सन्दर्भ उपलब्ध नहीं होता है जिसमें मात्र चार महाभूत (आकाश को छोड़कर) मानने वाले चार्वाकों का उल्लेख हुआ हो।

प्रस्तुत ग्रन्थ में पंचमहाभूतवादियों के उपरोक्त विचारों के साथ-साथ पंचमहाभूत और छठा आत्मा ऐसे छः तत्त्वों को मानने वाले विचारकों का भी उल्लेख हुआ है। इनकी मान्यता को प्रस्तुत करते हुए कहा गया है कि सत् का विनाश नहीं होता और असत् की उत्पत्ति नहीं होती। इतना ही जीवकाय, इतना ही अतिकाय और इतना ही समग्र लोक है। पंचमहाभूत ही लोक का कारण है। संसार में तृण-कम्पन से लेकर जो कुछ होता है वह सब इन पाँच

महाभूतों से होता है। आत्मा के असत् अथवा अकर्ता होने से हिंसा आदि कार्यों में पुरुष दोष का भागी नहीं होता क्योंकि सभी कार्य भूतों के हैं। सम्भवतः यह विचारधारा सांख्य दर्शन का पूर्ववर्ती रूप है। इसमें पंचमहाभूतवादियों की दृष्टि से आत्मा को असत् और पंचमहाभूत और षष्ठ आत्मवादियों की दृष्टि से आत्मा को अकर्ता कहा गया है। सूत्रकृतांग इनके अतिरिक्त ईश्वर कारणवादी और नियतिवादी जीवन दृष्टियों को भी कर्म-सिद्धान्त का विरोधी होने के कारण मिथ्यात्व का प्रतिपादक ही मानता है। इस प्रकार 'ऋषिभाषित' के देशोत्कल और 'सूत्रकृतांग' के पंचमहाभूत एवं षष्ठ आत्मवादियों के उपरोक्त विवरण में पर्याप्त रूप से निकटता देखी जा सकती है। जैनों की मान्यता यह है कि वे सभी विचारक मिथ्यादृष्टि हैं जिनकी दार्शनिक मान्यताओं में धर्माधर्म व्यवस्था या कर्म सिद्धान्त की अवधारणा नहीं होती है। हम यह देखते हैं कि यद्यपि 'सूत्रकृतांग' में शरीर-आत्मवाद की स्थापना करते हुए देह और आत्मा भिन्न-भिन्न हैं, इस मान्यता का तार्किक रूप से निरसन किया गया है किन्तु यह मान्यता क्यों समुचित नहीं है इस सम्बन्ध में स्पष्ट रूप से कोई भी तर्क नहीं दिये गये हैं। 'सूत्रकृतांग', देहात्मवाद दृष्टिकोण के समर्थन में तो तर्क देता है किन्तु उसके निरसन में कोई तर्क नहीं देता।

‘राजप्रश्नीय सूत्र’ में चार्वाक मत का प्रस्तुतीकरण एवं समीक्षा²³

चार्वाक दर्शन के देहात्मवादी दृष्टिकोण के समर्थन में और उसके खण्डन के लिए तर्क प्रस्तुत करने वाला सर्वप्रथम राजप्रश्नीय सूत्र है। यही एक मात्र ऐसा प्राकृत आगम ग्रन्थ है जो चार्वाक दर्शन के उच्छेदवाद और तज्जीवतच्छरीरवाद के पक्ष और प्रतिपक्ष दोनों के सन्दर्भ में अपने तर्क प्रस्तुत करता है। 'राजप्रश्नीय सूत्र' में चार्वाकों की इन मान्यताओं के पूर्व पक्ष को और उनका खण्डन करने वाले उत्तर पक्ष को निम्न रूप में प्रस्तुत किया गया है --

1. राजा पएसी कहता है, हे ! केशीकुमार श्रमण ! मेरे दादा अत्यन्त अधार्मिक थे। आपके कथनानुसार वे अवश्य ही नरक में उत्पन्न हुए होंगे। मैं अपने पितामह का अत्यन्त प्रिय था, अतः पितामह को आकर मुझसे यह कहना चाहिए कि हे पौत्र ! मैं तुम्हारा पितामह था और इसी से यंविया (श्वेताम्बिका) नगरी में अधार्मिक यावत् प्रजाजनों से राजकर लेकर भी यथोचित रूप में उनका पालन-रक्षण नहीं करता था। इस कारण बहुत एवं अतीव क्लुषित पापकर्मों का संचय करके मैं नरक में उत्पन्न हुआ हूँ। किन्तु हे पौत्र ! तुम अधार्मिक नहीं होना, प्रजाजनों से कर लेकर उनके पालन-रक्षण में प्रमाद मत करना और न बहुत से मलिन पाप कर्मों का उपार्जन-संचय ही करना।

देहात्मवादियों के इस तर्क के प्रति-उत्तर में केशीकुमार श्रमण ने निम्न समाधान प्रस्तुत किया -- हे राजन ! जिस प्रकार अपने अपराधी को तुम इसलिए नहीं छोड़ देते हो कि वह जाकर अपने पुत्र-मित्र और जाति जनों को यह बताये कि मैं अपने पाप के कारण दण्ड भोग रहा हूँ, तुम ऐसा मत करना। इसी प्रकार नरक में उत्पन्न तुम्हारे पितामह तुम्हें प्रतिबोध देने के लिए आना चाहकर भी यहाँ आने में समर्थ नहीं हैं। नारकीय जीव चार कारणों से मनुष्य लोक में नहीं आ सकते -- सर्वप्रथम तो उनमें नरक से निकल कर मनुष्य लोक में आने

की सामर्थ्य ही नहीं होती। दूसरे नरकपाल उन्हें नरक से बाहर निकलने की अनुमति भी नहीं देते। तीसरे नरक सम्बन्धी असातावेदनीय कर्म के क्षय नहीं होने से वे वहाँ से नहीं निकल पाते। चौथे उनका नरक सम्बन्धी आयुष्य कर्म जब तक क्षीण नहीं होता तब तक वे वहाँ से नहीं आ सकते। अतः तुम्हारे पितामह के द्वारा तुम्हें आकर प्रतिबोध न दे पाने के कारण यह मान्यता मत रखो कि जीव और शरीर एक ही है, अपितु यह मान्यता रखो कि जीव अन्य है और शरीर एक ही है स्मरण रहे कि दीघनिकाय में भी नरक से मनुष्य लोक में न आ पाने के इन्हीं चार कारणों का उल्लेख किया गया है। केशिकुमार श्रमण के इस प्रत्युत्तर को सुनकर राजा ने दूसरा तर्क प्रस्तुत किया--

हे श्रमण ! मेरी दादी अत्यन्त धार्मिक थीं। आप लोगों के मत के अनुसार वह निश्चित ही स्वर्ग में उत्पन्न हुई होगी। मैं अपनी दादी का अत्यन्त प्रिय था, अतः उसे मुझे आकर यह बताना चाहिए कि हे पौत्र ! मैं अपने पुण्य कर्मों के कारण स्वर्ग में उत्पन्न हुई हूँ। तुम भी मेरे समान धार्मिक जीवन बितावो जिससे तुम भी विपुल पुण्य का उपार्जन कर स्वर्ग में उत्पन्न होवो। क्योंकि मेरी दादी ने स्वर्ग से आकर मुझे ऐसा प्रतिबोध नहीं दिया, अतः मैं यही मानता हूँ कि जीव और शरीर भिन्न-भिन्न नहीं हैं।

राजा के इस तर्क के प्रत्युत्तर में केशिकुमार श्रमण ने निम्न तर्क प्रस्तुत किया -- हे राजन् ! यदि तुम स्नान, बलिकर्म और कौतुकमंगल करके देवकुल में प्रविष्ट हो रहे हो उस समय कोई पुरुष शौचालय में खड़ा होकर यह कहे कि हे स्वामिन् ! यहाँ आओ ! कुछ समय के लिए यहाँ बैठो, खड़े होवो ! तो क्या तुम उस पुरुष की बात को स्वीकार करोगे। निश्चय ही तुम उस अपवित्र स्थान पर जाना नहीं चाहोगे। इसी प्रकार हे राजन् ! देव लोक में उत्पन्न देव वहाँ के दिव्य काम भोगों में इतने मूर्च्छित, गूढ़ और तल्लीन हो जाते हैं कि वे मनुष्य लोक में आने की इच्छा ही नहीं करते। दूसरे देवलोक सम्बन्धी दिव्य भोगों में तल्लीन हो जाने के कारण उनका मनुष्य सम्बन्धी प्रेम व्युच्छिन्न हो जाता है अतः वे मनुष्य लोक में नहीं आ पाते। तीसरे देवलोक में उत्पन्न वे देव वहाँ के दिव्य कामभोगों में मूर्च्छित या तल्लीन होने के कारण अभी जाता हूँ -- अभी जाता हूँ ऐसा सोचते रहते हैं, किन्तु उतने समय में अल्पायुष्य वाले मनुष्य कालधर्म को प्राप्त हो जाते हैं क्योंकि देवों का एक दिन-रात मनुष्य लोक के सौ वर्ष के बराबर होता है। अतः एक दिन का भी विलम्ब होने पर यहाँ मनुष्य कालधर्म को प्राप्त हो जाता है। पुनः मनुष्य लोक इतना दुर्गन्धित और अनिष्टकर है कि उसकी दुर्गन्ध के कारण मनुष्य लोक में देव आना नहीं चाहते हैं। अतः तुम्हारी दादी के स्वर्ग से नहीं आने पर यह श्रद्धा रखना उचित नहीं है कि जीव और शरीर भिन्न-भिन्न नहीं हैं।

केशिकुमार श्रमण के इस प्रत्युत्तर को सुनकर राजा ने एक अन्य तर्क प्रस्तुत किया। राजा ने कहा कि मैंने एक घोर को जीवित ही एक लोहे की कुम्भी में बन्द करवा कर अच्छी तरह से लोहे से उसका मुख ढक दिया फिर उस पर गरम लोहे और रांगे से लेप करा दिया तथा उसकी देख-रेख के लिए अपने विश्वास पात्र पुरुषों को रख दिया। कुछ दिन पश्चात् मैंने उस कुम्भी को खुलवाया तो देखा कि वह मनुष्य मर चुका था किन्तु उस कुम्भी में कोई भी छिद्र,

विवर या दरार नहीं थी जिससे उसमें बन्द पुरुष का जीव बाहर निकला हो, अतः जीव और शरीर भिन्न-भिन्न नहीं है।

इसके प्रत्युत्तर में केशिकुमार श्रमण ने निम्न तर्क प्रस्तुत किया -- जिस प्रकार एक ऐसी कूटागारशाला जो अच्छी तरह से आच्छादित हो और उसका द्वार गुप्त हो यहाँ तक कि उसमें कुछ भी प्रवेश नहीं कर सके। यदि उस कूटागारशाला में कोई व्यक्ति जोर से भेरी बजाये तो तुम बताओ कि वह आवाज बाहर सुनायी देगी कि नहीं ? निश्चय ही वह आवाज सुनायी देगी। अतः जिस प्रकार शब्द अप्रतिहत गति वाला है उसी प्रकार आत्मा भी अप्रतिहत गति वाला है, अतः उसे निकलने के लिए तुम यह श्रद्धा करो कि जीव और शरीर भिन्न-भिन्न हैं। ज्ञातव्य है कि अब यह तर्क विज्ञान सम्मत नहीं रह गया है, यद्यपि आत्मा की अमूर्तता के आधार पर भी राजा के उपरोक्त तर्क का प्रति उत्तर दिया जा सकता है। केशिकुमार श्रमण के इस प्रति उत्तर को सुनकर राजा ने एक अन्य तर्क प्रस्तुत किया--

मैंने एक पुरुष को प्राण रहित करके एक लौह कुम्भी में गलवा दिया तथा ढक्कन से उसे बन्द करके उस पर शीशे का लेप करवा दिया। कुछ समय पश्चात् जब उस कुम्भी को खोला गया तो उसे कृमिकुल से व्याप्त देखा, किन्तु उसमें कोई दरार या छिद्र नहीं था जिससे उसमें जीव उत्पन्न हुए हों। अतः जीव और शरीर भिन्न-भिन्न नहीं है। राजा के इस तर्क के प्रत्युत्तर में केशिकुमार श्रमण ने अग्नि से तपाये हुए गोले का उदाहरण दिया। जिस प्रकार लोहे के गोले में छेद नहीं होने पर भी अग्नि उसमें प्रवेश कर जाती है उसी प्रकार जीव भी अप्रतिहत गति वाला होने से कहीं भी प्रवेश कर जाता है।

केशिकुमार श्रमण का यह प्रत्युत्तर सुनकर राजा ने पुनः एक नया तर्क प्रस्तुत किया। उसने कहा कि, मैंने एक व्यक्ति को जीवित रहते हुए और मरने के बाद दोनों ही दशाओं में तौला किन्तु दोनों के तौल में कोई अन्तर नहीं था। यदि मृत्यु के बाद आत्मा उसमें से निकला होता तो उसका वजन कुछ कम अवश्य होना चाहिए था। इसके प्रत्युत्तर में केशिकुमार श्रमण ने वायु से भरी हुई और वायु से रहित मशक का उदाहरण दिया और यह बताया कि जिस प्रकार वायु अगुरुलघु है उसी प्रकार जीव भी अगुरुलघु है। अतः तुम्हारा यह तर्क युक्ति संगत नहीं है कि जीव और शरीर भिन्न-भिन्न नहीं है। अब यह तर्क भी वैज्ञानिक दृष्टि से युक्ति संगत नहीं रह गया है क्योंकि वैज्ञानिक यह मानते हैं कि वायु में वजन होता है। दूसरे यह भी प्रयोग करके देखा गया है कि जीवित और मृत शरीर के वजन में अन्तर पाया जाता है। उस युग में सूक्ष्म तुला के अभाव के कारण यह अन्तर ज्ञात नहीं होता रहा होगा।

राजा ने फिर एक अन्य तर्क प्रस्तुत किया और कहा कि मैंने एक चोर के शरीर के विभिन्न अंगों को काट कर चीर कर देखा लेकिन मुझे कहीं भी जीव नहीं दिखाई दिया। अतः शरीर से पृथक् जीव की सत्ता सिद्ध नहीं होती। इसके प्रत्युत्तर में केशिकुमार श्रमण ने निम्न उदाहरण देकर समझाया --

"हे राजन् ! तू बड़ा मूढ़ मालूम होता है, मैं तुझे एक उदाहरण देकर समझाता हूँ।

एक बार कुछ वन जीवी साथ में अग्नि लेकर एक बड़े जंगल में पहुँचे। उन्होंने अपने एक साथी से कहा, हे देवानुप्रिय ! हम जंगल में लकड़ी लेने जाते हैं, तू इस अग्नि से आग जलाकर हमारे लिए भोजन बनाकर तैयार रखना। यदि अग्नि बुझ जाय तो लकड़ियों को घिस कर अग्नि जला लेना। संयोगवश उसके साथियों के चले जाने पर थोड़ी ही देर बाद आग बुझ गई। अपने साथियों के आदेशानुसार वह लकड़ियों को चारों ओर से उलट-पुलट कर देखने लगा लेकिन आग कहीं नजर नहीं आई। उसने अपनी कुल्हाड़ी से लकड़ियों को चीरा, उनके छोटे-छोटे टुकड़े किये किन्तु फिर भी आग दिखाई नहीं दी। वह निराश होकर बैठ गया और सोचने लगा कि देखो, मैं अभी तक भी भोजन तैयार नहीं कर सका। इतने में जंगल से उसके साथी लौटकर आ गये, उसने उन लोगों से सारी बातें कहीं। इस पर उनमें से एक साथी ने शर बनाया और शर को अरणि के साथ घिस कर अग्नि जलाकर दिखायी और फिर सबने भोजन बना कर खाया। हे परसी ! जैसे लकड़ी को चीर कर आग पाने ही इच्छा रखने वाला उक्त मनुष्य मूर्ख था, वैसे ही शरीर को चीर कर जीव देखने की इच्छा वाले तुम भी कुछ कम मूर्ख नहीं हो। जिस प्रकार अरणि के माध्यम से अग्नि अभिव्यक्त होती है किन्तु प्रक्रिया उसी प्रकार मूर्खतापूर्ण है जैसे अरणि को चीर-फाड़ करके अग्नि को देखने की प्रक्रिया। अतः हे राजा यह श्रद्धा करो कि आत्मा अन्य है और शरीर अन्य है।

यहाँ यह कहा जा सकता है कि ये सभी तर्क वैज्ञानिक युग में इतने सबल नहीं रह गये हैं, किन्तु ई० पू० सामान्यतया चार्वाकों के पक्ष के समर्थन में और उनका खण्डन करने के लिये ये ही तर्क प्रस्तुत किये जाते थे। अतः चार्वाक दर्शन के ऐतिहासिक विकास क्रम की दृष्टि से इनका अपना महत्त्व है। जैन और बौद्ध परम्पराओं में इनमें अधिकांश तर्क समान होने से इनकी ऐतिहासिक प्रामाणिकता और प्राचीनता भी स्वतः सिद्ध है।

जैन साहित्य में दार्शनिक दृष्टि से जहाँ तक चार्वाक दर्शन के तर्कपुरस्सर प्रस्तुतीकरण एवं समीक्षा का प्रश्न है -- आगमिक व्याख्या साहित्य के महत्त्वपूर्ण ग्रन्थ 'विशेषावश्यकभाष्य' को देखा जा सकता है। जिनभद्र क्षमाश्रमण द्वारा ईस्वी सन् की छठी शती में प्राकृत भाषा में निबद्ध इस ग्रन्थ की लगभग ५०० गाथायें तो आत्मा, कर्म, पुण्य-पाप, स्वर्ग-नरक, बन्धन-मुक्ति आदि अवधारणाओं की तार्किक समीक्षा से सम्बन्धित है। इस ग्रन्थ का यह अंश गणधरवाद के नाम से जाना जाता है और अब स्वतन्त्र रूप से प्रकाशित भी हो चुका है। प्रस्तुत निबन्ध में इस समग्र चर्चा को समेट पाना सम्भव नहीं था, अतः इस निबन्ध को यहीं विराम दे रहे हैं।

सन्दर्भ

1. जैन साहित्य का बृहद् इतिहास, भाग 1, भूमिका, पृ० 39
2. दीघनिकाय पयासीसुत्त
3. राजप्रश्नीयसूत्र (मधुकरमुनि), भूमिका, पृ० 18
4. ऋषिभाषित (इसिभासियाई), अध्याय 20

5. विशेषावश्यकभाष्य, गाथा 1549-2024
6. आचारांग (मधुकरमुनि), 1/1/1/1-3
"एवमेग्रेसि णो णातं भवति-अत्थि में आया उववाइए..... से आयावादी लोगावादी कम्मावादी किरियावादी ।"
7. आचारांग, 1/2/6/104- कृष्ण परिणाय लोग सण्णं सव्वसो
8. सूत्रकृतांग (मधुकरमुनि), 1/1/1/7-8
9. वही, 11-12
10. उत्तराध्ययनसूत्र, 5/7, जणेण सद्धि होक्खामि
11. वही, 5/5-7
12. जहा य अग्गी अरणी उ सन्तो खीरे घटां तेल्ल महातिलेसु ।
एमेव जाया ! सरोरंसि सत्ता संमुच्छई नासइ नावचिट्ठे ।
..... उत्तराध्ययनसूत्र, 14/18
13. नो इन्दियगेज्झ अमुत्तभावा अमुत्तभावा वि य होइ निच्चो ।
..... वही, 14/19
14. ऋषिभाषित (इसिभासियाई), अध्याय 20
15. वही
16. उत्कल, उत्कुल और उत्कूल शब्दों के अर्थ के लिए देखिए --
संस्कृत-इंगलिश डिक्शनरी (मोनियर विलियम्स), पृ० 176
17. ऋषिभाषित (इसिभासियाई), अध्याय 20
18. वही
19. वही
20. वही
21. वही
22. सूत्रकृतांग द्वितीय भाग, अध्याय 1, पृ० 648-658
23. राजप्रश्नीयसूत्र (मधुकरमुनि), पृ० 242-260

प्रो. सागरमल जैन, निदेशक, पार्श्वनाथ शोधपीठ, वाराणसी-5.

महावीर के समकालीन विभिन्न आत्मवाद एवं उसमें जैन आत्मवाद का वैशिष्ट्य

- प्रो. सागरमल जैन

धर्म और नैतिकता आत्मा सम्बन्धी दार्शनिक मान्यताओं पर अधिष्ठित रहते हैं। किसी भी धर्म एवं उसकी नैतिक विचारणा को उसके आत्म सम्बन्धी सिद्धान्त के अभाव में समुचित रूप से नहीं समझा जा सकता। महावीर के धर्म एवं नैतिक सिद्धान्तों के औचित्य-स्थापन के पूर्व उनके आत्मवाद का औचित्य-स्थापन आवश्यक है। साथ ही महावीर के आत्मवाद को समझने के लिये उनके समकालीन विभिन्न आत्मवादों का समालोचनात्मक अध्ययन भी आवश्यक है।

यद्यपि भारतीय आत्मवादों के सम्बन्ध में वर्तमान युग में श्री ए० सी० मुकर्जी ने अपनी पुस्तक "The Nature of Self" एवं श्री एस० के० सक्सेना ने अपनी पुस्तक "Nature of Consciousness in Hindu Philosophy" में विचार किया है लेकिन उन्होंने महावीर के समकालीन आत्मवादों पर समुचित रूप से कोई विचार नहीं किया है। श्री धर्मानन्द कौशाम्बीजी द्वारा अपनी पुस्तक "भगवान बुद्ध" में यद्यपि इस प्रकार का एक लघु प्रयास अवश्य है, फिर भी इस सम्बन्ध में एक व्यवस्थित अध्ययन आवश्यक है।

पाश्चात्य एवं कुछ आधुनिक भारतीय विचारकों की यह मान्यता है कि महावीर एवं बुद्ध के समकालीन विचारकों में आत्मवाद-सम्बन्धी कोई निश्चित दर्शन नहीं था। तत्कालीन सभी ब्राह्मण और श्रमण मतवाद केवल नैतिक-विचारणाओं एवं कर्मकाण्डी-व्यवस्थाओं को प्रस्तुत करते थे। सम्भवतः इस धारणा का आधार तत्कालीन औपनिषदिक साहित्य है, जिसमें आत्मवाद सम्बन्धी विभिन्न परिकल्पनायें, किसी एक आत्मवादी सिद्धान्त के विकास के निमित्त संकलित की जा रही थीं। उपनिषदों का आत्मवाद विभिन्न श्रमण परम्पराओं के आत्मवादी सिद्धान्तों से स्पष्ट रूप से प्रभावित है। उपनिषदों में आत्मा-सम्बन्धी परस्पर विपरीत धारणाएँ जिस बीज रूप में विद्यमान हैं वे इस तथ्य की पुष्टि में सबल प्रमाण हैं। हाँ, इन विभिन्न आत्मवादों को ब्रह्म की धारणा में संयोजित करने का प्रयास उनका अपना मौलिक है।

लेकिन यह मान लेना कि महावीर अथवा बुद्ध के समकालीन विचारकों में आत्मा-सम्बन्धी दार्शनिक सिद्धान्त थे ही नहीं, यह एक भ्रान्त धारणा है।

मेरी यह स्पष्ट धारणा है कि महावीर के समकालीन विभिन्न विचारकों की आत्मवाद सम्बन्धी विभिन्न धारणाएँ विद्यमान थीं। कोई उसे सूक्ष्म कहता था, तो कोई उसे विभु। किसी के अनुसार आत्मा नित्य थी, तो कोई उसे क्षणिक मानता था। कुछ विचारक उसे (आत्मा को) कर्ता मानते थे, तो कुछ उसे निष्क्रिय एवं कूटस्थ मानते थे। इन्हीं विभिन्न

आत्मवादों की अपूर्णता एवं नैतिक व्यवस्था को प्रस्तुत करने की अक्षमताओं के कारण ही तीन नये विचार सामने आये -- एक ओर था उपनिषदों का सर्व-आत्मवाद या ब्रह्मवाद, दूसरी ओर था बुद्ध का अनात्मवाद और तीसरी विचारणा थी जैन आत्मवाद की, जिसने इन विभिन्न आत्मवादों को एक जगह समन्वित करने का प्रयास किया।

इन विभिन्न आत्मवादों की समालोचना के पूर्व इनके अस्तित्व-सम्बन्धी प्रमाण प्रस्तुत किये जाने आवश्यक हैं। बौद्ध-पालि-आगम-साहित्य, जैन-आगम एवं उपनिषदों के विभिन्न प्रसंग इस संदर्भ में कुछ तथ्य प्रस्तुत करते हैं। बौद्ध-पालि-आगम के अन्तर्गत सुत्तपिटक में दीघनिकाय के ब्रह्मजालसुत्त एवं मज्झिमनिकाय के चूलसारोपमसुत्त में इन आत्मवादों के सम्बन्ध में कुछ जानकारी प्राप्त होती है। यद्यपि उपर्युक्त सुत्तों में हमें जो जानकारी प्राप्त होती है, वह बाह्यतः नैतिक आचार-सम्बन्धी प्रतीत होती है, लेकिन यह जिस रूप में प्रस्तुत की गई है, उसे देखकर हमें गहन विवेचना में उतरना होता है, जो अन्ततोगत्वा हमें किसी आत्मवाद-सम्बन्धी दार्शनिक निर्णय पर पहुँचा देती है।

पालि-आगम में बुद्ध के समकालीन¹ इन आचार्यों को जहाँ एक ओर गणाधिपति, गण के आचार्य, प्रसिद्ध यशस्वी, तीर्थंकर तथा बहुजनों द्वारा सुसम्मत² कहा गया है, वहीं दूसरी ओर उनके नैतिक सिद्धान्तों को इतने गर्हित एवं निन्द्य रूप में प्रस्तुत किया गया है³ कि साधारण बुद्धि वाला मनुष्य भी इनकी ओर आकृष्ट नहीं हो सकता। अतः यह स्वाभाविक रूप से शंका उपस्थित होती है कि क्या ऐसी निन्द्य नैतिकता का उपदेश देने वाला व्यक्ति लोकसम्मानित धर्माचार्य हो सकता है, लोकपूजित हो सकता है ?

यही नहीं कि ये आचार्यगण लोकपूजित ही थे वरन् वे आध्यात्मिक-विकास के निमित्त विभिन्न साधनार्थ भी करते थे, उनके शिष्य एवं उपासक भी थे। उपरोक्त तथ्य किसी निष्पक्ष गहन विचारणा की अपेक्षा करते हैं, जो इसके पीछे रहे हुए सत्य का उद्घाटन कर सकें।

मेरी विनम्र सम्मति में उपर्युक्त विचारकों की नैतिक विचारणा को जिस रूप में प्रस्तुत किया गया है उसे देखकर ऐसा प्रतीत होता है कि वह उन विचारकों की नैतिक विचारणा नहीं है, वरन् उनके आत्मवाद या अन्य दार्शनिक मान्यताओं के आधार पर निकाला हुआ नैतिक निष्कर्ष है, जो विरोधी पक्ष के द्वारा प्रस्तुत किया गया है।

जैनागमों जैसे सूत्रकृतांग, व्याख्याप्रज्ञप्ति (भगवतीसूत्र), उत्तराध्ययन आदि में भी कुछ ऐसे स्थल हैं, जिनके आधार पर तत्कालीन आत्मवादों को प्रस्तुत किया जा सकता है।

वैदिक साहित्य में प्राचीनतम उपनिषद् छान्दोग्य और बृहदारण्यक⁴ हैं, उनमें भी तत्कालीन आत्मवाद के सम्बन्ध में कुछ जानकारी उपलब्ध होती है। कठोपनिषद् एवं गीता में इन विभिन्न आत्मवादी धारणाओं का प्रभाव यत्र-तत्र यथेष्ट रूप से देखने को मिल सकता है।

लेख के विस्तारभय से यहाँ उक्त सभी ग्रन्थों के विभिन्न संकेतों के आधार पर

उनसे प्रतिफलित होने वाले आत्मवादों की विचारणा सम्भव नहीं है, अतः हम यहाँ कुछ आत्मवादों का वर्गीकृत रूप में मात्र संक्षिप्त अध्ययन ही करेंगे। इनका विस्तृत और पूर्ण अध्ययन तो स्वतन्त्र गवेषणा का विषय है।

वर्गीकरण की दृष्टि से हमारे अध्ययन में निम्न वर्गीकरण सहायक हो सकता है--

1. नित्य या शाश्वत आत्मवाद,
2. अनित्य आत्मवाद, उच्छेद आत्मवाद, देहात्मवाद,
3. कूटस्थ आत्मवाद, अक्रिय आत्मवाद, नियतिवाद,
4. परिणामी आत्मवाद, आत्म कर्तृत्ववाद, पुरुषार्थवाद,
5. सूक्ष्म आत्मवाद,
6. विभु आत्मवाद,
7. अनात्मवाद,
8. सर्व आत्मवाद या ब्रह्मवाद।

प्रस्तुत निबन्ध में उपर्युक्त सभी आत्मवादों का विवेचन सम्भव नहीं है, दूसरे अनात्मवाद और सर्व आत्मवाद के सिद्धान्त क्रमशः बौद्ध और वेदान्त परम्परा में विकसित हुए हैं, जो काफी विस्तृत हैं साथ ही लोक प्रसिद्ध हैं। अतः उनका विवेचन प्रस्तुत निबन्ध में नहीं किया गया है। परिणामी आत्मवाद का सिद्धान्त स्वतन्त्र रूप से किसका था, यह ज्ञात नहीं हो सका। अतः उसका भी विवेचन इस निबन्ध में नहीं किया गया है। प्रस्तुत प्रयास में इन विभिन्न आत्मवादों के वर्गीकरण में मुख्यतः एक स्थूल दृष्टि रखी गई है और इसी हेतु कूटस्थ आत्मवाद, नियतिवाद या परिणामी आत्मवाद और पुरुषार्थवाद महावीर के आत्मवाद का मुख्य अंग है फिर भी महावीर का आत्म-दर्शन समन्वयात्मक है अतः उनके आत्म-दर्शन को एकान्त रूप से उस वर्ग में नहीं रखा जा सकता है।

अनित्य-आत्मवाद

महावीर के समकालीन विचारकों में इस अनित्यात्मवाद का प्रतिनिधित्व अजितकेश कम्बल करते हैं। इस धारणा के अनुसार आत्मा या चैतन्य इस शरीर के साथ उत्पन्न होता है और इसके नष्ट हो जाने के साथ ही नष्ट हो जाता है। उनके दर्शन एवं नैतिक सिद्धान्तों को बौद्ध आगम में इस प्रकार प्रस्तुत किया गया है।

दान, यज्ञ, हवन व्यर्थ हैं, सुकृत-दुष्कृत कर्मों का फल-विपाक नहीं। यह लोक-परलोक नहीं। माता-पिता नहीं, देवता नहीं... आदमी चार महाभूतों का बना है जब मरता है तब (शरीर की) पृथ्वी-पृथ्वी में, पानी पानी में, आग आग में और वायु वायु में मिल जाती है... दान यह मूर्खों का उपदेश है... मूर्ख हो चाहे पण्डित शरीर छोड़ने पर उच्छिन्न हो जाते हैं...।

बाह्य रूप से देखने पर अजित की यह धारणा स्वार्थ सुखवाद की नैतिक धारणा के समान प्रतीत होती है और उसका दर्शन तथा आत्मवाद भौतिकवादी परिलक्षित होता है। लेकिन

पुनः यहाँ यह शंका उपस्थित होती है कि यदि अजितकेश कम्बल नैतिक धारणा में समवादी और उनका दर्शन भौतिकवादी था तो फिर वह स्वयं साधना मार्ग और देह-दण्डन के पथ का अनुगामी क्यों था, उसने किस हेतु श्रमणों एवं उपासकों का संघ बनाया था। यदि उसकी नैतिकता भोगवादी थी तो उसे स्वयं संन्यास-मार्ग का पथिक नहीं बनना था, न उसके संघ में संन्यासी या गृहत्यागी को स्थान होना था।

सम्भवतः वस्तुस्थिति ऐसी प्रतीत होती है कि अजित दार्शनिक दृष्टि से अनित्यवादी था, जगत् की परिवर्तनशीलता पर ही उसका जोर था। वह लोक, परलोक, देवता, आत्मा आदि किसी भी तत्त्व को नित्य नहीं मानता था। उसका यह कहना "यह लोक नहीं परलोक नहीं, माता-पिता नहीं, देवता नहीं..." केवल इसी अर्थ का द्योतक है कि सभी की शाश्वत् सत्ता नहीं है, सभी अनित्य हैं। वह आत्मा को भी अनित्य मानता था और इसी आधार पर यह कहा गया कि उसकी नैतिक धारणा में सुकृत और दुष्कृत कर्मों का विपाक नहीं।

पश्चिम में यूनानी दार्शनिक हेराक्लितु (535 ई० पू०) भी इसी का समकालीन था और वह भी अनित्यतावादी ही था।

सम्भवतः अजित नित्य आत्मवाद के आधार पर नैतिकता की धारणा को स्थापित करने में उत्पन्न होने वाली दार्शनिक कठिनाइयों से अक्ल था। क्योंकि नित्य आत्मवाद के आधार पर हिंसा की बुराई को नहीं समाप्त किया जा सकता। यदि आत्मा नित्य है तो फिर हिंसा किसकी ? अतः अजित ने यज्ञ, याग एवं युद्ध-जनित हिंसा से मानव-जाति को मुक्त करने के लिये अनित्य आत्मवाद का उपदेश दिया होगा।

साथ ही ऐसा भी प्रतीत होता है कि वह तृष्णा और आसक्ति से उत्पन्न होने वाले सांसारिक क्लेशों से भी मानव-जाति को मुक्त करना चाहता था और इसी हेतु उसने गृह-त्याग और देह-दण्डन, जिससे आत्म-सुख और भौतिक-सुख की विभिन्नता को समझा जा सके, को आवश्यक माना था।

इस प्रकार अजित का दर्शन आत्म-अनित्यवाद का दर्शन है और उसकी नैतिकता है-- आत्म-सुख (Subjective Pleasure) की उपलब्धि।

सम्भवतः ऐसा प्रतीत होता है कि बुद्ध ने अपने अनात्मवादी दर्शन के निर्माण में अजित का यह अनित्य आत्मवाद अपना लिया था और उसकी नैतिक धारणा में से देह-दण्डन की प्रणाली को समाप्त कर दिया था। यही कारण है कि अजित की यह दार्शनिक परम्परा बुद्ध की दार्शनिक परम्परा के प्रारम्भ होने पर विलुप्त हो गई। बुद्ध के दर्शन ने अजित के अनित्यतावादी आत्म-सिद्धान्त को आत्मसात् कर लिया और उसकी नैतिक धारणा को परिष्कृत कर उसे ही एक नये रूप में प्रस्तुत कर दिया।

अनित्य आत्मवाद के सम्बन्ध में जैनागम उत्तराध्ययन के 14वें अध्याय की 18वीं गाथा में भी विवेचन प्राप्त होता है, जहाँ यह बताया गया कि यह आत्मा शरीर में उसी प्रकार

रहती है जैसे तिल में तेल, अरणी में अग्नि या दूध में घृत रहता है और इस शरीर के नष्ट हो जाने के साथ ही वह नष्ट हो जाती है।

औपनिषदिक साहित्य में कठोपनिषद् की प्रथम वल्ली के अध्याय 1 के 20वें श्लोक में नचिकेता भी यह रहस्य जानना चाहता है कि आत्मनित्यतावाद और आत्म-अनित्यतावाद में कौन सी धारणा सत्य है और कौन सी असत्य।

इस प्रकार यह तो निभ्रान्त रूप से सत्य है कि महावीर के समकालीन विचारकों में आत्म-अनित्यतावाद को मानने वाले विचारक थे। लेकिन वह अनित्य आत्मवाद भौतिक आत्मवाद नहीं, वरन् दार्शनिक अनित्य आत्मवाद था। उनके मानने वाले विचारक आधुनिक सुखवादी विचारकों के समान भौतिक सुखवादी नहीं थे, वरन् वे आत्म-शान्ति एवं आसक्तिनाश या तृष्णाक्षय के हेतु प्रयासशील थे।

ऐसा प्रतीत होता है कि अजित का दर्शन और धर्म (नैतिकता) बौद्ध दर्शन एवं धर्म की पूर्व कड़ी था। बौद्धों ने उसके दर्शन की जो आलोचना की थी अथवा उसके जो नैतिक निष्कर्ष प्रस्तुत किये थे कि उसके अनुसार दुष्कृत एवं सुकृत कर्मों का विपाक नहीं, यही आलोचना पश्चात् काल में बौद्ध आत्मवाद को कृतप्रणाश एवं अकृत कर्मभोग कहकर -- हेमचन्द्राचार्य ने प्रस्तुत की।

अनित्य-आत्मवाद की धारणा नैतिक दृष्टि से उचित नहीं बैठती क्योंकि उसके आधार पर कर्म-विपाक या कर्म-फल के सिद्धान्त को नहीं समझाया जा सकता क्योंकि समस्त शुभाशुभ कर्मों का प्रतिफल तत्काल प्राप्त नहीं होता। अतः कर्म-फल की धारणा के लिये नित्य आत्मवाद की ओर आना होता है। दूसरे अनित्य आत्मवाद की धारणा में पुण्य-संचय, परोपकार, दान आदि के नैतिक आदेशों का भी कोई अर्थ नहीं रहता।

नित्य कूटस्थ आत्मवाद

वर्तमान दार्शनिक परम्पराओं में भी अनेक इस सिद्धान्त के समर्थक हैं कि आत्मा कूटस्थ (निष्क्रिय) एवं नित्य है, सांख्य और वेदान्त भी इसके समर्थक हैं। जिन विचारकों ने आत्मा को कूटस्थ माना है, उन्होंने उसे नित्य भी माना है। अतः हमने भी अपने विवेचन हेतु नित्य आत्मवाद और कूटस्थ आत्मवाद दोनों को समन्वित रूप से एक ही साथ रखा है। महावीर के समकालीन कूटस्थ नित्य आत्मवाद के प्रतिनिधि पूर्ण कश्यप थे।

पूर्ण कश्यप के सिद्धान्तों का चित्रण बौद्ध-साहित्य में इस प्रकार है -- अगर कोई क्रिया करे, कराये, काटे, कटवाये, कष्ट दे या दिलाये -- चोरी करे -- प्राणियों को मार डाले -- परदारगमन करे या असत्य बोले तो भी उसे पाप नहीं। तीक्ष्ण धार वाले चक्र से यदि कोई इस संसार के प्राणियों का ढेर लगा दे तो भी उसे कोई पाप नहीं है, दोष नहीं है -- दान, धर्म और सत्य-भाषण से कोई पुण्य-प्राप्ति नहीं होती।

इस धारणा को देखकर सहज ही शंका होती है कि इस प्रकार का उपदेश देने वाला कोई यशस्वी, लोकसम्मानित व्यक्ति नहीं हो सकता, वरन् कोई धूर्त होगा। लेकिन पूर्ण कश्यप एक लोकपूजित शास्ता थे, अतः यह निश्चित है कि ऐसा अनैतिक दृष्टिकोण उनका नहीं हो सकता। यह उनके आत्मवाद का नैतिक फलित होगा जो एक विरोधी दृष्टिकोण वाले लोगों द्वारा प्रस्तुत किया गया है। फिर भी इसमें इतनी सत्यता अवश्य होगी कि पूर्ण कश्यप आत्मा को अक्रिय मानते थे, वस्तुतः उनकी आत्म-अक्रियता की धारणा का उपर्युक्त निष्कर्ष निकालकर उनके विरोधियों ने उनके मत को विकृत रूप में प्रस्तुत किया है।

ऐसा प्रतीत होता है कि पूर्ण कश्यप के इस आत्म-अक्रियवाद को उसके पश्चात् कपिल के सांख्य दर्शन और भगवद्गीता में भी अपना लिया गया था। कपिल और भगवद्गीता का काल लगभग 400 ई० पू० माना जाता है और इस आधार पर यह माना जा सकता है कि ये पूर्ण कश्यप के आत्म-अक्रियवाद से अवश्य प्रभावित हुए होंगे। कपिल के दर्शन में आत्म-अक्रियवाद के साथ ही ईश्वर का अभाव इस बात का सबल प्रमाण है कि वह किसी अवैदिक श्रमण परम्परा के दर्शन से प्रभावित था और वह दर्शन पूर्ण कश्यप का आत्म अक्रियवाद का दर्शन ही होगा, क्योंकि उसमें भी ईश्वर के लिये कोई स्थान नहीं था। सांख्य दर्शन भी आत्मा को त्रिगुणयुक्त प्रकृति से भिन्न मानता है और मारना, मरवाना आदि सभी को प्रकृति का परिणाम मानता है। आत्मा सबसे प्रभावित नहीं होती है। वह यह भी नहीं मानता है कि आत्मा को नष्ट किया जा सकता है। आत्मा बन्धन में नहीं आता, वरन् प्रकृति ही प्रकृति को बाँधती है। अतः शुभाशुभ कार्यों का प्रभाव भी आत्मा पर नहीं पड़ता। इस प्रकार पूर्ण कश्यप का दर्शन कपिल के दर्शन का पूर्ववर्ती था। इसी प्रकार गीता में भी पूर्ण कश्यप के इस आत्म-अक्रियवाद की प्रतिध्वनि यत्र-तत्र सुनाई देती है, जो सांख्य दर्शन के माध्यम से उस तक पहुँची थी। स्थानाभाव से हम उन सब प्रमाणों को प्रस्तुत करने में असमर्थ हैं। पाठकाण्ड उल्लिखित स्थानों पर उन्हें देख सकते हैं।⁵

उपर्युक्त संदर्भों के आधार पर बौद्ध आगम में प्रस्तुत पूर्ण कश्यप के दृष्टिकोण को एक सही दृष्टिकोण से समझा जा सकता है। फिर भी इस बात से इंकार नहीं किया जा सकता कि उपर्युक्त आत्म-अक्रियवाद की धारणा नैतिक सिद्धान्तों के स्थापन में तार्किक दृष्टि से उपयुक्त नहीं ठहरती है।

यदि आत्मा अक्रिय है, वह किसी क्रिया का कर्ता नहीं है तो फिर वह शुभाशुभ कार्यों का उत्तरदायी भी नहीं माना जा सकता है। स्वयं प्रकृति भी चेतना एवं शुभाशुभ के विवेक के अभाव में उत्तरदायी नहीं बनती। इस प्रकार आत्म-अक्रियवाद के सिद्धान्त में उत्तरदायित्व की धारणा को अधिष्ठित नहीं किया जा सकता और उत्तरदायित्व के अभाव में नैतिकता, कर्तव्य, धर्म आदि का मूल्य शून्यवत् हो जाता है।

इस प्रकार आत्म-अक्रियतावाद सामान्य बुद्धि की दृष्टि से एवं नैतिक नियमों के स्थापन की दृष्टि से अनुपयोगी ठहरता है, फिर भी दार्शनिक दृष्टि से इसका कुछ मूल्य है

क्योंकि स्वभावतया आत्मा को अक्रिय माने बिना मोक्ष एवं निर्वाण की व्याख्या सम्भव नहीं थी। यही कारण था कि आत्म-अक्रियतावाद या कूटस्थ-नित्य-आत्मवाद का प्रभाव दार्शनिक विचारणा पर बना रहा।

निष्क्रिय आत्मविकासवाद एवं नियतिवाद

आत्म-अक्रियतावाद या कूटस्थ-आत्मवाद की एक धारा नियतिवाद थी। यदि आत्मा अक्रिय है एवं कूटस्थ है तो पुरुषार्थवाद के द्वारा आत्मविकास एवं निर्वाण-प्राप्ति की धारणा को नहीं समझाया जा सकता था।

मक्खली पुत्र गोशालक जो आजीवक सम्प्रदाय का प्रमुख था -- पूर्ण कश्यप की आत्म-अक्रियतावाद की धारणा का तो समर्थक था लेकिन अक्रिय-आत्मवाद के बन्धन में आने के कारण एवं आत्म-विकास की परम्परा को व्यक्त करने में असमर्थ था। अतः निम्न योनि से आत्म-विकास की उच्चतम स्थिति निर्वाण को समझाने के लिये उसने निष्क्रिय आत्म-विकासवाद के सिद्धान्त को स्थापित किया। सामान्यतया उसके सिद्धान्त को नियतिवाद या अपुरुषार्थवाद किंवा भाग्यवाद कहा गया है, लेकिन मेरी दृष्टि में उसके सिद्धान्त को निष्क्रिय आत्म-विकासवाद कहा जाना अधिक समुचित है।

ऐसा प्रतीत होता है गोशालक उस युग का चतुर व्यक्ति था। उसने अपने आजीवक सम्प्रदाय में पूर्ण कश्यप के सम्प्रदाय को भी शामिल कर लिया था। प्रारम्भ में उसने भगवान् महावीर के साथ अपनी साधना-पद्धति को प्रारम्भ किया था लेकिन उनसे वैचारिक मतभेद होने पर उसने पूर्ण कश्यप के सम्प्रदाय से मिलकर आजीवक सम्प्रदाय स्थापित कर लिया होगा,⁶ जिसमें दर्शन एवं सिद्धान्त पूर्ण कश्यप की धारणाओं से प्रभावित थे तो साधना मार्ग का बाल स्वरूप महावीर की साधना-पद्धति से प्रभावित था।

बौद्ध आगम एवं जैनागम दोनों में ही उसकी विचारणा का कुछ स्वरूप प्राप्त होता है। यद्यपि उसका प्रस्तुतीकरण एक विरोधी पक्ष के द्वारा हुआ है, यह तथ्य ध्यान में रखना होगा।

गोशालक की विचारणा का स्वरूप पालि आगम में निम्नानुसार है --

हेतु के बिना -- प्राणी अपवित्र होता है, हेतु के बिना -- प्राणी शुद्ध होते हैं -- पुरुष की सामर्थ्य से कुछ नहीं होता -- सर्व सत्त्व सर्व प्राणी, सर्व भूत, सर्व जीव, अवश, दुर्बल, निवीर्य हैं, वे नियति (भाग्य), संगति एवं स्वभाव के कारण परिणित होते हैं --

इसके आगे उसकी नैतिकता की धारणा को पूर्वोक्त प्रकार से भ्रष्ट रूप में उपस्थित किया गया है, जो विश्वसनीय नहीं मानी जा सकती।

उपर्युक्त आधार पर उसकी धारणा का सार यही है कि आत्मा निष्क्रिय है, अवीर्य है, इसका विकास स्वभावतः होता रहता है। विभिन्न योनियों में होता हुआ यह जीवात्मा अपना विकास करता है और निर्वाण या मोक्ष को प्राप्त कर लेता है।

लेकिन ऐसा प्रतीत होता है कि नैतिक दृष्टि से वह व्यक्ति को अपनी स्थिति के अनुसार कर्त्तव्य करने का उपदेश देता था, अन्यथा वह स्वयं भी नग्न रहना आदि देह-दण्डन को क्यों स्वीकार करता ? जिस प्रकार बाद में गीता में अपनी-अपनी स्थिति के अनुसार कर्त्तव्य करने का उपदेश दिया गया था वर्तमान युग में श्री ब्रेडले ने (Mystation and its duties) समाज में अपनी स्थिति के अनुसार कर्त्तव्य करने के नैतिक सिद्धान्त को प्रतिपादित किया, उसी प्रकार वह छः अभिजातियों⁷ (वर्गों) को उनकी स्थिति के अनुसार कर्त्तव्य करने का उपदेश देता होगा और यह मानता होगा कि आत्मा अपनी अभिजातियों के कर्त्तव्य का पालन करते हुए स्वतः विकास की इस क्रमिक गति में स्वभावतः आगे बढ़ता रहता है।

पारमार्थिक दृष्टि से या तार्किक दृष्टि से नियतिवादी विचारणा का चाहे कुछ मूल्य रहा हो, लेकिन नैतिक विवेचना में नियतिवाद अधिक सफल नहीं हो पाया। नैतिक विवेचना में इच्छा-स्वातन्त्र्य (Free-will) की धारणा आवश्यक है, जबकि नियतिवाद में उसका कोई स्थान नहीं रहता है। फिर दार्शनिक दृष्टि से भी नियतिवादी तथा स्वतः विकासवादी धारणाएँ निर्दोष हों, ऐसी बात भी नहीं है।

नित्यकूटस्थ-सूक्ष्म-आत्मवाद

बुद्ध का समकालीन एक विचारक पकुधकच्चायन आत्मा को नित्य और कूटस्थ (अक्रिय) मानने के साथ ही उसे सूक्ष्म मानता था। 'ब्रह्मजालसुत्त' के अनुसार उसका दृष्टिकोण इस प्रकार का था --

सात पदार्थ किसी के -- बने हुए नहीं हैं (नित्य हैं), वे तो बन्ध्य कूटस्थ -- अचल हैं। -- जो कोई तीक्ष्ण शस्त्र से किसी का सिर काट डालता है, वह उसका प्राण नहीं लेता। बस इतना ही समझना चाहिये कि सात पदार्थों के बीच अवकाश में उसका शस्त्र घुस गया है।

इस प्रकार इस धारणा के अनुसार आत्मा नित्य और कूटस्थ तो थी ही साथ ही सूक्ष्म और अछेद भी थी। पकुधकच्चायन की इस धारणा के तत्त्व उपनिषदों⁸ तथा गीता में भी पाये जाते हैं। उपनिषदों में आत्मा को जो, सरसों या चावल के दाने से सूक्ष्म माना गया है तथा गीता में उसे अछेद्य, अवलेह्य कहा गया है।

सूक्ष्म आत्मवाद की धारणा भी दार्शनिक दृष्टि से अनेक दोषों से पूर्ण है। अतः बाद में इस धारणा में काफी परिष्कार हुआ है।

महावीर का आत्मवाद

यदि उपर्युक्त आत्मवादों का तार्किक वर्गीकरण किया जाये तो हम उसके छः वर्ग बना सकते हैं --

- (1) अनित्य आत्मवाद या उच्छेद आत्मवाद
- (2) नित्य आत्मवाद या शाश्वत आत्मवाद
- (3) कूटस्थ आत्मवाद या निष्क्रिय आत्मवाद एवं नियतिवाद

(4) परिणामी आत्मवाद या कर्त्ता आत्मवाद या पुरुषार्थवाद

(5) सूक्ष्म आत्मवाद

(6) विभु आत्मवाद (यही बाद में उपनिषदों का सर्वात्मवाद या ब्रह्मवाद बना है)।

महावीर अनेकान्तवादी थे, साथ ही वे इन विभिन्न आत्मवादों की दार्शनिक एवं नैतिक कमजोरियों को भी जानते रहे होंगे। अतः उन्होंने अपने आत्मवाद को इनमें से किसी भी सिद्धान्त के साथ नहीं बाँधा। उनका आत्मवाद इनमें से किसी भी एक वर्ग के अन्तर्गत नहीं आता, वरन् उनका आत्मवाद इन सबका एक सुन्दर संयोजित समन्वय है।

आचार्य हेमचन्द्र ने अपने वीतराग स्तोत्र में एकांत नित्य आत्मवाद और एकान्त अनित्य आत्मवाद के दोषों का दिग्दर्शन कराते हुए बताया है कि वीतराग का दर्शन इन दोनों के दोषों से मुक्त है। विस्तारभय से नित्य आत्मवाद और अनित्य आत्मवाद तथा कूटस्थ आत्मवाद और परिणामी आत्मवाद के दोषों की विवेचना में न पड़कर हमें केवल यही देखना है कि महावीर ने इन विभिन्न आत्मवादों का किस रूप से समन्वय किया है --

(1) नित्यता -- आत्मा अपने अस्तित्व की दृष्टि से सदैव रहता है अर्थात् नित्य है। दूसरे शब्दों में आत्म तत्त्व रूप से नित्य है, शाश्वत है।

(2) अनित्यता -- आत्मा पर्याय की दृष्टि से अनित्य है। आत्मा के एक समय में जो पर्याय रहते हैं, वे दूसरे समय में नहीं रहते हैं। आत्मा की अनित्यता व्यावहारिक दृष्टि से है, बद्धात्मा में ही पर्याय परिवर्तन के कारण अनित्यता का गुण रहता है।

(3) कूटस्थता -- स्वभाव की दृष्टि से आत्मा कर्त्ता या भोक्ता अथवा परिणमनशील नहीं है।

(4) परिणामीपन या कर्तृत्व -- सभी बद्धात्माएँ कर्मों की कर्त्ता और भोक्ता हैं। यह एक आकस्मिक गुण है, जो कर्म पुद्गलों के संयोग से उत्पन्न होता है।

(5-6) सूक्ष्मता तथा विभुता -- आत्मा संकोच एवं विकासशील है। आत्म-प्रदेश धनीभूत होकर इतने सूक्ष्म हो जाते हैं कि आगमिक दृष्टि से एक सूचिकाग्रभाग पर असंख्य आत्मा सशरीर निवास करती हैं। तलवार की सूक्ष्म तीक्ष्ण धार भी सूक्ष्म एकेन्द्रिक जीवों के शरीर तक को नष्ट नहीं कर सकती। विभुता की दृष्टि से एक ही आत्मा के प्रदेश यदि प्रसारित हों तो समस्त लोक को व्याप्त कर सकते हैं।

इस प्रकार हम देखते हैं कि महावीर का आत्मवाद तात्कालीन विभिन्न आत्मवादों का सुन्दर समन्वय है। यही नहीं वरन् यह समन्वय इस प्रकार प्रस्तुत किया गया है कि सभी प्रकार की आत्मवादी धारायें अपने-अपने दोषों से मुक्त हो-होकर आकार मिल जाती हैं।

हेमचन्द्र इस समन्वय की औचित्यता को एक सुन्दर उदाहरण द्वारा प्रस्तुत करते हैं--

गुडो हि कफ हेतुः स्यात् नागरं पित्तकारणम् ।
व्यात्मनि न दोषोऽस्ति गुडनागरभेषजे ।।

जिस प्रकार गुड कफ जनक और सौंठ पित्त जनक है लेकिन दोनों के समन्वय में यह दोष नहीं रहते ।

इसी प्रकार विभिन्न आत्मवाद पृथक्-पृथक् रूप से नैतिक अथवा दार्शनिक दोषों से ग्रस्त है, लेकिन महावीर द्वारा किये गये इस समन्वय में वे सभी अपने-अपने दोषों से मुक्त हो जाते हैं यही महावीर के आत्मवाद की औचित्यता है । यही उनका वैशिष्ट्य है ।

सन्दर्भ

1. मज्झिमनिकाय, 2/3/7
2. संयुक्तनिकाय, 3/1/1
- 3.
4. ये प्राचीनतम माने जाने वाले उपनिषद् महावीर के समकालीन ही हैं, क्योंकि महावीर के समकालीन "अजातशत्रु" का नाम निर्देश इनमें उपलब्ध है । बृहदा० 2/15-17
5. गीता अध्याय 3, श्लोक 27
अध्याय 2, श्लोक 21
अध्याय 8, श्लोक 17
6. अंगुत्तरनिकाय का छक्क निपात सुत्त तथा भगवान् बुद्ध, पृ० 185
(धर्मानन्दजी कौशम्बी)
7. गोशालक की छः अभिजातियाँ आध्यात्मिक विकास की भूमिकाएँ हैं --
1. कृष्ण, 2. नील, 3. लोहित, 4. हरित, 5. शुक्ल, 6. परमशुक्ल, तुलनीय,
7. जैनों का लेश्या-सिद्धान्त -- (1) कृष्ण, (2) नील, (3) कपोत,
(4) तेजो, (5) पद्म, (6) शुक्ल (विचारणीय तथ्य यह है कि गोशालक के अनुसार निर्यान्त्र साधु तीसरे लोहित नामक वर्ग में हैं जबकि जैन धारणा भी उसे तेजोलेश्या (लोहित) वर्ग का साधक मानती है)
8. छान्दोग्य उपनिषद्, 3/14/3
बृहदारण्यक उपनिषद्, 5/6/1
कठोपनिषद्, 2/4/12
9. गीता, अध्याय 2

निदेशक, पार्श्वनाथ शोधपीठ, वाराणसी-5

सकारात्मक अहिंसा की भूमिका

- प्रो. सागरमल जैन

अहिंसा की अवधारणा बीज रूप में सभी धर्मों में पायी जाती है। यहाँ तक कि यज्ञ-याग एवं पशु बलि के समर्थक वैदिक और यहूदी धर्म-ग्रन्थों में भी अहिंसा के स्वर मुखरित हुए हैं। चाहे ऋग्वेद में 'पुमान पुमांस परिपातु विश्वतः' (ऋग्वेद, 6/75/14) के रूप में एक-दूसरे के संरक्षण की बात कही गयी हो अथवा यजुर्वेद में इससे भी एक कदम आगे बढ़कर 'मित्रस्याहं चक्षुषा सर्वाणि भूतानि समीक्षे' (यजुर्वेद, 36.19) के रूप में सभी प्राणियों के प्रति मित्रभाव की कामना की गई हो, फिर भी वैदिक धर्म में पशुबलि न केवल प्रचलित ही रही, अपितु 'वैदिकी हिंसा न भवति' कहकर उसका समर्थन भी किया गया। इसी प्रकार यहूदी धर्मग्रन्थ Old-Testament में भी 10 आज्ञाओं के रूप में Thou Shalt not Kill 'तुम किसी की हत्या मत करो' का आदेश है। फिर भी उनके इस आदेश का अर्थ वही नहीं माना जा सकता है, जो जैन परम्परा में 'सव्ये सत्ता न हंतव्या' का है। यहाँ हमें स्पष्ट रूप से यह ध्यान रखना होगा कि अहिंसक चेतना का विकास या अहिंसा शब्द के अर्थ का विस्तार एक क्रम में हुआ है। शाब्दिक दृष्टि से "Thou Shalt not Kill" और "सव्ये सत्ता न हंतव्या"-- दोनों आदेशों का अर्थ यही है कि 'तुम हिंसा मत करो।' किन्तु इन आदेशों की जो व्याख्या यहूदी धर्म और जैन धर्म में की गई, वह भिन्न ही रही है। एक यहूदी के लिए इस आदेश का अर्थ स्वजातीय या स्वधर्मी बन्धु की हिंसा नहीं करने तक सीमित है। जबकि एक जैन के लिए उस आदेश का अर्थ है न केवल किसी प्राणी की, अपितु पृथ्वी, जल, वायु आदि की भी हिंसा न करने तक व्यापक है। इस प्रकार जैन और यहूदी परम्पराओं में इन आदेशों का जो अर्थ विकास हुआ है वह भिन्न-भिन्न है। यहाँ हमें यह भी नहीं भूलना चाहिए कि अहिंसा के अर्थ विकास की यह यात्रा किसी एक कालक्रम न होकर मानवजाति के विभिन्न वर्गों में सामाजिक चेतना एवं जीवन के विविध रूपों के प्रति संवेदनशीलता के विकास के परिणामस्वरूप हुई है। जो वर्ग या समाज जीवन के विविध रूपों के प्रति जितना अधिक संवेदनशील बना, उसने अहिंसा के अर्थ को उतना ही व्यापक अर्थ दिया। अहिंसा का यह अर्थ विकास भी एक आयामी न होकर त्रि-आयामी है। एक ओर स्वजाति और स्वधर्मी मनुष्य के हत्या के निषेध से प्रारम्भ होकर षट्जीवनिकाय, जिसमें जल, वायु, वनस्पति आदि भी सम्मिलित हैं, की हिंसा के निषेध तक इसने अपना अर्थ विस्तार पाया तो दूसरी ओर प्राण-वियोजन, अंग-छेदन, ताड़न-तर्जन, बन्धन आदि के बाह्य रूप से लेकर द्वेष, दुर्भावना और असजगता के आन्तरिक रूपों तक इसने गहराई में प्रवेश किया और यह माना गया कि द्वेष, दुर्भावना एवं असजगता भी हिंसा है, चाहे उनसे बाह्य रूप में प्राण-वियोजन की क्रिया घटित हुई हो या नहीं। तीसरी ओर हिंसा मत करो के निषेधात्मक रूप से लेकर करुणा, जीवन-रक्षण और सहयोग के विधायक अर्थ तक इसने अपनी यात्रा की।

प्रस्तुत परिचर्चा में हमारा मुख्य प्रतिपाद्य दया, करुणा, दान, सेवा और सहयोग के रूप में

अहिंसा का वह सकारात्मक पक्ष है जो दूसरों के जीवन-रक्षण के एवं उनके जीवन को कष्ट और पीड़ाओं से बचाने के प्रयत्नों के रूप में हमारे सामने आता है। यह सत्य है कि अहिंसा (Non-violence) शब्द अपने आप में निषेधात्मक है। व्युत्पत्ति की दृष्टि से उसका अर्थ हिंसा मत करो तक ही सीमित होता प्रतीत होता है, किन्तु प्रश्नव्याकरणसूत्र में अहिंसा के जो साठ पर्यायवाची नाम दिये गये हैं, उन साठ नामों सम्भवतः दो-तीन को छोड़कर शेष सभी उसके सकारात्मक या विधायक पक्ष को प्रस्तुत करते हैं। उसमें अहिंसा के पर्यायवाची साठ निम्न नाम वर्णित हैं-- 1. निर्वाण, 2. निर्वृत्ति, 3. समाधि, 4. शान्ति, 5. कीर्ति, 6. कान्ति, 7. प्रेम, 8. वैराग्य, 9. श्रुतांग, 10. तृप्ति, 11. दया, 12. विमुक्ति, 13. क्षान्ति, 14. सम्यक्आराधना, 15. महती, 16. बोधि, 17. बुद्धि, 18. धृति, 19. समृद्धि, 20. ऋद्धि, 21. वृद्धि, 22. स्थिति (धारक), 23. पुष्टि (पोषक), 24. नन्द (आनन्द), 25. भद्रा, 26. विशुद्धि, 27. लब्धि, 28. विशेष दृष्टि, 29. कल्याण, 30. मंगल, 31. प्रमोद, 32. विभूति, 33. रक्षा, 34. शील, 40. संयम, 41. शीलपरिग्रह, 42. संवर, 43. गुप्ति, 44. व्यवसाय, 45. उत्सव, 46. यज्ञ, 47. आयतन, 48. यतन, 49. अप्रमाद, 50. आश्वासन, 51. विश्वास, 52. अभय, 53. सर्व अमाघात (किसी को न मारना), 54. चोक्ष (स्वच्छ), 55. पवित्र, 56. शुचि, 57. पूता या पूजा, 58. विमल, 59. प्रभात और 60. निर्मलतर [प्रश्नव्याकरण, सूत्र 2/1/21]

इस प्रकार जैन आचार-दर्शन में अहिंसा शब्द एक व्यापक दृष्टि को लेकर उपस्थित होता है। उसके अनुसार सभी सदगुण अहिंसा में निहित हैं और अहिंसा एक मात्र नहीं सदगुण है, अपितु सदगुण-समूह की सूचक है।

हिंसा का प्रतिपक्ष अहिंसा है। यह अहिंसा की एक निषेधात्मक परिभाषा है। लेकिन हिंसा का त्याग मात्र अहिंसा नहीं है। निषेधात्मक अहिंसा जीवन के समग्र पक्षों को स्पर्श नहीं करती। वह आध्यात्मिक उपलब्धि नहीं कही जा सकती। निषेधात्मक अहिंसा मात्र बाह्य हिंसा नहीं करना है, यह अहिंसा के सम्बन्ध में मात्र स्थूल दृष्टि है। लेकिन यह मानना भ्रान्तिपूर्ण होगा कि जैनधर्म अहिंसा की इस स्थूल एवं बहिर्मुखी दृष्टि तब सीमित रही है। जैन-दर्शन का यह केन्द्रीय सिद्धान्त शाब्दिक दृष्टि से चाहे नकारात्मक है, लेकिन उसकी अनुभूति नकारात्मक नहीं है। उसकी अनुभूति सदैव ही विधायक रही है। अहिंसा सकारात्मक है इसका एक प्रमाण यह है कि जैनधर्म में अहिंसा के पर्यायवाची शब्द के रूप में "अनुकम्पा" का प्रयोग हुआ है। अनुकम्पा शब्द जैन दर्शन का एक महत्त्वपूर्ण शब्द है। उसमें सम्यक्त्व के एक अंग के रूप में भी अनुकम्पा का उल्लेख हुआ है। अनुकम्पा शब्द मूलतः दो शब्दों से मिलकर बना है -- अनु+कम्पन्। "अनु" शब्द के विविध अर्थों में एक अर्थ है -- साथ-साथ अथवा सहगामी रूप से और कम्पन् शब्द अनुभूति एवं चेष्टा का सूचक है। "अभिधान राजेन्द्रकेश" में अनुकम्पा शब्द की व्याख्या में कहा गया है -- "अनुरूपं कम्पतै चैष्टतः इति अनुकम्पतः"। वस्तुतः अनुकम्पा पर-पीड़ा का स्व-संवेदन है, दूसरों की पीड़ा या दुःख की समानानुभूति है। उसी में अनुकम्पा को स्पष्ट करत हुए यह भी कहा गया है कि पक्षपात अर्थात् रागभाव से रहित होकर दुःखी-प्राणियों की पीड़ा को, उनके दुःख को समाप्त करने की इच्छा ही अनुकम्पा है। यदि

अहिंसा की अवधारणा के साथ अनुकम्पा जुड़ी हुई है तो फिर उसे मात्र निषेध परक मानना एक भ्रान्ति है। अनुकम्पा एक विधायक शब्द है। जो लोग अनुकम्पा को मात्र निषेधपरक मानते हैं वे भ्रान्ति में हैं। अनुकम्पा में ने केवल दूसरों की पीड़ा का स्व-संवेदन होता है अपितु उसके निराकरण का सहस्र निःस्वार्थ प्रयत्न भी होते हैं। जब दूसरों की पीड़ा हमारी पीड़ा बन जाय तो यह असम्भव है कि उसके निराकरण का कोई प्रयत्न न हो। वस्तुतः जीवन में जब तक अनुकम्पा का हृदय नहीं होता तब तक सम्यक्-दर्शन भी सम्भव नहीं है। दूसरों की पीड़ा हमारी पीड़ा के समतुल्य तभी हो सकती है जब हम उसका स्व-संवेदन करें। वस्तुतः दूसरों की पीड़ा का स्व-संवेदन ही वह स्रोत है जहाँ से सम्यक्-दर्शन का प्रकटन होता है और सकारात्मक अहिंसा अर्थात् पर-पीड़ा के निराकरणार्थ सेवा की पावना गंगा प्रवाहित होती है। सर्वत्र आत्मभाव मूलक करुणा और मैत्री की विधायक अनुभूतियों से अहिंसा की धारा प्रवाहित हुई है। वस्तुतः "आत्मवत् सर्वभूतेषु" की विवेक-दृष्टि एवं जीवन के विविध रूपों के प्रति संवेदनशीलता की भावना को जब हम अहिंसा का तार्किक का आधार मानते हैं तो उसका अर्थ एक दूसरा रूप लेता है। "आत्मवत् सर्वभूतेषु" की विवेक-दृष्टि एवं सहानुभूति के संयोग में अहिंसा का एक सकारात्मक पक्ष सामने आता है। अहिंसा का अर्थ मात्र किसी को पीड़ा या दुःख देना ही नहीं है, अपितु उसका अर्थ, "दूसरों के दुःखों को दूर करने का प्रयत्न" भी है। यदि मैं अपनी करुणा को इतना सीमित बना लूँ कि मैं किसी को पीड़ा नहीं पहुँचाऊँगा तो वह सही अर्थ में करुणा नहीं होगी। करुणा का अर्थ है दूसरों की पीड़ा को अपनी पीड़ा के रूप में देखना। जब दूसरों की पीड़ा मेरी अपनी पीड़ा बन जाती है तो फिर उस पीड़ा को दूर करने के प्रयत्न भी प्रस्फुटित होते हैं। यदि कोई व्यक्ति यह प्रतिज्ञा कर ले कि मैं किसी की हिंसा नहीं करूँगा, किसी को कष्ट नहीं दूँगा और चाहे वह यथार्थ में इसका पालन भी करता हो, लेकिन यदि वह दूसरों की पीड़ा से द्रवीभूत होकर उनकी पीड़ा को दूर करने का प्रयत्न नहीं करता है, तो वह निष्ठुर ही कहलायेगा। वस्तुतः जब "आत्मवत् सर्वभूतेषु" की विवेक-दृष्टि संवेदनशीलता की मनोभूमिका पर स्थित होती है तो दूसरों की पीड़ा हमारी पीड़ा बन जाती है। वस्तुतः अहिंसा का आधार मात्र तार्किक-विवेक नहीं है, अपितु भावनात्मक-विवेक है। भावनात्मक विवेक में दूसरों की पीड़ा अपनी पीड़ा होती है और जिस प्रकार अपनी पीड़ा को दूर करने के प्रयत्न सहजस्वरूप से होते हैं, उसी प्रकार दूसरों की पीड़ा को दूर करने के प्रयत्न भी सहज रूप में अभिव्यक्त होते हैं। दूसरों की पीड़ाओं को दूर करने के इसी सहज प्रयत्न में अहिंसा का सकारात्मक पक्ष सन्निहित है।

यदि अहिंसा में से उसका यह सकारात्मक पक्ष अलग कर दिया जाता है तो अहिंसा का हृदय ही शून्य हो जाता है। मिसेस स्टीवेन्सन ने जैन अहिंसा को जो हृदय शून्य बताया है उसके पीछे उनकी यही दृष्टि रही है। (The Heart of Jainism, p.296) यद्यपि यह उनकी भ्रान्ति ही थी, क्योंकि उन्होंने जैनधर्म में निहित अहिंसा के सकारात्मक पक्ष को, जो न केवल सिद्धान्त में अपितु व्यवहार में भी आज तक जीवित है, देखने का प्रयत्न ही नहीं किया। उन्होंने मात्र अपने काल के सम्प्रदाय-विशेष के कुछ जैन मुनियों के आचार, व्यवहार और उपदेश के आधार पर ऐसा निष्कर्ष निकाल लिया था।

अहिंसा के निषेधात्मक पक्ष की प्रमुखता के आगमिक आधार

यह सत्य है कि श्रमण परम्परा ने और विशेष रूप से जैनधर्म ने अहिंसा के अर्थ-विस्तार को एक व्यापकता प्रदान की है। किन्तु इसके साथ यह भी सत्य है कि इस अहिंसा के अर्थ-विस्तार के साथ अनेक दार्शनिक समस्याएँ भी उत्पन्न हुईं। अहिंसा के क्षेत्र का विस्तार करते हुए जब एक ओर यह मान लिया गया कि जीवन के किसी भी रूप को दुःख या पीड़ा देना अथवा उसके अहित और अकल्याण का चिन्तन करना हिंसा है, साथ ही दूसरी ओर यह भी स्वीकार कर लिया गया कि न केवल मनुष्य-जगत, पशु-जगत और वनस्पति-जगत में जीवन है, अपितु पृथ्वी, जल, वायु आदि भी जीवन-युक्त है, तो यह समस्या उत्पन्न हुई कि जब जीवन के एक रूप के अस्तित्व के लिए उसके दूसरे रूपों का विनाश या हिंसा अपरिहार्य हो तो ऐसी स्थिति में चुनाव हिंसा और अहिंसा के बीच न करके दो हिंसाओं के बीच ही करना पड़ेगा? जिन चिन्तकों ने जीवन के सभी रूपों को समान मूल्य और महत्त्व का समझा, उन्हें अहिंसा के सकारात्मक पक्ष की उपेक्षा करनी पड़ी। क्योंकि सकारात्मक अहिंसा अर्थात् सेवा, दान, परोपकार आदि की सभी क्रियाएँ प्रवृत्त्यात्मक हैं और प्रवृत्ति जैन पारिभाषिक शब्दावली में योग चाहे किसी भी रूप में क्यों न हो उसमें कहीं न कहीं हिंसा/आसव का तत्त्व तो होता ही है। यदि हम प्रवृत्ति के पूर्ण निषेध को ही साधना का लक्ष्य मानें, तो ऐसी स्थिति में स्वाभाविक रूप से अहिंसा की अवधारणा निषेधमूलक होगी। ज्ञातव्य है कि उन सभी धर्मों के लिए जिन्होंने पृथ्वी, जल, वायु, वनस्पति आदि में जीवन ही नहीं माना अथवा यह मान लिया कि जीवन के ये विविधरूप समान मूल्य या महत्त्व के नहीं हैं अथवा यह कि परमात्मा ने जीवन के इन दूसरे रूपों को मनुष्य के उपयोग के लिए ही बनाया है, उन्हें अहिंसा के सकारात्मक पक्ष को स्वीकार करने में कोई बाधा नहीं आई। समस्या केवल उनके लिए थी, जो जीवन के इन विविध रूपों को समान मूल्य या महत्त्व का मान रहे थे।

यह सत्य है कि जैन परम्परा में निवृत्ति और जीवन के विविध रूपों की समानता पर पर अधिक बल दिया गया और परिणामस्वरूप जैनधर्म में अहिंसा का निषेधात्मक पक्ष अधिक प्रमुख बना। विशेष रूप से उन जैन श्रमणों के लिए जो निवृत्त्यात्मक साधना को ही जीवन का एक मात्र उच्चादर्श मान रहे थे। उनके जीवन-व्यवहार एवं आचार-नियमों को इस रूप में ढाला गया कि वे मुख्य रूप से अहिंसा के निषेधात्मक पक्ष के समर्थक बन कर रह गये। जैनधर्म के प्राचीनतम आगम ग्रन्थों में ऐसे कुछ सन्दर्भ अवश्य हैं जो अहिंसा के इस नकारात्मक पहलू को ही प्रमुखता देते हैं। सूत्रकृतांग (1/11/18-20) में एक उल्लेख है कि जब मुनि से कोई गृहस्थ यह पूछे कि मैं दानशाला आदि बनवाना चाहता हूँ, इसमें आपकी क्या सम्मति है? तो मुनि उस समय मौन रहें। सूत्रकार ने यह भी स्पष्ट किया है कि यदि मुनि उसकी उस प्रवृत्ति का समर्थन करता है तो उसमें होने वाली पृथ्वी, जल, वनस्पति आदि की प्रत्यक्ष हिंसा एवं द्वेन्द्रिय आदि जीवों की परोक्ष हिंसा का भागीदार बनता है। इसके विपरीत यदि वह उस दानादि की प्रवृत्ति का निषेध करता है तो वह उसके द्वारा से जिन प्राणियों का कल्याण, हित एवं सुख होने वाला है उसमें बाधक बनता है। अतः दोनों ही स्थितियों में कहीं न कहीं हिंसा

का कोई तत्त्व अवश्य ही रहता है। यही कारण था कि ऐसी स्थिति में उसे मौन रहने की सम्मति दी गयी। जैनागमों का यह प्रसंग एक ऐसा प्रसंग है जिसे सामान्य रूप से अहिंसा के नकारात्मक पक्ष की पुष्टि हेतु प्रस्तुत किया जाता रहा है। किन्तु इस आधार पर जैनधर्म में अहिंसा की नकारात्मक व्याख्या को स्वीकार करना भी एक भ्रान्ति ही होगी। क्योंकि हिंसा के अल्प-बहुत्व के विचार के साथ-साथ जैन आगमों में ऐसे भी उल्लेख हैं जो अनिवार्य बनी दो हिंसा में अल्प हिंसा को वरेण्य मानते हैं।

यह सत्य है कि सकारात्मक अहिंसा अर्थात् जीवन-रक्षण सेवा, दान, परोपकार आदि के प्रयत्नों में कहीं न कहीं हिंसा का तत्त्व अवश्य उपस्थित रहता है, क्योंकि ये सब प्रवृत्त्यात्मक है। जहाँ प्रवृत्ति है वहाँ क्रिया (योग) होगी, जहाँ क्रिया होगी वहाँ आस्रव होगा और जहाँ आस्रव होगा वहाँ बन्ध भी होगा। जहाँ बन्ध होगा वहाँ हिंसा होगी, चाहे वह स्व-स्वरूप की हिंसा ही क्यों न हो ? बस इस तर्क शैली ने अहिंसा की निषेधमूलक व्याख्या को बल दिया।

प्रथम प्रश्न तो यह है कि क्या जैनधर्म एकान्त रूप से निवृत्त्यात्मक ही है ? दूसरे क्या समाधिमरण के अन्तिम क्षणों को छोड़कर जीवन में प्रवृत्ति का पूर्ण निषेध सम्भव है ? क्या महावीर का उपदेश एकान्त रूप से निवृत्ति या श्रमण जीवन के लिए ही है ? क्या जैनधर्म में जीवन के सभी रूप समान मूल्य एवं महत्त्व के हैं ?

जैन दर्शन की अनेकान्तिक दृष्टि

आये इन प्रश्नों पर थोड़ी गम्भीरता से चर्चा करें। जैनधर्म और दर्शन मूलतः अनेकान्त दृष्टि पर अधिष्ठित है और अनेकान्त दृष्टि कभी भी एकपक्षीय नहीं होती। दूसरे जब तक जीवन है तब तक पूर्ण रूप से निवृत्ति सम्भव नहीं है। प्रवृत्ति प्राणीय जीवन या हमारे जातीय अस्तित्व का लक्षण है। गीता (3/5) में भी कहा गया है कि जीवन में कोई भी क्षण ऐसा नहीं होता जिसमें प्राणी कर्म या क्रिया से पूर्णतः निवृत्त होते हैं। प्रवृत्ति प्राणी जीवन की अनिवार्यता है। जब तक हमारा सांसारिक अस्तित्व रहता है कहीं न कहीं प्रवृत्ति होती ही रहती है। पूर्ण निवृत्ति का आदर्श चाहे कितना ही उच्च क्यों न हो ? वह एक आदर्श ही है, यथार्थ नहीं। जैनदर्शन के अनुसार निर्वाण प्राप्ति के कुछ क्षण पूर्व के सांसारिक अस्तित्व को छोड़कर पूर्ण निवृत्ति का आदर्श कभी भी यथार्थ नहीं बनता है। चाहे हम मुनि जीवन ही क्यों नहीं जिये—पूर्ण अहिंसा का पालन तो वहाँ भी सम्भव नहीं है। शारीरिक गतिविधियाँ, श्वसन, आहार-विहार और शारीरिक मलों का विसर्जन सभी में कहीं न कहीं हिंसा होती तो अवश्य है। यथार्थ जीवन में प्रवृत्ति से या क्रिया से पूर्ण रूप से निवृत्त हो पाना सम्भव ही नहीं है और यदि यह सम्भव नहीं है, तो ऐसी स्थिति में हमें प्रवृत्ति के उन रूपों को ही चुनना होगा, जिनमें हिंसा अल्पतम हो। जब प्रवृत्ति या हिंसा जीवन की एक अपरिहार्यता है, तो हमें यह विचारना होगा कि हमारी प्रवृत्ति की दशा ऐसी हो जिसमें हिंसा कम से कम हो। वह हिंसा कर्म आस्रव या कर्मबन्ध का हेतु न बने। यहीं से सकारात्मक अहिंसा को एक आधार मिलता है।

सकारात्मक अहिंसा विष मिश्रित दूध नहीं है

सकारात्मक अहिंसा में निश्चित रूप से अंशतः हिंसा का कोई न कोई रूप समाविष्ट होता है किन्तु उसे विष मिश्रित दूध कहकर त्याज्य नहीं कहा जा सकता। उसमें चाहे हिंसा रूपी विष के कोई कण उपस्थित हो, किन्तु ये विष-कण विषौषधी के समान मारक नहीं तारक होते हैं। जिसप्रकार विष की मारक शक्ति को समाप्त करके उसे औषधी रूपी अमृत में बदल दिया जाता है, उसी प्रकार सकारात्मक अहिंसा में जो हिंसा या रागात्मकता के रूप परिलक्षित होते हैं, उन्हें विवेकपूर्ण कर्तव्य भाव के द्वारा बन्धन के स्थान पर मुक्ति के साधन के रूप में बदला जा सकता है। जिस प्रकार विष से निर्मित औषधी अस्वास्थ्यकर न होकर आरोग्यप्रद ही होती है, उसी प्रकार सकारात्मक अहिंसा भी सामाजिक स्वास्थ्य के लिए आरोग्यकर ही होती है। जब हम अपने अस्तित्व के लिए, अपने जीवन के रक्षण के लिए प्रवृत्ति और तदजन्य आंशिक हिंसा को स्वीकार कर लेते हैं तो फिर हमारे इस तर्क का कोई आधार नहीं रह जाता, कि हम सकारात्मक अहिंसा को इसलिए अस्वीकार करते हैं कि उसमें हिंसा का तत्त्व होता है और वह विष मिश्रित दूध है। अपने अस्तित्व के लिए की गई हिंसा क्षम्य है तो दूसरों के अस्तित्व या रक्षण हेतु की गई हिंसा क्षम्य क्यों नहीं होगी ?

पुनः दूसरों के अस्तित्व के लिए की जाने वाली प्रवृत्तियों में हमें रागात्मकता लगे तो क्या अपने हेतु की गयी वृत्ति में रागात्मकता नहीं होगी। जब प्रवृत्ति या क्रिया से पूर्ण निवृत्ति सम्भव ही नहीं है तो ऐसी स्थिति में क्रिया को वह रूप देना होगा जो बन्धन और हिंसा के स्थान पर विमुक्ति और अहिंसा से जुड़े। मात्र कर्तव्य बुद्धि से की गई परोपकार की प्रवृत्ति ही ऐसी है जो हमारी प्रवृत्ति को बन्धक से अबन्धक बना सकती है।

यही कारण था कि जैन परम्परा में ईर्यापथिक क्रिया और ईर्यापथिक बन्ध की अवधारणा अस्तित्व में आयीं। ये बाह्य रूप से चाहे क्रिया और बन्ध कहे जाते हों, किन्तु वे वस्तुतः बन्धन के नहीं, विमुक्ति के ही सूचक हैं, तीर्थंकर की लोककल्याण की समस्त प्रवृत्तियाँ भी ईर्यापथिक क्रिया और ईर्यापथिक बन्ध मानी गयी हैं। उनका प्रथम समय में बन्ध होता है और द्वितीय समय में निर्जरा हो जाती है। इस प्रकार वीतराग पुरुष की प्रवृत्ति रूप क्रिया के द्वारा जो आस्रव और बन्ध होता है उसका स्थायित्व एक क्षण भी नहीं होता है। उत्तराध्ययनसूत्र (25/42) में कहा है कि जैसे गीली मिट्टी का गोला दीवाल पर फेंकने से चिपक जाता है किन्तु सूखी मिट्टी का गोला नहीं चिपकता, अपितु तत्क्षण गिर जाता है। यही स्थिति वीतराग भाव या निष्काम भाव से की गयी क्रियाओं की होती है। उनसे जो आस्रव होता है वह आत्मप्रदेशों से मात्र स्पर्शित होता है वस्तुतः बन्धक नहीं होता। बन्धन का मूल कारण तो राग-द्वेष या कषायजन्य प्रवृत्ति है। अतः निष्काम भाव से जो लोक-मंगल के लिए, दूसरों के दुःखहरण के हेतु सेवा, परोपकार आदि जो प्रवृत्ति की जाती है वह क्रिया रूप होकर के भी बन्धक नहीं है और इस प्रकार जो लोग "सकारात्मक अहिंसा" में बन्धन की सम्भावनाओं को देखते हैं उनका चिन्तन सम्यक् नहीं है।

तीर्थंकरों की जीवन शैली और सकारात्मक अहिंसा

जैन परम्परा में तीर्थंकर का पद सर्वोच्च माना जाता है। उसकी श्वेताम्बर और दिगम्बर दोनों ही परम्पराओं में तीर्थंकर नामकर्म उपार्जन के जिन कारणों की चर्चा हुई उनमें हम देखते हैं कि सेवा और वात्सल्य मूलक प्रवृत्तियों को सबसे प्रमुख स्थान मिला है। उसमें वृद्ध, ग्लान-रूग्ण, बालक आदि की सेवा का स्पष्ट निर्देश है। यही नहीं परम्परागत रूप में तीर्थंकर जीवन की जिन विशेषताओं की जो चर्चा की जाती है उनमें हम पाते हैं कि प्रत्येक तीर्थंकर दीक्षित होने के पूर्व एक वर्ष तक प्रतिदिन करोड़ों स्वर्ण मुद्राओं का दान करते हैं। यह अवधारणा स्वतः ही इस तथ्य की सूचक है कि दान और सेवा की प्रवृत्ति तीर्थंकरों के द्वारा आचरित एवं अनुमोदित है। जैन कथा साहित्य में यह बताया गया है कि भगवान शान्तिनाथ ने अपने पूर्वभव में एक कबूतर की रक्षा करते हुए अपने शरीर का मांस तक दे दिया था। इस प्रकार अन्य तीर्थंकरों के जीवनवृत्तों में भी प्राणियों के जीवनरक्षण के साथ-साथ उनकी सेवा, दान आदि की प्रवृत्ति के उदाहरण देखे जा सकते हैं। स्वयं महावीर ने दीक्षित होने के पश्चात् न केवल निर्धन ब्राह्मण को अपना वस्त्र दान कर दिया, अपितु मिथ्यादृष्टि गोशालक की शीतलेश्या फेंक कर जीवन-रक्षा भी की।

मात्र यही नहीं केवलज्ञान प्राप्त करने के पश्चात् भी तीर्थंकर मात्र लोक कल्याण हेतु ही पदयात्रा करते हुए अपना प्रवचन देते हैं। केवलज्ञान प्राप्त करने के पश्चात् तीर्थंकर के जीवन में ऐसा कुछ शेष नहीं रहता जो उनके लिए प्राप्तव्य हो। प्रश्नव्याकरण में स्पष्ट कहा गया है कि-- "सर्व जगज्जीवररक्षण दयदृष्ट्याए पावयनं भगव्या सुकहिय" (2/9) अर्थात् भगवान ने समस्त जागतिक जीवों के रक्षण और दया के हेतु ही अपना उपदेश दिया। इससे यह प्रतिफलित होता है कि वीतराग परमात्मा में भी लोकमंगल व लोककल्याण की भावना उपस्थित रहती है। यदि यह लोकमंगल की वृत्ति रागात्मक होती तो फिर वीतराग में वह कैसे उपस्थित रह सकती थी। इसका एक तात्पर्य यह है कि संयमी जीवन में भी अपनी मर्यादाओं को ध्यान में रखते हुए व्यक्ति लोकमंगल की प्रवृत्तियों से जुड़ा रह सकता है।

क्या पुण्यकर्म बन्धन के हेतु है ?

सकारात्मक अहिंसा अर्थात् जीवों की रक्षा और सेवा तथा उस हेतु की जाने वाली दान-परोपकार आदि की प्रवृत्तियों के महत्त्व एवं और मूल्य को स्वीकारने में सबसे अधिक बाधक अवधारणा यह है कि परोपकार, सेवा और प्राणीकल्याण की अन्य सभी प्रवृत्तियाँ पुण्य-बन्ध का हेतु है, निर्जरा का हेतु नहीं और बन्धन चाहे पुण्य का हो या पाप का वह बन्धन ही है और इसलिए अध्यात्मसाधना का विरोधी है। पुण्य को भी बन्धन का हेतु मानकर इन विचारकों ने अहिंसा के सकारात्मक पक्ष की उपेक्षा की। आचार्य कुन्द-कुन्द ने पुण्य और पाप का अन्तर स्पष्ट करते हुए पुण्य को सोने की और पाप को लोहे की बेड़ी कहा और अन्त में पुण्य और पाप दोनों से उपर उठने की बात कही है (समयसार 146)। यह सत्य है कि पुण्य और पाप की अधिकांश परिभाषाएँ इस अवधारणा पर खड़ी हैं कि जो दया और जीवन-रक्षण के जो कार्य हैं, वे पुण्य हैं और जो दूसरों के अहित और दुःख के कार्य हैं, वे पाप हैं। सामान्य रूप से यह कहा जाता है कि "परोपकारं पुण्याय पापाय परपीडनं।" गोस्वामी तुलसीदास ने भी

कहा है "परहित सरिस धर्म नहीं भाई। परपीडा सम नहीं अधमाई।" यह सत्य है कि परोपकार पुण्य है और तत्त्वार्थसूत्र (6/2-4) में उमास्वाति ने पुण्य और पाप दोनों को आस्रव का एक भेद भी माना है और आस्रव को बन्ध का हेतु मानने के कारण बाद में यह अवधारणा दृढीभूत हो गयी कि पुण्यबन्धन का ही हेतु है। किन्तु यह दृष्टिकोण जैनसिद्धान्त की दृष्टि से भी भ्रामक ही है। प्रथम तो सभी आस्रव वस्तुतः बन्धन के कारण नहीं होते हैं दूसरे यह मानना भी भ्रान्ति है कि पुण्य मात्र आस्रव है। प्राचीन आगमों में वह स्वतन्त्र तत्त्व है। वह आस्रव और बन्ध है तो साथ ही सँवर और निर्जरा भी है। जैन आचार्यों ने शुभयोग को सँवर माना है। वह निर्जरा भी है और निर्जरा का हेतु भी है। पुण्य तो उस साबुन के समान है जो पाप रूपी मल को निकालने के साथ स्वतः भी बिना प्रयास के निर्जरित हो जाता है। ज्ञातव्य है कि पाप बन्ध की निर्जरा करना होती है। पुण्य तो स्वतः निर्जरित हो जाता है।

जैसा कि हमने पूर्व में संकेत किया है। जैन आचार्य क्रिया या आस्रव के दो भेद करते हैं--

1. साम्प्रदायिक और 2. ईर्यापथिक। ईर्यापथिक क्रिया के माध्यम से जो आस्रव होता है वह दूसरे समय में ही निर्जरित हो जाता है। जिस आस्रव जनित बन्ध की स्थिति एक समय भी सत्ता रूप नहीं रहती हो उसे बन्ध कहना मात्र औपचारिकता है, यथार्थ में वह बन्ध नहीं है।

यह सत्य है कि यदि सेवा, परोपकार और जीवों के रक्षण के पीछे रागात्मकता का भाव है तो वे बन्धन के कारण हैं किन्तु सेवा, परोपकार और जीवों के रक्षण की सभी प्रवृत्तियाँ रागात्मकता से ही प्रेरित होकर नहीं होती हैं अपितु वह परपीडा के स्वसंवेदन के कारण भी होती हैं। जब दूसरों के प्रति आत्मवत् दृष्टि का विकास हो जाता है तो उनकी पीड़ा हमारी पीड़ा बन जाती है और ऐसी स्थिति में जिस प्रकार अपनी पीड़ा को दूर करने के प्रयत्न होते हैं। उसी प्रकार दूसरों की पीड़ा को दूर करने के भी प्रयत्न होते हैं। ज्ञानात्मक दृष्टि से आत्मतुल्यता का विचार और भावात्मक दृष्टि से परपीडा का स्व-संवेदन स्वाभाविक रूप से लोक-कल्याण की प्रवृत्तियों को अर्थात् रक्षण, सेवा, दान, परोपकार आदि को जन्म देते हैं। अतः यह मानना भ्रान्त है कि लोक-कल्याण की सभी प्रवृत्तियों के पीछे राग-भाव होता है। व्यावहारिक जीवन में भी ऐसे अनेक अवसर होते हैं जब दूसरे प्राणी की पीड़ा से हमारी अन्तरात्मा कलुषाग्र हो जाती है और हम उसकी पीड़ा को दूर करने के प्रयत्न करते हैं। वहाँ रागात्मकता नहीं होती है। वहाँ केवल विवेक-बुद्धि और परपीडा के स्व-संवेदन से उत्पन्न कर्तव्यता का भाव ही होता है, जो उस सकारात्मक अहिंसा का प्रेरक होता है। दूसरों के प्रति रागात्मकता में और कर्तव्य बोध में बड़ा अन्तर होता है। राग के साथ द्वेष अवश्य रहता है। जबकि कर्तव्य बोध में उसका अभाव होता है। किसी राहगीर की पीड़ा से जो हृदय द्रवित होता है, वह राग के कारण नहीं अपितु परपीडा के स्व-संवेदन या आत्मतुल्यता के भाव के कारण होता है। पालतू कुत्ते की पीड़ा को दूर करने में और किसी सड़क पर पड़े हुए कुत्ते की पीड़ा को दूर करने में अन्तर है। पहले में रागभाव है, दूसरे में मात्र परपीडा का आत्मसंवेदन। जब दूसरों के रक्षण, पोषण, सेवा और परोपकार के कार्य मात्र कर्तव्य बुद्धि अथवा परपीडा के आत्मसंवेदन से होते हैं, तो उनमें रागात्मकता का तत्त्व नहीं होता और यह सुस्पष्ट है कि

रागात्मकता के अभाव में चाहे कोई क्रिया कर्माख्य का कारण भी बने तो भी वह बन्धन कारक नहीं हो सकती। क्योंकि उत्तराध्ययन (32/7) आदि जैन ग्रन्थों में बन्धन का मुख्य कारण राग और द्वेष की वृत्तियाँ ही मानी गयी हैं। दूसरों के रक्षण और सम्मोषण के प्रयत्नों में चाहे किसी सीमा तक हिंसा की बाह्य प्रवृत्ति भी हो सकती है किन्तु वह यथार्थ रूप में बन्धन का हेतु नहीं है। यदि हम ऐसी प्रवृत्तियों को बन्धन रूप मानेंगे तो फिर तीर्थंकर की लोक-कल्याणकारी प्रवृत्तियों अर्थात् लोकमंगल के लिए विहार और उपदेश के कार्य को भी बन्धन को हेतु मानना होगा, किन्तु आगम के अनुसार उनका उपदेश संसार के जीवों के रक्षण के लिए होता है, वह बन्धन का निमित्त नहीं होता है।

निष्काम कर्म बन्धक नहीं है ?

इस समग्र चर्चा से यह फलित होता है कि पुण्य कर्म यदि मात्र कर्तव्य बुद्धि से अथवा राग-द्वेष से उपर उठकर किये जाते हैं तो वे बन्धक नहीं हैं। पुण्यबन्ध का कारण केवल तभी बनता है जब वह रागभाव से युक्त होता है। ज्ञातव्य है कि अपने किसी परिजन के रक्षण के प्रयत्नों की और मार्ग में चलते हुए पीड़ा से तड़फड़ाते किसी प्राणी के रक्षण के प्रयत्नों की मनोभूमिका कभी भी एक ही स्तर के नहीं होती है। प्रथम स्थिति में रक्षण के समस्त प्रयत्न रागभाव से या ममत्वबुद्धि से प्रतिफलित होते हैं, जबकि दूसरी स्थिति में आत्मतुल्यता के आधार पर परपीड़ा का स्व-संवेदन होता है और यह परपीड़ा का स्व-संवेदन अथवा कर्तव्य बुद्धि ही व्यक्ति को परोपकार या पुण्य कर्म हेतु प्रेरित करती है।

जैन परम्परा में यहाँ सम्यक्दृष्टि जीव के आचारण के सम्बन्ध में कहा गया है--

सम्यक् दृष्टि जीवडा करे कुटुम्ब प्रतिपाल।

अन्तर सू न्यारों रहे ज्यू धाय खिलावे बाल।।

यह अनासक्त दृष्टि अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है। वस्तुतः अलिप्तता और निष्कामता ही एक ऐसा तत्त्व है, जो किसी कर्म की बन्धक शक्ति को समाप्त कर देता है। जहाँ अलिप्तता है, निष्कामता है, वीतरागता है, वहाँ बन्धन नहीं। जिस पुण्य को बन्धन कहा जाता है वह पुण्य रागात्मकता से निश्चित पुण्य है। हम यह नहीं कह सकते हैं कि विश्व में समस्त प्रवृत्तियाँ राग से ही प्रेरित होती हैं। अनेक प्रवृत्तियाँ ऐसी हैं जो मात्र कर्तव्य बुद्धि से फलित होती हैं। दूसरे की पीड़ा हमारी पीड़ा इसलिए नहीं बनती है कि उसके प्रति हमारा रागभाव होता है, अपितु आत्मतुल्यता का बोध ही हमारे द्वारा उसकी पीड़ा के स्व-संवेदन का कारण होता है। जब किसी दूसरे शहर में होते हैं और वहाँ पीड़ा से तड़फड़ाते किसी मानव को सड़क पर पड़ा हुआ देखते हैं तो हम करुणाद्रोहो उठते हैं-- यहाँ कौन सा रागभाव होता है। जो लोग दूर-दराज के गाँवों में जाकर चिकित्सा शिविर लगवाते हैं-- उनमें जो भी रोगी आते हैं, क्या उनके प्रति शिविर लगवाने वाले व्यक्ति का कोई राग-भाव होता है ? वह तो यह भी नहीं जानता है उसमें कौन लोग आयेंगे, फिर उन अज्ञात लोगों के प्रति उसमें राग भाव कैसे हो सकता है ? अतः यह एक भ्रान्त धारणा है रक्षा, सेवा, परोपकार आदि प्रवृत्तियों के पीछे सदैव रागभाव होता

है। जब राग नहीं होता है तो द्वेष भी नहीं होता है और जहाँ राग-द्वेष का अभाव होता है वहाँ बन्धन सम्भव ही नहीं है। इसी प्रकार एक डाक्टर जब किसी रोगी के सड़े हुए अंग का आपरेशन करके उसे निकालता है तो उसमें उस सड़े हुए अंग में निहित कीटाणुओं के प्रति द्वेष और रोगी के प्रति राग नहीं होता है। मात्र बचाने का भाव होता है। किसी प्यासे को पानी पिलाते समय हमें न तो जल के जीवों के प्रति द्वेष होता है और न प्यासे के प्रति राग। अतः सेवा, परोपकार आदि की प्रवृत्तियाँ राग-द्वेष से प्रेरित नहीं होती है अतः वे बन्धक भी नहीं होती है।

वस्तुतः सकारात्मक अहिंसा अर्थात् जीवन-रक्षण, सेवा, परोपकार आदि की प्रवृत्तियाँ रागात्मकता पर आधारित न होकर "आत्मवत् सर्वभूतेषु" की भावना पर आधारित होती हैं। "आत्मवत् सर्वभूतेषु" की यह अनुभूति तब तक यथार्थ नहीं बनती जब तक की व्यक्ति के लिए दूसरों के पीड़ा और दुःख अपने नहीं बन जाते। यद्यपि जैन दर्शन प्रत्येक आत्मा की स्वतन्त्र सत्ता को स्वीकार करता है किन्तु साथ ही साथ वह यह भी मानता है कि संसार के सभी प्राणी मेरे ही समान हैं। आचारांगसूत्र (1/5/5) में स्पष्ट रूप से यह कहा गया है कि "जिसे तू दुःख देना चाहता है वह तू ही है।" यहाँ विवेक और संवेदनशीलता के आधार पर ही "आत्मवत् सर्वभूतेषु" की भावना को खड़ा किया गया है। वह मात्र तार्किक नहीं है। जब तक संसार के सभी प्राणियों के प्रति आत्मवत् भाव उत्पन्न नहीं होता है तब तक अहिंसा का अंकुर प्रकट ही नहीं हो सकता। अहिंसा के लिए रागात्मकता नहीं आत्मवत् दृष्टि आवश्यक है। क्योंकि यदि रागात्मकता सकारात्मक अहिंसा का आधार होगी तो व्यक्ति केवल अपने की सेवा में प्रवृत्त होगा, दूसरों की सेवा में नहीं। सकारात्मक अहिंसा अर्थात् रक्षा, सेवा आदि का आधार न तो प्रत्युपकार की भावना या स्वार्थ होता है और न राग। वह खड़ी होती है--विवेकजन्य कर्तव्य बोध के आधार पर।

क्या जीवन के सभी रूप समान महत्त्व हैं ?

अहिंसा की नकारात्मक व्याख्या के लिए सबसे अधिक जिम्मेदार यह अवधारणा रही कि जीवन के विविध रूप समान मूल्य और महत्त्व के हैं। परिणामस्वरूप जीवन के एक रूप बचाने में दूसरी रूपों की हिंसा अपरिहार्य होने पर जीवन-रक्षण के प्रयत्न को ही पाप या हिंसा में परिगणित कर लिया गया। यह सत्य है कि एक के जीवन के रक्षण एवं पोषण के लिये दूसरे जीवनों की कुर्बानी करनी ही पड़ती है। यदि हम एक वृक्ष या पौधे को जीवित रखना चाहते हैं तो उसे पानी तो देना ही होगा। वनस्पतिकाय के संरक्षण और वर्धन के लिए पृथ्वीकाय, अपकाय और वायुकाय की हिंसा अपरिहार्य रूप से होगी। यदि हम किसी त्रस प्राणी के जीवन-रक्षण का कोई प्रयत्न करते हैं, तो हमें न केवल वनस्पतिकाय की अपितु पृथ्वीकाय, अपकाय आदि की हिंसा से जुड़ना होगा। इस संसार में जीवन जीने की व्यवस्था ही ऐसी है कि जीवन का एक रूप दूसरे रूप के आश्रित है और उस दूसरे रूप के हिंसा के बिना हम प्रथम रूप को जीवित नहीं रख सकते। यह समस्या प्राचीन जैनाचार्यों के समक्ष भी आयी थी। इस समस्या का समाधान उन्होंने अपने हिंसा के अल्प-बहुत्व के सिद्धान्त के आधार पर किया।

हिंसा के अल्प-बहुत्व की यह अवधारणा मुख्यतः दो दृष्टि से विचारित की गयी है-- प्रथमतः उस हिंसा, अहिंसा के पीछे रही हुई मनोवृत्ति या प्रेरक तत्त्व के आधार पर जो दो प्रकार का हो सकता है-- 1. विवेक पर आधारित और 2. भावना पर आधारित और दूसरे प्राण-वध के स्वरूप के आधार पर। विवेक पर आधारित कर्म के प्रेरक तत्त्व या मनोभूमिका में मूलतः यह बात देखी जाती है कि वह कर्म क्यों किया जा रहा है। वह कर्तव्य बुद्धि से किया जा रहा है या स्वार्थ बुद्धि से। मात्र कर्तव्य बुद्धि से रागात्मकता के अभाव में जो कर्म किये जाते हैं वे ईर्यापथिक होते हैं। दूसरे शब्दों में उनके द्वारा होने वाला बन्धन यथार्थ में बन्धन नहीं होता है। इसके विपरीत जो कर्म स्वार्थ पूर्ति के लिए होते हैं वे कर्म बन्धक होते हैं। यह सम्भव है कि व्यक्ति को अपने कर्तव्य का पालन करते समय हिंसा हो या उसे हिंसा करनी पड़े, किन्तु राग-द्वेष की वृत्तियों से ऊपर उठकर मात्र कर्तव्य के परिपालन में होने वाली हिंसा बंधक या अनुचित नहीं होती। उदाहरण के रूप में जैन मुनि आवश्यक क्रिया करते समय, प्रतिलेखन करते समय या पद यात्रा करते समय जो शारीरिक क्रियायें करता है उसमें हिंसा तो होती है। चाहे कितनी ही सावधानी क्यों न रखी जाय ये सभी क्रियायें हिंसा से रहित नहीं हैं फिर भी इन्हें मुक्ति का ही साधन माना जाता है बन्धन का कारण नहीं। व्यावहारिक क्षेत्र में न्यायाधीश समाज व्यवस्था और अपने देश के कानून के अन्तर्गत कर्तव्य बुद्धि से अपराधी को दण्ड देता है यहाँ तक की मृत्यु दण्ड भी देता है। क्या हम न्यायाधीश को मनुष्य की हत्या का दोषी मानेंगे ? वह तो अपने नियम और कर्तव्य से बँधा होने के कारण ही ऐसा करता है। अतः उसके आदेश से हिंसा की घटना होने पर भी वह हिंसक नहीं माना जाता। अतः मनोभूमिका की दृष्टि से जब तक अन्तर में कषाय भाव या द्वेष-बुद्धि न हो तब तक बाह्य रूप में घटित हिंसा की क्रिया न तो बन्धक होती है और न अनुचित। आचार्य कुन्दकुन्द ने स्पष्ट रूप से कहा था कि बाहर में हिंसा की घटना घटित हो या न हो प्रमत्त या कषाय युक्त व्यक्ति नियमतः हिंसक ही होता है। इसके विपरीत बाह्य रूप से हिंसा की घटना घटित होने पर भी कषाय रहित अप्रमादी मुनि नियमतः अहिंसक ही होता है। इसलिए यह मानना कि सकारात्मक अहिंसा में बाह्य रूप से हिंसा की घटना होती है, अतः वह अनुचित है -- एक भ्रान्त दृष्टिकोण है। हिंसा की घटना घटित होने पर भी यदि कर्त्ता ने वह कर्म मात्र कर्तव्य बुद्धि से किया है, उसके मन में दूसरे को पीड़ा पहुँचाने का भाव नहीं है, तो वह हिंसक नहीं माना जा सकता। जो कर्म विवेकपूर्वक और निष्काम भाव से किये जाते हैं उनमें हिंसा अल्प या अत्यल्प होती है। भावना या रागात्मकता की स्थिति में भी जो प्रशस्त राग-भाव है उसमें हिंसा अल्प मानी गई है।

हिंसा-अहिंसा के अल्प-बहुत्व के विचार के सन्दर्भ में दूसरा दृष्टिकोण यह है कि यदि दो हिंसाओं के विकल्प में एक का चुनाव करना हो तो हमें अल्प हिंसा को चुनना होगा और उस अल्प हिंसा का आधार जैन आचार्यों ने प्राणियों की संख्या न मान कर उनके ऐन्द्रिक विकास को माना है। यदि हजारों एकेन्द्रिय जीवों की हिंसा और एक पंचेन्द्रिय जीव की हिंसा में हिंसा के अल्प-बहुत्व का निर्णय करना हो तो जैनाचार्यों की दृष्टि में हजारों एकेन्द्रिय जीवों की हिंसा की अपेक्षा एक पंचेन्द्रिय प्राणी की हिंसा अधिक भयंकर मानी गयी है।

स्वयं महावीर के युग में भी यह प्रश्न उपस्थित हुआ था कि अनेक एकेन्द्रिय जीवों की अपेक्षा का एक पंचेन्द्रिय जीव की हिंसा में कौन सी हिंसा अल्प है ? उनके युग में हस्ति-तापसों का एक वर्ग था जो यह कहता था कि हम तो वर्ष में केवल एक हाथी को मारते हैं और उसके मांस से पूरा वर्ष अपनी आजीविका की पूर्ति करते हैं। इस प्रकार हम सबसे कम हिंसा करते हैं (सूत्रकृतांग 2/6/53-54)। इस विचारधारा का स्वयं महावीर ने खंडन किया और बताया कि यह अवधारणा भ्रांत है। भगवतीसूत्र में इस प्रश्न पर और भी अधिक गम्भीरता से विचार हुआ है। उसमें बताया गया है कि अनेक एकेन्द्रिय जीवों की हिंसा की अपेक्षा पंचेन्द्रिय जीवों की हिंसा और उनमें भी एक ऋषि की हिंसा अधिक निकृष्ट होती है (भगवतीसूत्र 9/34/106-107)। अतः जैन दृष्टिकोण से हिंसा का अल्प-बहुत्व प्राणियों की संख्या पर नहीं उनके ऐन्द्रिक एवं आध्यात्मिक विकास पर निर्भर करता है। जब चुनाव दो हिंसाओं के बीच करना हो तो हमें चुनाव अल्प हिंसा का ही करना होगा और इसमें हिंसा का अल्प-बहुत्व प्राणियों का संख्या पर नहीं उनके ऐन्द्रिक विकास पर ही निर्भर करेगा।

यदि हम एक ओर यह मानें कि अपने जीवन रक्षण हेतु हम एकेन्द्रिय जीवों की हिंसा कर सकते हैं और उसका हमें अधिकार है और दूसरी ओर यह कहें कि चूंकि दूसरे प्राणियों के रक्षण, पोषण, सेवा आदि की प्रवृत्तियों में एकेन्द्रिय आदि जीवों की हिंसा जुड़ी हुई है अतः त्याज्य है, तो यह आत्म प्रवचना ही होगी। गृहस्थ जीवन तो क्या मुनि जीवन में भी कोई व्यक्ति एकेन्द्रिय जीवों के प्रति पूर्ण अहिंसक नहीं हो पाता है। अतः एकेन्द्रिय जीवों की हिंसा से बचने के नाम पर अहिंसा के सकारात्मक पक्ष की अवहेलना न तो उचित है और न नैतिक ही। सकारात्मक अहिंसा इसलिए भी आवश्यक है कि हमारे सामाजिक जीवन का आधार है। "मनुष्य एक सामाजिक प्राणी है।" सामाजिक जीवन से अलग होकर उसके अस्तित्व की कल्पना ही दुष्कर है। सकारात्मक अहिंसक चेतना अर्थात् संवेदनशीलता के अभाव में हम समाज की कोई कल्पना भी नहीं कर सकते हैं। समाज जब भी खड़ा होता है तब आत्मियता, प्रेम, पारस्परिक सहयोग और दूसरे के लिए अपने हित-त्याग के आधार पर खड़ा होता है। आचार्य उमास्वाति ने कहा है कि एक दूसरे का हित करना यह प्राणिय-जगत का नियम है (परस्परपद्मो जीवानाम -- तत्त्वार्थ 5)। पाश्चात्य चिन्तकों की यह भ्रान्त अवधारणा है कि संघर्ष प्राणिय जगत को नियम है। जीवन का नियम संघर्ष नहीं, सहकार है। जीवन सहयोग और सहकार की स्थिति में ही अस्तित्व में आता है और विकसित है। यह सहयोग और अपने हितों का दूसरे के हेतु उत्सर्ग समाज-जीवन का भी आधार है। दूसरे शब्दों में समाज सदैव ही सकारात्मक अहिंसा के आधार पर खड़ा होता है। निषेधात्मक अहिंसा चो वैयक्तिक साधना का आधार हो किन्तु वह सामाजिक जीवन का आधार नहीं हो सकती। आज जिस अहिंसक समाज के रचना की बात कही जाती है। वह समाज जब भी खड़ा होगा सकारात्मक अहिंसा के आधार पर ही खड़ा होगा। जब तक समाज के सदस्यों में एक-दूसरे की पीड़ा को समझने और उसे दूर करने के प्रयत्न नहीं होंगे तब तक समाज अस्तित्व में ही नहीं आ पायेगा। सामाजिक जीवन के लिए यह आवश्यक है कि हमें दूसरों की पीड़ा का स्व-संवेदन हो और

उनके प्रति आत्मीयता का भाव हो।

सामान्य रूप से इस आत्मीयता को रागात्मकता समझने की भूल की जाती है। किन्तु आत्मीयता एवं रागात्मकता में अन्तर है। रागात्मकता सकाम होती है उसके मूल में स्वार्थ का तत्त्व विद्यमान होता है, वह प्रत्युपकार की अपेक्षा रखती है, जबकि आत्मीयता निष्काम होती है, उसमें मात्र परार्थ की वृत्ति होती है। यही कारण था कि प्रश्नव्याकरणसूत्र में अहिंसा के जो विविध नाम दिये गये उसमें रति को भी स्थान दिया गया। यहाँ रति का अर्थ वासनात्मक प्रेम या द्वेषमूलक राग-भाव नहीं है यह निष्काम प्रेम है। वस्तुतः जब आत्मीयता का भाव प्रत्युपकार की अपेक्षा न रखता हो और वह सार्वभौम हो, तो आत्मीयता कहलाता है। वस्तुतः जब तक अन्य जीवों के साथ समानता की अनुभूति, उनके जीवन-जीने के अधिकार के प्रति सम्मान-वृत्ति और उनकी पीड़ाओं का स्व-संवेदन नहीं होता तब तक अहिंसक चेतना का उद्भव भी नहीं होता। अहिंसक चेतना का मूल आधार आत्मीयता की अनुभूति है। वह सार्वभौमिक प्रेम है। वह ऐसा राग-भाव जिसमें द्वेष का कोई अंश ही नहीं होता है। जिसमें संसार के समस्त प्राणी "स्व" ही होते हैं, "पर" कोई भी नहीं होता है। वस्तुतः ऐसा राग, राग ही नहीं होता है। राग सदैव द्वेष के सहारे जीवित रहता है। द्वेष, स्वार्थ और प्रत्युपकार की आकांक्षा से रहित जो राग-भाव है वह सार्वभौमिक प्रेम होता है, वही आत्मीयता है और यह आत्मीयता ही सामाजिकता का आधार है।

घृणा, विद्वेष और आक्रामकता की वृत्तियाँ सदैव ही सामाजिकता की विरोधी हैं। वे हिंसा का ही दूसरा रूप हैं। ये वृत्तियाँ जब भी बलवती होंगी, सामाजिकता की भावना ही समाप्त होगी, समाज ढह जावेगा। समाज जब भी खड़ा होगा तब वह न तो हिंसा के आधार पर खड़ा होगा और न मात्र निषेधमूलक निरपेक्ष अहिंसा के आधार पर। वह हमेशा सकारात्मक अहिंसा के आधार पर ही खड़ा होगा। यद्यपि हमें यहाँ स्मरण रखना चाहिये कि जिस प्रकार सकारात्मक अहिंसा के सम्पादन में निरपेक्ष-अहिंसा या पूर्ण-अहिंसा का परिपालन सम्भव नहीं है, उसी प्रकार सामाजिक जीवन में भी निरपेक्ष अहिंसा या पूर्ण अहिंसा परिपालन सम्भव नहीं है। समाज जीवन का आधार जो सकारात्मक अहिंसा है, वह सापेक्ष अहिंसा या सापवादिक अहिंसा है। समाज-जीवन के लिए समाज के सदस्यों के हितों के संरक्षण का प्रश्न मुख्य है और जहाँ अस्तित्व की सुरक्षा और हितों के संरक्षण का प्रश्न होता है वहाँ निरपेक्ष अहिंसा संभव नहीं होती। समाज-जीवन में हितों में टकराव स्वाभाविक है। अनेक बार एक का हित, दूसरे के अहित पर ही निर्भर करता है। ऐसी स्थिति में समाज जीवन में या सघीय जीवन में पूर्ण अहिंसा का आदर्श साकार नहीं हो पाता है, उसमें अपवाद को मान्य करना ही होता है। जब वैयक्तिक हितों और सामाजिक हितों में संघर्ष की स्थिति हो तो हम पूर्ण अहिंसा के आदर्श की दुहाई देकर तटस्थ दृष्टा नहीं बने रह सकते हैं। जब वैयक्तिक और सामाजिक हितों में संघर्ष हो तो हमें समाज हित में वैयक्तिक हितों का बलिदान करना ही होगा। फिर चाहे वे हित हमारे स्वयं के हो या किसी अन्य के। सकारात्मक अहिंसा का सिद्धान्त हमें यही सीखाता है कि हम किसी महान हित के लिए क्षुद्र हितों को बलिदान करना सीखें। समाज-जीवन में ऐसे अवसर

आते हैं, जब व्यक्ति अपने क्षुद्र हितों का बलिदान स्वतः नहीं करता है तो उससे बलात् भी करवाना पड़ता है। जब कोई समाज, राष्ट्र या उसका कोई सदस्य या वर्ग अपने क्षुद्र हितों की पूर्ति के लिए हिंसा अथवा अन्याय पर उतारू हो जाय, तो निश्चय पूर्ण अहिंसा की दुहाई देकर तटस्थ दृष्टा बने रहने से कोई काम नहीं चलेगा। जब तक जैनाचार्यों द्वारा उद्घोषित सम्पूर्ण मानव समाज की एकता की कल्पना पूर्ण साकार नहीं होती है, जब तक सम्पूर्ण समाज अहिंसा पालन के लिए प्रतिबद्ध नहीं होता, तब तक मानव समाज में पूर्ण अहिंसा या निरपेक्ष अहिंसा के परिपालन का दावा करना सम्भव नहीं है।

जैनधर्म जिस पूर्ण अहिंसा के आदर्श को प्रस्तुत करता है उसमें भी जब संघ की अथवा संघ के एक सदस्य की सुरक्षा का प्रश्न आया तो जैन आचार्यों ने सापेक्षिक या सापवादिक अहिंसा का ही स्वीकार किया। जैन साहित्य में आचार्य कालक और गणाधिपति चेटक के उदाहरण इसके स्पष्ट प्रमाण हैं। निशीथचूर्णि (गाथा 289) में स्पष्ट रूप से कहा गया है कि जब संघ की सुरक्षा अथवा किसी सती स्त्री के सतीत्व के रक्षण का प्रश्न हो तो गृहस्थ ही नहीं, मुनि भी हिंसा का सहारा ले सकता है। ऐसी स्थिति में बाह्य रूप से हिंसा की जो घटना घटित होती है, उसे चाहे द्रव्य हिंसा की दृष्टि से हिंसा कहा जाय, किन्तु यदि उसमें कर्त्ता की वृत्ति में निजी स्वार्थ और अपराधी के प्रति द्वेष भाव नहीं है, तो ऐसी हिंसा वस्तुतः अहिंसा ही है। जब तक मानव समाज का एक भी सदस्य पाशविक वृत्तियों में आस्था रखता हो, यह संचना व्यर्थ है कि सामुदायिक जीवन में पूर्ण अहिंसा का आदर्श व्यवहार्य बन सकेगा। जो लोग सकारात्मक अहिंसा अर्थात् रक्षण, सेवा सहकार आदि जीवन मूल्यों को केवल इस आधार पर अमान्य करते हैं कि उनसे निरपेक्ष या पूर्ण अहिंसा का पालन सम्भव नहीं है। उनकी यह अवधारणा उचित नहीं कही जा सकती है।

निशीथचूर्णि में अहिंसा के जिन अपवादों की चर्चा है उन्हें चाहे कुछ लोग साधवाचार के रूप में सीधे मान्य न करना चाहते हों किन्तु क्या यह नपुसंकता नहीं होगी कि जब किसी मुनिसंघ के सामने किसी तरुणी साध्वी का अपहरण हो रहा हो या उस पर बलात्कार हो रहा हो और वे पूर्ण अहिंसा के परिपालन की दुहाई देकर तटस्थ दृष्टा बने रहे? क्या उनका कोई सामाजिक दायित्व नहीं है? हिंसा-अहिंसा का प्रश्न निरा-वैयक्तिक नहीं है। जब तक सम्पूर्ण मानव समाज एक साथ अहिंसा की साधना के लिए तत्पर नहीं होता है, किसी एक समाज या राष्ट्र द्वारा पूर्ण अहिंसा का उद्घोष कोई अर्थ नहीं रखता। अधिक क्या कहें, यदि सम्पूर्ण समाज षडजीव-निकाय की नवकोटिपूर्ण अहिंसा के आदर्श के परिपालन की बात करने लगे तो क्या जैनमुनि संघ का भी कोई अस्तित्व रहेगा। अतः पूर्ण अहिंसा के आदर्श की दुहाई देकर अहिंसा के सकारात्मक पक्ष की अवहेलना कथंपि उचित नहीं मानी जाती। संरक्षणात्मक व सुरक्षात्मक प्रयासों में जो हिंसा की बाह्य घटनायें होती हैं वे सामाजिक जीवन के लिए अपरिहार्य हैं।

अहिंसा में अपवाद मानने वालों को सकारात्मक अहिंसा निषेध का अधिकार नहीं

पुनः हिंसा और अहिंसा का प्रश्न मुख्य रूप से तो आंतरिक है। बाह्यरूप में हिंसा के

होने पर भी राग-द्वेष की वृत्तियों से ऊपर उठा अप्रमत्त मनुष्य अहिंसक है। जबकि बाह्य रूप में हिंसा न होने पर भी प्रमत्त मनुष्य हिंसक ही है। एक आर सकारात्मक अहिंसा को केवल इसलिए अस्वीकार करना कि उसमें कहीं न कहीं हिंसा का तत्त्व होता है किन्तु दूसरी ओर अपने अथवा अपने संघ और समाज के अस्तित्व के लिए अपवादों की सृजना करना न्यायिक दृष्टि से संगत नहीं है। यदि हम यह स्वीकार करते हैं कि किसी मुनि के वैयक्तिक जीवन अथवा मुनि संघ के अस्तित्व के लिए अहिंसा के क्षेत्र में कुछ अपवाद मान्य किये जा सकते हैं तो हमें यह भी स्वीकार करना होगा कि लोककल्याण या प्राणीकल्याण के लिए जो प्रवृत्तियाँ संचालित की जाती हैं, उनमें भी अहिंसा के कुछ अपवाद मान्य किये जा सकते हैं।

पुनः जो गृहस्थ षट्जीव-निकाय की नवकोटिपूर्ण अहिंसा का व्रत ग्रहण नहीं करता है और जो न केवल अपने लिए, अपितु अपने परिजनों के लिए एकेन्द्रिय जीवों की हिंसा से पूर्णतः विरत नहीं है अथवा जो त्रस प्राणी की संकल्पजा हिंसा को छोड़कर आरम्भजा, उद्योगजा और विरोधजा हिंसा का पूर्ण त्यागी नहीं है, उसे दूसरे जीवों के रक्षण-पोषण और उनकी पीड़ा के निवारण के प्रयत्नों को केवल यह कहकर नकारने का कोई अधिकार नहीं है कि उनमें हिंसा होती है।

हिंसा और अहिंसा के सीमा-क्षेत्र को सम्यक् रूप से समझने के लिए हमें हिंसा के तीन रूपों को समझ लेना होगा-- 1. हिंसा की जाती है, 2. हिंसा करनी पड़ती है और 3. हिंसा हो जाती है। हिंसा का वह रूप जिसमें हिंसा की नहीं जाती वरन् हो जाती है -- हिंसा की कोटि में नहीं आता है, क्योंकि इसमें हिंसा का संकल्प पूरी तरह अनुपस्थित रहता है, मात्र यही नहीं, हिंसा से बचने की पूरी सावधानी भी रखी जाती है। हिंसा के संकल्प के अभाव में एवं सम्पूर्ण सावधानी के बावजूद भी यदि अन्य प्रवृत्तियों के करते हुए कोई हिंसा हो जाती है तो वह हिंसा के सीमाक्षेत्र में नहीं आती है। हमें यह भी समझ लेना होगा कि किसी एक संकल्प की पूर्ति के लिए की जाने वाली क्रिया के दौरान सावधानी के बावजूद अन्य कोई हिंसा की घटना घटित हो जाती है तो व्यक्ति ऐसी हिंसा का उत्तरदायी नहीं माना जाता है। जैसे-- यदि गृहस्थ उपासक द्वारा भूमि जोतते हुए किसी त्रस-प्राणी की हिंसा हो जाय अथवा किसी मुनि के द्वारा पदयात्रा करते हुए त्रसप्राणी की हिंसा हो जाय तो उन्हें उस हिंसा के प्रति उत्तरदायी नहीं माना जा सकता है क्योंकि उनके मन में उस हिंसा का कोई संकल्प ही नहीं है। अतः ऐसी हिंसा हिंसा नहीं है। जैन परम्परा में हिंसा के निम्न चार स्तर माने गये हैं -- 1. संकल्पजा, 2. विरोधजा, 3. उद्योगजा, 4. आरम्भजा। इनमें "संकल्पजा" हिंसा वह है जो की जाती है। जबकि विरोधजा, उद्योगजा और आरम्भजा हिंसा, हिंसा की वे स्थितियाँ हैं जिनमें हिंसा करनी पड़ती है। फिर भी चाहे हिंसा की जाती हो या हिंसा करनी पड़ती हो, दोनों ही अवस्थाओं में हिंसा का संकल्प या इरादा अवश्य होता है, यह बात अलग है कि एक अवस्था में हम बिना किसी परिस्थितिगत दबाव के स्वतन्त्ररूप में हिंसा का संकल्प करते हैं और दूसरे में हमें विवशता में संकल्प करना होता है। फिर भी पहली अधिक निकृष्ट कोटि की है क्योंकि आक्रमणात्मक है। यह अनर्थ दण्ड है, अर्थात् अनावश्यक है, वह या तो मनोरंजन के लिए की

जाती है या शासन करने के लिए, या स्वाद के लिए। हिंसा का यही रूप ऐसा है जो सबके द्वारा छोड़ा जा सकता है, क्योंकि यह हमारे जीवन जीने के लिए जरूरी नहीं है। हिंसा का दूसरा रूप जिसमें हिंसा करनी पड़ती है, हिंसा तो है किन्तु इसे छोड़ा नहीं जा सकता, क्योंकि यह आवश्यक है, अर्थदण्ड है। वे सभी गृहस्थ उपासक जो अपने स्वत्वों का रक्षण करना चाहते हैं, जो जीवन जीने के लिए उद्योग और व्यवसाय में लगे हुए हैं, जो समाज, संस्कृति और राष्ट्र की सुरक्षा एवं विकास का दायित्व लिये हुए हैं इससे नहीं बच सकते। न केवल गृहस्थ उपासक अपितु मुनिजन भी, जो किसी धर्म, समाज एवं संस्कृति के रक्षण, विकास एवं प्रसार का दायित्व अपने ऊपर लिये हुए हैं, इस प्रकार की अपरिहार्य हिंसा से नहीं बच सकते हैं। यह सत्य है कि सामाजिक जीवन में दूसरे प्राणियों के जीवन-रक्षण, पोषण, सेवा आदि में भी एकेन्द्रियादि कुछ जीवों की हिंसा सम्भावित है, किन्तु इस हिंसा के भय से सकारात्मक अहिंसा की अवहेलना करना योग्य नहीं है। वह गृहस्थ के लिये एक कर्तव्य है और उसे निष्काम भाव से उसे करना है।

सकारात्मक अहिंसा में घटित हिंसा, हिंसा है

फिर भी यह आवश्यक है कि हम ऐसी हिंसा को हिंसा के रूप में समझते रहें, अन्यथा हमारा करुणा का स्रोत सूख जायेगा। विवशता में चाहे हमें हिंसा करनी पड़े, किन्तु उसके प्रति आत्मग्लानि और हिंसित के प्रति करुणा की धारा सूखने नहीं पावे अन्यथा वह हिंसा हमारे स्वभाव का अंग बन जावेगी जैसे कसाई बालक में। हिंसा-अहिंसा के विवेक का मुख्य आधार मात्र यही नहीं है कि हमारा हृदय कषाय से मुक्त हो, किन्तु यह भी है कि हमारी संवेदनशीलता जागृत रहे, हृदय में दया और करुणा की धारा प्रवाहित होती रहे। हमें अहिंसा को हृदय-शून्य नहीं बनाना है। क्योंकि यदि हमारी संवेदनशीलता जागृत बनी रही तो निश्चय ही हम जीवन में हिंसा की मात्रा को अल्पतम करते हुए पूर्ण अहिंसा के आदर्श को उपलब्ध कर सकेंगे, साथ ही हमारी अहिंसा विधायक बन कर मानव समाज में सेवा और सहयोग की गंगा भी बहा सकेगी।

साथ ही जब अपरिहार्य बन गई दो हिंसाओं में किसी एक को चुनना अनिवार्य हो तो हमें अल्प-हिंसा को चुनना होगा। किन्तु कौन-सी हिंसा अल्प-हिंसा होगी यह निर्णय देश, काल परिस्थिति आदि अनेक बातों पर निर्भर करेगा। यहाँ हमें जीवन की मूल्यवत्ता को भी आंकना होगा। जीवन की यह मूल्यवत्ता दो बातों पर निर्भर करती है-- 1. प्राणी का ऐन्द्रिक एवं आध्यात्मिक विकास और 2. उसकी सामाजिक उपयोगिता। सामान्यता मनुष्य का जीवन अधिक मूल्यवान है और मनुष्यों में भी एक सन्त का, किन्तु किसी परिस्थिति में किसी मनुष्य की अपेक्षा किसी पशु का जीवन भी अधिक मूल्यवान हो सकता है। सम्भवतः हिंसा-अहिंसा के विवेक में जीवन की मूल्यवत्ता का यह विचार हमारी दृष्टि में उपेक्षित ही रहा, यही कारण था कि हम चींटियों के प्रति तो संवेदनशील बन सके किन्तु मनुष्य के प्रति निर्मम ही बने रहे। आज हमें अपनी संवेदनशीलता को मोड़ना है और मानवता के प्रति हिंसा को सकारात्मक बनाना है।

जैनधर्म में अहिंसा के सकारात्मक पक्ष का महत्त्व एवं स्थान प्राचीनकाल से ही रहा है।

प्राचीनकाल से लेकर वर्तमान काल तक कुछेक अपवादों को छोड़कर सभी जैनाचार्यों ने सकारात्मक अहिंसा के मूल्य और महत्त्व को स्वीकार किया है। वे सदैव ही गृहस्थ के लिए उसे आचरणीय मानते रहे हैं। आज चाहे भारत में जैनों की संख्या मात्र 1% हो किन्तु उनके द्वारा संचालित चिकित्सालयों, पशु-पक्षी चिकित्सालयों, गोशालाओं, पांजरापोलों, विद्यालयों और महाविद्यालयों की संख्या कहीं अधिक है। आज देश में इस प्रकार की लोकमंगलकारी प्रवृत्तियों में जुड़ी हुई जो संस्थाएँ अथवा ट्रस्ट हैं, उनमें लगभग 30% जैनों के द्वारा संचालित है। अकालादि के अवसरों पर प्राणियों के रक्षार्थ जैन समाज का जो योगदान होता है। उसे कोई भी नहीं भुला पाता। जब भी मानव समाज ही नहीं अपितु पशु-पक्षियों के भी जीवनरक्षण का प्रश्न आया है, जैन समाज ने सदैव ही उसमें आगे बढ़कर हिस्सा लिया है। जैन समाज में आज भी अनेक ऐसे मूक कार्यकर्त्ता हैं जो तन-मन-धन से लोककल्याणकारी प्रवृत्तियों में अपना योगदान देते हैं। इसके पीछे सदैव ही जैन आचार्यों-मुनिजनों की प्रेरणा निहित रही। जैनधर्म में अहिंसा के इस सकारात्मक पक्ष का कितना मूल्य और महत्त्व है इसके लिए हम अपनी ओर से कुछ न कह कर प्रश्न-व्याकरणसूत्र के ही निम्न वचन उद्धृत करना चाहेंगे।

एसा सा भगवई अहिंसा जा सा भीयाण विव सरणं,
 पक्खीणं विव गमणं,
 तिसियाणं विव सलिलं,
 खुहियाणं विव असणं,
 समुद्दमज्जे व पोयवहणं,
 वउप्पयाणं व आसमपयं,
 दुहट्ठियाणं व ओसहिबलं,
 अडवीमज्जे व सत्थगमणं,
 एत्तो विसिट्ठतरिया अहिंसा जा सा पुढवी-जल-अगणि-मारु-
 वणस्सइ-वीय-हरिय-जलयर-थलयर-खहयर-तस-थावर-सव्वभूय-
 खेमकरी।

यह अहिंसा भगवती जो है, सो
 (संसार के समस्त) भयभीत प्राणियों के लिए शरणभूत है,
 पक्षियों के लिए आकाश में गमन करने -- उड़ने के समान है,
 यह अहिंसा प्यास से पीड़ित प्राणियों के लिए जल के समान है,
 भूखों के लिए भोजन के समान है,
 समुद्र के मध्य में डूबते हुए जीवों के लिए जहाज के समान है,
 चतुष्पद-- पशुओं के लिए आश्रम-स्थान के समान है,
 दुःखों से पीड़ित-- रोगीजनों के लिए औषध-बल के समान है,
 भयानक जंगल में साथ-- सहयोगियों के साथ गमन करने के समान है।

मात्र यही नहीं, भगवती अहिंसा तो इनसे भी अत्यन्त विशिष्ट है, यह त्रस और स्थावर

सभी जीवों का क्षेम। कुशल-मंगल करने वाली है।

यह लोक-मंगलकारी अहिंसा जन-जन के कल्याण में तभी सार्थक सिद्ध होगी, जब इसका सकारात्मक पक्ष को उभार कर जन-साधारण के समक्ष प्रस्तुत किया जायेगा और करुणा एवं सेवा की अन्तश्चेतना को जागृत किया जावेगा। मानव समाज में से हिंसा, संघर्ष और स्वार्थपरता के विष को तभी समाप्त किया जा सकेगा, जब हम दूसरों की पीड़ा का स्व-संवहन करेंगे, उनकी पीड़ा हमारी पीड़ा बनेगी। इससे अहिंसा की जो धारा प्रवाहित होगी, वह सकारात्मक होगी और करुणा, मैत्री सहयोग एवं सेवा की जीवन मूल्यों को विश्व में स्थापित करेंगी।

प्रस्तुत कृति में श्री कन्हैयालाल जी लोढ़ा ने अहिंसा के इस सकारात्मक पक्ष को अधिक स्पष्टता और आगमिक प्रमाणों के साथ प्रस्तुत करने का प्रयत्न किया है। श्री कन्हैया लाल जी लोढ़ा जैन-दर्शन के गम्भीर, अध्येता हैं। उनकी लेखनी से प्रसूत यह ग्रन्थ अहिंसा के सकारात्मक पक्ष को जन-साधारण के समक्ष प्रस्तुत करने में सफल होगा। कृति के प्रारम्भ में श्री देवेन्द्रराज मेहता का संक्षिप्त प्राक्चन भी महत्त्वपूर्ण है। वे रोगियों और समाज के उपेक्षित एवं प्रताड़ित वर्ग की सेवा के कार्य में प्रारम्भ से ही जुड़े हुए हैं, वे सकारात्मक अहिंसा की जीवन्त प्रतिमूर्ति हैं। प्रस्तुत कृति का प्रणयन भी उन्हीं की प्रेरणा से हुआ है। कृति के उत्तरार्द्ध में विभिन्न विचारकों के विचारों का संकलन किया गया है। इससे भी अहिंसा के सकारात्मक पक्ष की पुष्टि में सहयोग मिलेगा।

प्रस्तुत कृति के माध्यम से जन-जन में निष्काम प्रेम, करुणा और सेवा की भावना जागृत हो एक इसी आशा के साथ...।

✽ प्रो. सागरमल जैन, निदेशक, पार्श्वनाथ शोधपीठ, वाराणसी।

तीर्थंकर और ईश्वर के सम्प्रत्ययों का तुलनात्मक विवेचन

- प्रो. सागरमल जैन

धर्म श्रद्धा पर आधारित है और श्रद्धा का कोई केन्द्र-बिन्दु होना चाहिए। इसी केन्द्र-बिन्दु के रूप में धर्म के अन्तर्गत ईश्वर की अवधारणा निर्मित हुई है। विश्व के सभी धर्मों में किसी न किसी रूप में श्रद्धा के केन्द्र-बिन्दु के रूप में ईश्वर का प्रत्यय स्वीकृत रहा है तथापि उसके स्वरूप एवं नाम के सम्बन्ध में विभिन्न धर्मों के अलग-अलग दृष्टिकोण हैं। बौद्ध धर्म में उसे अर्हत, बुद्ध, धर्मकाय और जैनधर्म में परमात्मा, तीर्थंकर, वीतराग, अरहन्त आदि नामों से अभिहित किया गया है। सभी धर्मों में उस परमात्मा या ईश्वर को सर्वशक्तिमान्, सर्वज्ञ, समस्त दोषों से रहित और समस्त गुणों का पुंज माना गया है। इन अवधारणाओं के सन्दर्भ में सामान्य रूप से विभिन्न धर्मों में किसी प्रकार का मतभेद नहीं है किन्तु कुछ अन्य ऐसी अवधारणाएँ हैं जिन्हें कुछ धर्म स्वीकार नहीं करते। जैसे -- ईश्वर अद्वितीय है, वह एकमेव है, वह विश्व का स्रष्टा और नियन्ता है, वह अपनी असीम करुणा के द्वारा अपने भक्तों का कल्याण और दुष्टों का संहार भी करता है।

जहाँ तक जैनधर्म का प्रश्न है उसमें भी परमात्मा को सर्वज्ञ, सर्वदर्शी, सर्वशक्तिमान् और आनन्दपुंज के रूप में अनन्त-चतुष्टय से युक्त माना गया है, किन्तु वह न तो ईश्वर या परमात्मा को विश्व का स्रष्टा और नियन्ता मानता है और न उसे संसार के प्राणियों के अपने शुभाशुभ कर्मों का फल-प्रदाता के रूप में स्वीकार करता है। इसी प्रकार उसमें एक मात्र अद्वितीय ईश्वर की अवधारणा के स्थान पर अनेक परमात्माओं, अरहन्तों (तीर्थंकरों) एवं सिद्धों की कल्पना की गयी है। यद्यपि उपनिषदों में "अहं ब्रह्मास्मि" के उद्घोष के द्वारा आत्मा और परमात्मा में या जीव और ईश्वर में तादात्म्य माना गया था तथापि आगे चलकर हिन्दू-परम्परा में ईश्वर को अंशी और जीव को अंश मानकर इस सूत्र की व्याख्या की गयी। वस्तुतः जब ईश्वर को अद्वितीय और एकमेव मान लिया जाता है तो जीव और जगत् की उससे स्वतन्त्र या पृथक् सत्ता नहीं स्वीकार की जा सकती थी। यही कारण रहा कि पूर्व और पश्चिम के अधिकांश धर्मों में जीव और जगत् को ईश्वरीय संकल्प से अभिव्यक्त एवं संचालित माना गया और विश्व-व्यवस्था को ईश्वरीय-इच्छा के अधीन माना गया।

जैन-दार्शनिकों को विश्व-स्रष्टा और विश्व-नियन्ता ईश्वर की यह अवधारणा मान्य नहीं रही है। उनका कथन है कि आप्तकाम पूर्ण ईश्वर या वीतराग परमात्मा विश्व के निर्माण, विनाश और संचालन की प्रक्रिया में क्यों उलझेगा ? जो आप्तकाम है, पूर्ण है उसमें कोई इच्छा या कामना शेष ही नहीं रहती है और बिना इच्छा या कामना के कोई भी प्रवृत्ति सम्भव नहीं है। अतः ईश्वर के द्वारा विश्व का सर्जन, विनाश या संचालन सम्भव नहीं है। पुनः यदि ईश्वर में कोई सृजन, संहार या पालन की इच्छा शेष रहती है तो वह पूर्ण और आप्तकाम तो नहीं

कहा जा सकेगा, क्योंकि इच्छा की उपस्थिति अपूर्णता की सूचक है और जो अपूर्ण है, जिसकी कोई इच्छा शेष रही है, वह ईश्वर तो नहीं हो सकता है। अतः आप्तकाम पूर्ण ईश्वर या परमात्मा के द्वारा स्वेच्छा से लीला के लिए विश्व के सृजन, संहार आदि की क्रियायें सम्भव ही नहीं हैं।

पुनः यदि कहा जाय कि ईश्वर तो जीवों के कर्मानुसार ही सृष्टि की रचना कर उनके सुख-दुःख की व्यवस्था करता है तो इसके उत्तर में जैन दार्शनिकों का कहना है कि ऐसी स्थिति में हमें विश्व-व्यवस्था में कर्म के नियम को ईश्वर के ऊपर स्वीकार करना होगा। यदि हम यह मानें कि ईश्वर भी कर्म-नियम की व्यवस्था के अनुसार ही प्राणियों को उनके शुभाशुभ फल देने को बाध्य है और अपनी इच्छा से उसमें कुछ भी परिवर्तन नहीं कर सकता है तो फिर यह सर्वशक्ति-सम्पन्न ईश्वर का उपहास ही होगा। एक ओर उसे सर्वशक्तिमान् मानना और दूसरी ओर उसे स्वेच्छा से किंचित् परिवर्तन का भी अधिकार न देना निश्चय ही सर्वशक्तिमान् ईश्वर के साथ खिलवाड़ है। इस सिद्धान्त के अनुसार तो ईश्वर विश्व-व्यवस्था में एक ऐसा व्यवस्थापक है, जिसे पद तो दिया गया है किन्तु अधिकार नहीं। एक ओर ईश्वरीय व्यवस्था को कर्म-नियम के अधीन मानना और दूसरी ओर कर्मफल की व्याख्या के लिए ईश्वर की आवश्यकता बताना कर्म-नियम और ईश्वर दोनों का ही उपहास है। यही कारण है कि जैन परम्परा में न तो ईश्वर को विश्व का स्रष्टा और संचालक माना गया और न ही उसे कर्मफल का प्रदाता ही बतलाया गया है। जैन-विचारकों का कहना है कि जिस प्रकार विषपान करने वाला उसके प्रभाव से नहीं बच सकता, उसी प्रकार कर्मों का कर्त्ता भी उसके प्रभाव से नहीं बचता। जिस प्रकार भाँग, शराब आदि नशीली वस्तुएँ उनके उपभोग के एक निश्चित समय के पश्चात् उनके खाने वाले की इच्छा की अपेक्षा किये बिना स्वतः ही अपना प्रभाव दिखलाती हैं उसी प्रकार कर्म भी स्वतः अपना फल प्रदान करते हैं, उसमें व्यवस्थापक (ईश्वर) की कोई आवश्यकता नहीं है। श्रीमद् रामचन्द्र लिखते हैं--

झेर सुधासमजे नहीं, जीव खाय फल धाय।

एम शुभाशुभ कर्म नो, भोक्तापणुं जणाय।।

जैन आचार्यों की दृष्टि में आत्मा ही अपने शुभाशुभ कर्मों का कर्त्ता व उनके फलों का भोक्ता है। कर्मों के कर्त्ता चेतन-आत्मा के द्वारा ही स्वयं उसकी वासना और कषायों के आधार पर कर्म के फल-विपाक का प्रकार उसकी कालावधि और तीव्रता आदि का निश्चय हो जाता है। अतः कर्मफलप्रदाता के रूप में ईश्वर की कोई आवश्यकता नहीं रहती है। फिर भी जैन दार्शनिक हरिभद्र ने सृष्टिकर्त्ता और फलप्रदाता ईश्वर सम्बन्धी इन अवधारणाओं को जैन-परम्परा से सम्मत बताने का प्रयास किया है। वे लिखते हैं कि "जीव मात्र तात्त्विक दृष्टि से परमात्मा ही है और वह अपने संसार (भव-भ्रमण) का सृष्टिकर्त्ता है, साथ ही स्वयं अपने कर्मों का कर्त्ता और उनके फल-विपाक का निर्धारक है।" इस तात्त्विक दृष्टि से विचार करने पर विश्व एवं कर्म-नियन्ता के रूप में ईश्वरवाद की अवधारणा भी जैन परम्परा से सम्मत, निर्दोष एवं व्यवस्थित सिद्ध हो जाती है।

भारतीय एवं इतर धर्मों में ईश्वर के सम्बन्ध में दूसरी महत्त्वपूर्ण अवधारणा यह है कि ईश्वर परम कारुणिक है। जैन-परम्परा में तीर्थकर को और बौद्ध-परम्परा में बुद्ध को भी परम कारुणिक कहा गया है फिर भी तीर्थकर या बुद्ध की कारुणिकता में और ईश्वर की कारुणिकता में अन्तर है। ईश्वर की कारुणिकता को कर्म-नियम के ऊपर स्वीकार किया गया है। परम-कारुणिक ईश्वर अपने भक्तों के समस्त अपराधों को अपनी कृपा या करुणा से समाप्त कर सकता है। इस प्रकार इन धर्मों में ईश्वर की कारुणिकता को कर्म-नियम की व्यवस्था से भी ऊपर माना गया है। गीता (18/65-66) में भगवान् कृष्ण कहते हैं कि "तू मेरे में मन लगा, मेरे में जी और मुझे नमस्कार कर मैं तुझे सर्व पापों से मुक्त कर दूँगा।" किन्तु जैन तीर्थकर अपने भक्त को इस प्रकार का कोई आश्वासन नहीं दे सकता क्योंकि उसकी करुणा कर्म-नियम से परे नहीं है। जैन दार्शनिकों के अनुसार यदि परम कारुणिक ईश्वर की करुणा कर्म के नियम का अतिक्रमण कर जाती है तो कर्म-नियम का कोई अर्थ ही नहीं रह जाता और कर्म-नियम के अभाव में धर्म, नैतिकता आदि स्वेच्छाचारी व्यक्ति से अधिक कुछ नहीं रहता। स्वेच्छाचार नियम-व्यवस्था का विरोधी है और जो नियम या व्यवस्था का विरोधी हो उसे ईश्वर कैसे कहा जा सकता है ? पुनः यदि ईश्वर की करुणा को कर्म-नियम के अधीन कार्य करने वाली माना जाय तो वह करुणा वस्तुतः करुणा नहीं होती। नियमानुसार दण्ड देने वाला न्यायाधीश करुणाशील नहीं कहा जायेगा।

यदि कारुणिक ईश्वर का कार्य कर्म-नियम से अनुशासित है तो फिर ऐसे ईश्वर के ईश्वरत्व का न तो कोई महत्त्व रहता है और न उसकी करुणा का कोई अर्थ। अतः ईश्वरीय कृपा का यह अर्थ कि ईश्वर स्वेच्छा से चाहे जिसका कल्याण या अकल्याण कर सकता है अथवा यह कि वह अपनी स्वतन्त्र इच्छा से अपने भक्तों का कल्याण और दुष्टों का संहार करता है तो यह बात ईश्वर के ईश्वरत्व की दृष्टि से युक्तिसंगत प्रतीत नहीं होती है। यदि यह माना जाय कि ईश्वर अपने भक्तों के भक्ति से उसके पापों को भी क्षमा कर देता है तो ऐसा ईश्वर चापलूसी पसन्द व्यक्ति से भिन्न नहीं होगा। वह न तो वीतराग हो सकता है और न ही विवान्त-वैर। जैन-दार्शनिक जिस तीर्थकर परमात्मा की कल्पना करते हैं वह तो वीतराग और विवान्तवैर है। वस्तुतः वह न तो किसी का कल्याण करता है और न ही अकल्याण। वह व्यक्ति के आत्म-विकास के लिये मात्र प्रेरणा-स्रोत होता है, निमित्त होता है।

जैन-दर्शन में भी परमात्मा या तीर्थकर को परम कारुणिक माना गया है। तीर्थकर की कारुणिकता की चर्चा अनेक जैन-कवियों ने की है। जयाचार्य लिखते हैं--

सुखदायक सहु जगभणी तूं ही दीनदयाल ।
 भरण आयो तुझ साहिबा तूं ही परमकृपाल ॥
 गुणगातां मन गहगहे सुख सम्पत्ति जाण ।
 विधन मिटे समरण किया, पामे परम कल्याण ॥

- पद्मप्रभु जिनस्तवन

किन्तु उसकी यह करुणा स्वयं उसकी अपनी भाव-भूमि तक ही सीमित है। उसकी

कारुणिकता का अर्थ इतना ही है कि वह सबके कल्याण की भावना रखता है किसी का अहित नहीं सोचता है और न किसी का अहित करता ही है। वह अहिंसा के उपदेश के माध्यम से भव्य आत्माओं को दूसरों के अहित और हिंसा से दूर रहने का निर्देश देता है। इस प्रकार परमात्मा या तीर्थंकर की करुणा ईश्वरवादियों के द्वारा कल्पित ईश्वरीय करुणा से भिन्न होती है। तीर्थंकर या बुद्ध जन-जन के कल्याण मार्ग के पथ-प्रदर्शक और समस्त प्राणियों के कल्याण की भावना से युक्त और किसी भी प्राणी के अकल्याण/अहित की भावना से विरत होते हैं। जबकि ईश्वरवादियों का ईश्वर भक्तों के कल्याण एवं दुष्टों के संहार इन दोनों प्रकार की प्रवृत्तियों से युक्त है। तीर्थंकर, अर्हन्त या बुद्ध की प्रकृति एक सन्त की प्रकृति है। जबकि ईश्वर की प्रकृति एक शासक की प्रकृति है। तीर्थंकर और बुद्ध की करुणा एक संत-हृदय की करुणा है जबकि ईश्वरीय करुणा एक शासक की करुणा है। अतः दोनों में भिन्नता है।

ईश्वर के संसार में अवतरण के प्रयोजन के सन्दर्भ में गीता में भगवान श्रीकृष्ण कहते हैं कि मैं धर्म की स्थापना, साधुओं की रक्षा और दुष्टों के विनाश के लिये संसार में युग-युग में उत्पन्न होता हूँ। जैन-चिन्तन में तीर्थंकर के जन्म का प्रयोजन भी धर्म की स्थापना ही होता है। वह भी संसार के प्राणियों का दुःख और पीड़ाएँ कम हों इसी उद्देश्य से धर्म-तीर्थ की स्थापना करता है। इस प्रकार ईश्वर के अवतरण और तीर्थंकर के जन्म के प्रयोजन में आंशिक रूप से समानता है। किन्तु जहाँ तीर्थंकर धर्म की स्थापना के द्वारा प्राणियों की दुःख-विमुक्ति के लिये जो प्रयत्न करता है वे मात्र दिशा-निर्देशन तक सीमित है। वह प्राणियों को दुःख-विमुक्ति का मार्ग बतलाता है किन्तु किसी को दुःख से मुक्त नहीं करता। इससे मुक्ति तो स्वयं प्राणी अपनी साधना या पुरुषार्थ से पाता है। तीर्थंकर तो मात्र पथ-प्रदर्शक होता है। इस प्रकार तीर्थंकर की करुणा और उसके प्राणियों की दुःख-विमुक्ति के प्रयत्नों की प्रकृति निवृत्ति-मार्गीय परम्परा के अनुरूप निषेधात्मक ही होती है। उसके विपरीत ईश्वर एक सक्रिय व्यक्तित्व होता है। वह न केवल धर्म की स्थापना करता है अपितु साधुजनों का त्राण और दुष्टों का विनाश भी करता है। ईश्वर के अवतरण के प्रयोजन में दुष्टों के विनाश द्वारा ही साधुजनों के परित्राण और धर्म-स्थापना की बात कही गयी है। इस प्रकार जहाँ तीर्थंकर का प्रयोजन प्राणियों की दुःख-विमुक्ति हेतु धर्म-मार्ग की स्थापना करना है वहाँ अवतार का प्रयोजन दुष्टों के विनाश एवं साधुजनों की रक्षा के द्वारा ही धर्म की स्थापना करना है। इस प्रकार दोनों में प्रयोजन की दृष्टि से भिन्नता है।

ईश्वर के अवतार और तीर्थंकर के जन्मग्रहण में एक महत्त्वपूर्ण अन्तर यह भी है कि अवतारवाद की अवधारणा में एक ही ईश्वर बार-बार संसार में जन्म लेता है, जबकि तीर्थंकर या बुद्ध की अवधारणा में प्रत्येक तीर्थंकर या बुद्ध भिन्न-भिन्न व्यक्ति होते हैं। जहाँ सभी अवतार भिन्न-भिन्न होते हुए भी उसी एक ईश्वर के अवतार होते हैं। वहाँ प्रत्येक तीर्थंकर एक भिन्न व्यक्ति होता है जो अपनी साधना के द्वारा आध्यात्मिक पूर्णता की इस अवस्था को प्राप्त करने हेतु काल और क्षेत्र विशेष में जन्म ग्रहण करता है। इस प्रकार ईश्वर एक है जबकि तीर्थंकर या बुद्ध अनेक। पुनः ईश्वर का विश्व में अवतरण होता है, वह विमुक्त दशा से संसार-दशा में आता है जबकि तीर्थंकर संसार-दशा से विमुक्त अवस्था को प्राप्त होता

है और उसका संसार में पुनरागमन नहीं होता। इस प्रकार दोनों अवधारणाओं में एक मौलिक अन्तर है। ईश्वर ऊपर से नीचे आता है उसका अवतरण होता है जबकि तीर्थकर नीचे से ऊपर जाता है, उसका उत्तरण होता है।

ईश्वरवाद और तीर्थकरवाद की अवधारणाओं में अन्य एक महत्त्वपूर्ण अन्तर यह भी है कि तीर्थकर की अवधारणा में मानव की स्वतन्त्रता स्थापित होती है, क्योंकि जैनदर्शन के अनुसार प्रत्येक व्यक्ति में स्व पुरुषार्थ से परमात्मा बनने की क्षमता है। जबकि ईश्वरवाद में मनुष्य को ऐसी कोई स्वतन्त्रता नहीं होती, वह मात्र ईश्वर के हाथ की कठपुतली होता है। इस प्रकार ईश्वरवाद मनुष्य को दास बनाता है। उसमें भक्त या उपासक की स्थिति सदैव ही सेवक की बनी रहती है। मनुष्य की इस दयनीय स्थिति को स्पष्ट करते हुए एक उर्दू शायर ने कहा है--

**"इंसा की बदबस्ती अन्दाज से बाहर है।
कमबख्त खुदा होकर बन्दा नजर आता है।।"**

जैनधर्म मनुष्य को परमात्मा बनने की प्रेरणा देता है। उसमें भक्त, भक्त नहीं रहता भगवान बन जाता है। उपाध्याय देवचन्द्र जी लिखते हैं --

**अजकुलगत केशरी लहरे निज पद
तिम प्रभुभक्ति भवि लहरे आत्म शक्ति।**

सन्त आनन्दधनजी पूर्ण आत्मविश्वास के साथ लिखते हैं -- "तुझ मुझ अन्तर भांज से बाज से मंगलतर"। हे प्रभु ! एक दिन आपके और मेरे बीच का यह अन्तर समाप्त होगा और मंगल वाद्य बजेगा।

यह सत्य है कि उपास्य के रूप में ईश्वर या परमात्मा की अवधारणा को सभी दार्शनिकों ने मान्य किया है वे सब यह मानते हैं कि साधना के क्षेत्र में उपास्य का होना आवश्यक है। जैनधर्म में तीर्थकर अर्हन्त को भी उसी तरह से उपास्य के रूप में स्वीकार किया गया है जिस प्रकार अन्य धर्मों में ईश्वर को। फिर भी दोनों परम्पराओं में अन्तर है। जैन परम्परा में साधना की पूर्णता पर उपास्य या उपासक का यह अन्तर समाप्त हो जाता है। जबकि ईश्वरवादी परम्पराओं में मात्र अद्वैत-वेदान्त को छोड़कर शेष सभी में यह अन्तर बना रहता है क्योंकि आत्मा कभी भी परमात्मा या जीव कभी भी ईश्वर नहीं बन सकता। ईश्वरवादी परम्पराओं में आत्मा और परमात्मा के बीच की खाई कभी भी पटती नहीं है, जबकि जैन परम्परा में वह खाई या दूरी समाप्त हो जाती है।

पुनः ईश्वरवादी परम्पराओं में ईश्वर अपने भक्त की पीड़ा को दूर करने में समर्थ माना गया है। जबकि तीर्थकर अपने भक्त के कष्टों को दूर करने में असमर्थ है। ईश्वरवाद में ईश्वर को सक्रिय और भक्त को निष्क्रिय होने का संदेश है। ईश्वर कहता है "बस तू तो मेरी शरण में आ जा, मैं तुझे सब पापों से मुक्त कर दूंगा।" इसके विपरीत तीर्थकर पुरुषार्थ की प्रेरणा देते हुए कहता है "तेरा उत्थान और पतन मेरे हाथ में नहीं है तेरे ही हाथ में निहित है"। इस प्रकार ईश्वर और तीर्थकर दोनों ही उपास्य हैं। फिर भी उन दोनों की भक्त या उपासक

की कल्याण-सामर्थ्य में भिन्नता है। हम यह पूर्व में ही सूचित कर चुके हैं कि ईश्वरवादी परम्पराओं में भक्त और भगवान् में एक अन्तर बना रहता है। उपास्य सदैव उपास्य रहता है और उपासक सदैव उपासक। भक्त भगवान् के अति निकट तो हो सकता है लेकिन कभी भी भगवान् नहीं बन सकता है। जबकि जैन परम्परा में उपास्य और उपासक का भेद एक सीमा तक ही रहता है। एक दिन ऐसा होता है जब उपासक स्वयं उपास्य बन जाता है।

यह भी सत्य है कि ईश्वर या परमात्मा की कल्पना साधना के आदर्श या साध्य के रूप में भी की जाती है। ईश्वर या परमात्मा का व्यक्तित्व समस्त दोषों से रहित और समस्त गुणों से युक्त माना गया और उस जैसे व्यक्तित्व को प्राप्त करना ही साधकों का साध्य माना जाता है। भक्तिमार्गी परम्परा में इसे सारूप्य-मुक्ति कहा गया है। ईश्वरवादी परम्पराओं में यही भक्त या उपासक की चरम उपलब्धि है। पुनः ईश्वरवाद में ईश्वर साधना का आदर्श होते हुए भी सदैव आदर्शन ही रहता है क्योंकि भक्त और भगवान् के मध्य एक दूरी सदैव बनी रहती है। जबकि जैन परम्परा में परमात्मा ऐसा कोई बाह्य-साध्य नहीं है जो व्यक्ति से भिन्न हो, उसकी साधना का साध्य, साधक आत्मा व्यक्ति से भिन्न नहीं है। वह उसी में है। उसे वही पाना है, जो उसकी सत्ता का सार है।

ईश्वरवाद में साध्य या आदर्श ऐसा ईश्वर होता है, जिसकी सत्ता व्यक्ति से पृथक् है। जीव और ईश्वर में अंश-अंशी भाव मानने पर भी अंशी ईश्वर को अंश जीव से अधिक व्यापक तो मानना ही होगा। अधिक व्यापक होने पर भी भिन्नता तो रहेगी। जैसे बूँद समुद्र में होते हुए भी समुद्र तो नहीं हो जाती है। बूँद चाहे समुद्र में हो या समुद्र से बाहर वह सदैव बूँद ही रहेगी जबकि जैन-परम्परा में प्रत्येक व्यक्ति का साध्य उसकी अपनी ही आत्मा का वह शुद्ध स्वरूप है, जिसे परमात्मा कहा जाता है। उसमें साध्य, साधक और साधन तीनों में अन्तर नहीं है। साध्य भी आत्मा है, साधन भी आत्मा की ही अवस्थाएँ हैं और साधक भी आत्मा ही है। साधना का अर्थ है आत्मा के द्वारा आत्मा की उपलब्धि। अशुद्ध आत्मा साधक है। आत्मा के शुद्धीकरण का प्रयास साधना है और अपने ही शुद्ध आत्मतत्त्व की उपलब्धि साध्य है। इसी दृष्टि से सन्त आनन्दघन ने कहा है --

जिन सरूप थइ जिन आराधे, ते सहि जिनवर होवे रे।

भुङ्गी इलिकाने चटकावे, ते भुङ्गी जग जोते रे।।

इस प्रकार जैन-साधना में साध्य या परमात्मा साधक से अभिन्न है। उसमें आदर्श मात्र आदर्श नहीं रहता, अपितु यथार्थ बन जाता है और यही उसकी विशेषता है। * * *

जैनधर्म में भक्ति का स्थान

डा० सागरमल जैन

जैनधर्म के अनुसार प्रत्येक साधक का यह कर्तव्य है कि वह तीर्थंकरों की स्तुति करे। जैन साधना में स्तुति का स्वरूप बहुत कुछ भक्ति मार्ग की जप साधना या नामस्मरण से मिलता जुलता है। स्तुति अथवा भक्ति के माध्यम से साधक अपने अहंकार का नाश और सदगुणों के प्रति अनुराग की वृद्धि करता है। लेकिन फिर भी हमें यह स्मरण रखना चाहिए कि जैनधर्म के अनुसार साधना के आदर्श के रूप में जिसकी स्तुति की जाती है उन आदर्श पुरुषों से किसी प्रकार की उपलब्धि की अपेक्षा नहीं होती। जैनधर्म का यह दृढ़ विश्वास है कि तीर्थंकर एवं सिद्ध परमात्मा किसी को कुछ नहीं दे सकते, वे मात्र साधना के आदर्श हैं। तीर्थंकर उसे न तो संसार से पार कर सकते हैं और न किसी अन्य प्रकार की भौतिक उपलब्धि में सहायक होते हैं। फिर भी स्तुति के माध्यम से साधक उनके गुणों के प्रति अपनी श्रद्धा को सजीब बना लेता है। साधक के सामने उनका महान् आदर्श जीवन्त रूप में उपस्थित हो जाता है। साधक भी अपने अन्तर हृदय में तीर्थंकरों के आदर्श का स्मरण करता हुआ अपनी आत्मा में एक आध्यात्मिक पूर्णता की भावना पैदा करता है। वह स्वयं मन में यह विचार करता है कि आत्मतत्त्व के रूप में मेरी आत्मा और तीर्थंकरों की आत्मा समान ही है, यदि मैं स्वयं प्रयत्न करूँ तो उनके समान ही बन सकता हूँ। मुझे भी अपने पुरुषार्थ से उनके समान बनने का प्रयत्न करना चाहिए। जैन तीर्थंकर गीता के कृष्ण के समान यह उद्घोषणा नहीं करते कि तुम मेरी भक्ति करो, मैं तुम्हें सब पापों से मुक्त कर दूँगा (गीता १८।६६)। यद्यपि महावीर ने यह अवश्य कहा है कि मैं भय से रक्षा करने वाला हूँ (सूत्रकृतांग १।१।१६), फिर भी जैनधर्म की मान्यता तो यह रही है कि व्यक्ति केवल अपने ही प्रयत्नों से अपना

आध्यात्मिक विकास या पतन करता है। स्वयं पाप से मुक्त होने का प्रयत्न न करके केवल भगवान् से मुक्ति की प्रार्थना करना, जैनधर्म के अनुसार सर्वथा निरर्थक है। इस प्रकार की विवेकशून्य प्रार्थनाओं ने मानव जाति को सब प्रकार से हीन, दीन एवं परापेक्षी बनाया है। जब व्यक्ति किसी ऐसे उद्धारक में विश्वास करने लगता है, जो उसकी स्तुति से प्रसन्न होकर उसे पाप से उबार लेगा तो इस प्रकार की निष्ठा से सदाचार की मान्यताओं को एक गहरा धक्का लगता है। जैन विचारकों की यह स्पष्ट मान्यता है कि केवल तीर्थंकरों की स्तुति करने मात्र से मोक्ष की प्राप्ति नहीं होती जब तक कि व्यक्ति स्वयं उसके लिए साधना न करे (आवश्यकचूर्ण)।

तीर्थंकर तो साधना मार्ग के प्रकाश-स्तम्भ हैं। जिस प्रकार गति करना जहाज का कार्य है उसी प्रकार साधना की दिशा में आगे बढ़ना साधक का कार्य है। जैसे प्रकाश-स्तम्भ की उपस्थिति में भी जहाज समुद्र में बिना गति किये उस पार नहीं पहुँचता है वैसे ही केवल नामस्मरण या भक्ति साधक को निर्वाण की प्राप्ति नहीं करा सकती, जब तक कि वह स्वयं उसके लिए सम्यक् प्रयत्न न करे। विष्णु-पुराण में कहा गया है—

स्वधर्म कर्म विमुखः कृष्णकृष्णेतिवादिनः ।

ते हरिर्द्वेषिणो मूढाः धर्मार्थं जन्म यद्धरेः ॥

जो लोग अपने कर्तव्य को छोड़ बैठते हैं और केवल कृष्ण-कृष्ण कहकर भगवान् का नाम जपते हैं, वे वस्तुतः भगवान् के शत्रु हैं और पापी हैं, क्योंकि धर्म की रक्षा के लिए तो स्वयं भगवान् ने भी जन्म लिया था। बाइबिल में भी कहा गया है कि हर कोई, जो ईसा-ईसा पुकारता है, स्वर्ग के राज्य में प्रवेश नहीं पायेगा; अपितु वह पायेगा जो परम पिता की इच्छा के अनुसार काम करता है (बाइबल, जोन २.९-११)। महावीर ने कहा है कि एक मेरा नामस्मरण करता है और दूसरा मेरी आज्ञाओं का पालन करता है, उनमें जो मेरी आज्ञाओं के अनुसार आचरण करता है वही सच्चे रूप में मेरी उपासना करता है।

फिर भी हमें स्मरण रखना चाहिए कि जैन परम्परा में भक्ति का लक्ष्य आत्मस्वरूप का बोध है, अपने में निहित परमात्मा को पहचानना है। आचार्य कुन्दकुन्द नियमसार में लिखते हैं कि सम्यक्

ज्ञान और आचरण से युक्त होना, निर्वाण अभिमुख होना इसे ही गृहस्थ और श्रमण की वास्तविक भक्ति कहा गया है। मुक्ति को प्राप्त पुरुषों के गुणों का कीर्तन करना व्यावहारिक भक्ति है, वास्तविक भक्ति तो आत्मा को मोक्षपथ में योजित करना है। राग-द्वेष एवं सर्व विकल्पों का परिहार करके विशुद्ध आत्मतत्त्व से योजित होना यही वास्तविक भक्ति है। ऋषभ आदि सभी तीर्थंकर इसी भक्ति के द्वारा परम पद को प्राप्त हुए हैं (नियमसार १३४-४०)। इस प्रकार भक्ति या स्तवन मूलतः आत्मबोध है। जैन दर्शन में भक्ति के सच्चे स्वरूप को स्पष्ट करते हुए उपाध्याय देवचन्द्रजी लिखते हैं—

अज-कुल-गत केशरी लहे रे निज पद सिंह निहाल ।

तिम प्रभु भक्ति भवी लहे रे आत्म शक्ति संभाल ॥

जिस प्रकार भेड़-बकरियों के साथ पला हुआ सिंह का बच्चा वास्तविक सिंह के दर्शन से अपने प्रसुप्त सिंहत्व को प्रकट कर लेता है, उसी प्रकार साधक तीर्थंकरों के गुणकीर्तन या स्तवन के द्वारा निज में जिनत्व का शोध कर लेता है, स्वयं में निहित परमात्मशक्ति को प्रकट कर लेता है।

लेकिन इसका यह अर्थ नहीं है कि जैन साधना में भगवान् की स्तुति निरर्थक है। जैन साधना यह स्वीकार करती है कि भगवान् की स्तुति हमारी प्रसुप्त अन्तश्चेतना को जागृत करती है और हमारे सामने साधना के आदर्श का एक जीवन्त चित्र उपस्थित करती है। मात्र यही नहीं, वह हमें उस आदर्श की प्राप्ति के लिए प्रेरणा भी देती है। जैन विचारकों ने यह स्वीकार किया है कि भगवान् की स्तुति के माध्यम से व्यक्ति अपना आध्यात्मिक विकास कर सकता है। यद्यपि इसमें प्रयत्न व्यक्ति का ही होता है लेकिन साधना के आदर्श उन महापुरुषों का जीवन उसकी प्रेरणा का निमित्त आवश्यक होता है। उत्तराध्ययन सूत्र में कहा गया है कि स्तवन से व्यक्ति की दर्शन विशुद्धि होती है। उसका दृष्टिकोण सम्यक् बनता है और परिणामस्वरूप वह आध्यात्मिक विकास की दिशा में आगे बढ़ सकता है। यद्यपि भगवद्भक्ति के फलस्वरूप पूर्व संचित कर्मों का क्षय होता है, तथापि इसका कारण परमात्मा की कृपा नहीं वरन् व्यक्त के दृष्टिकोण की विशुद्धि ही है। जैनाचार्य भद्रबाहु ने इस बात को बड़े ही स्पष्ट रूप में स्वीकार किया है कि भगवान् के

नामस्मरण से पापों के पुंज का नाश हो जाता है (आवश्यकान्युक्ति १०७६) । आचार्य विनयचंद्र भगवान् को स्तुति करते हुए कहते हैं—

पाप-पराल को पुंज बन्यो अति, मानो मेरू आकारो ।

ते तुम नाम हुताशन सेती, सहज ही प्रजलत सारो ॥

हे प्रभु आपकी नाम रूपी अग्नि में इतनी शक्ति है कि उससे मेरू समान पाप समूह भी शीघ्र ही नष्ट हो जाता है । किंतु यह प्रभाव प्रभु के नाम का नहीं अपितु साधक की आत्मिक शक्ति का है । जैसे मालिक के जागने पर चोर भाग जाते हैं, उसी प्रकार प्रभु के स्वरूप के ध्यान से आत्म-चेतना या स्वशक्ति का भान होता है और पाप रूपी चोर भाग जाते हैं ।



मन -- शक्ति, स्वरूप और साधना : एक विश्लेषण

- प्रो० सागरमल जैन

नैतिक-साधना में मन का स्थान

भारतीय-दर्शन जीवात्मा के बन्धन और मुक्ति की समस्या की एक विस्तृत व्याख्या है। भारतीय चिन्तकों ने केवल मुक्ति की उपलब्धि के हेतु आचार-मार्ग का उपदेश ही नहीं दिया वरन् उन्होंने यह बताने का भी प्रयास किया कि बन्धन और मुक्ति का मूल कारण क्या है? अपने चिन्तन और अनुभूति के प्रकाश में उन्होंने इस प्रश्न का जो उत्तर पाया वह है -- "मन ही बन्धन और मुक्ति का कारण है।" जैन, बौद्ध और हिन्दू दर्शनों में यह तथ्य सर्वसम्मत रूप से ग्राह्य है। जैनदर्शन में बन्धन और मुक्ति की दृष्टि से मन की अपार शक्ति मानी गई है। बन्धन की दृष्टि से वह पौराणिक ब्रह्मास्त्र से भी बढ़कर भयंकर है। कर्मसिद्धान्त का एक विवेचन है कि आत्मा के साथ कर्म-बन्ध की क्या स्थिति है? मात्र काययोग से मोहनीय जैसे कर्म का बन्ध उत्कृष्ट रूप में एक सागर की स्थिति तक का हो सकता है। वचनयोग मिलते ही पच्चीस सागर की स्थिति का उत्कृष्ट बन्ध हो सकता है। घ्राणेन्द्रिय अर्थात् नासिका के मिलने पर पचास सागर का, चक्षु के मिलते ही सौ सागर का और श्रवणेन्द्रिय अर्थात् कान के मिलते ही हजार सागर तक का बन्ध हो सकता है। किन्तु यदि मन मिल गया तो मोहनीयकर्म का बन्ध लाख और करोड़ सागर को भी पार करने लगा। सत्तर क्रोडाक्रोड़ी (करोड़ * करोड़) सागरोपम का सर्वोत्कृष्ट मोहनीयकर्म "मन" मिलने पर ही बाँधा जा सकता है।

यह है मन की अपार शक्ति ! इसलिए मन को खुला छोड़ने से पहले विचार करना होगा कि कहीं वह आत्मा को किसी गहन गर्त में तो नहीं धकेल रहा है ? जैन विचारणा में मन मुक्ति के मार्ग का प्रथम प्रवेश द्वार भी है। वहाँ केवल समनस्क प्राणी ही इस मार्ग पर आगे बढ़ सकते हैं। अमनस्क प्राणियों को तो इस राजमार्ग पर चलने का अधिकार ही प्राप्त नहीं है। सम्यक्दृष्टित्व केवल समनस्क प्राणियों को हो सकता है और वे ही अपनी साधना में मोक्ष-मार्ग की ओर बढ़ने के अधिकारी हो सकते हैं। उत्तराध्ययनसूत्र में भगवान् महावीर कहते हैं कि "मन के संयमन से एकाग्रता आती है जिससे ज्ञान (विवेक) प्रगट होता है और उस विवेक से सम्यक्त्व की उपलब्धि होती है और अज्ञान (मिथ्यात्व) समाप्त हो जाता है।"¹ इस प्रकार अज्ञान का निवर्तन और सत्य दृष्टिकोण की उपलब्धि, जो मुक्ति (निर्वाण) की अनिवार्य शर्त है, बिना मनःशुद्धि के सम्भव ही नहीं है। जैन विचारणा में मन मुक्ति का आवश्यक हेतु है। शुद्ध संयमित मन निर्वाण का हेतु बनता है जबकि अनियन्त्रित मन ही अज्ञान अथवा मिथ्यात्व का

कारण होकर प्राणियों के बन्धन का हेतु है। इसी तथ्य को आचार्य हेमचन्द्र ने निम्न रूप में प्रस्तुत किया है। वे कहते हैं, "मन का निरोध हो जाने पर कर्म (बन्धन) में पूरी तरह रुक जाते हैं क्योंकि कर्म का आस्रव मन के अधीन है लेकिन जो पुरुष मन का निरोध नहीं करता है उसके कर्मों (बन्धन) की अभिवृद्धि होती रहती है।"²

बौद्धदर्शन में चित्त, विज्ञप्ति आदि मन के पर्यायवाची शब्द हैं। तथागत बुद्ध का कथन है "सभी प्रवृत्तियों का आरम्भ मन से होता है, मन की उनमें प्रधानता है वे प्रवृत्तियाँ मनोमय हैं। जो सदोष मन से आचरण करता है, भाषण करता है उसका दुःख वैसे ही अनुगमन करता है जैसे -- रथ का पहिया छोड़े के पैरों का अनुगमन करता है।"³ किन्तु जो स्वच्छ (शुद्ध) मन से भाषण एवं आचरण करता है उसका सुख वैसे ही अनुगमन करता है जैसे साथ नहीं छोड़ने वाली छाया।"⁴ कुमार पर लगा हुआ चित्त सर्वाधिक अहितकारी और सन्मार्ग पर लगा हुआ चित्त सर्वाधिक हितकारी है।⁵ अतः जो इसका संयम करेंगे वे मार के बन्धन से मुक्त हो जाएँगे।⁶ लंकावतारसूत्र में कहा गया है, "चित्त की ही प्रवृत्ति होती है और चित्त की ही विमुक्ति होती है।"⁷

वेदान्त परम्परा में भी सर्वत्र यही दृष्टिकोण मिलता है कि जीवात्मा के बन्धन और मुक्ति का कारण मन ही है। ब्रह्मबिन्दु उपनिषद् में कहा गया है कि "मनुष्य के बन्धन और मुक्ति का कारण मन ही है। उसके विषयासक्त होने पर बन्धन है और उसका निर्विषय होना ही मुक्ति है।"⁸ गीता में कहा गया है -- "इन्द्रियाँ मन और बुद्धि ही इस वासना के वास स्थान कहे गये हैं⁹ और यह वासना इनके द्वारा ही ज्ञान को आवृत कर समाप्त हो गई है ऐसे ब्रह्मभूत योगी को ही उत्तम आनन्द प्राप्त होता है।"¹⁰

आचार्य शंकर भी विवेक चूड़ामणि में लिखते हैं कि मन से ही बन्धन की कल्पना होती है और उसी से मोक्ष की। मन ही देहादि विषयों में राग को बाँधता है और फिर विषय-विषयों में विरसता उत्पन्न कर मुक्त कर देता है। इसीलिए इस जीव के बन्धन और मुक्ति के विधान में मन ही कारण है। रजोगुण से मलिन हुआ मन बन्धन का हेतु होता है तथा रज-तम से रहित शुद्ध सात्विक होने पर मोक्ष का कारण होता है।"¹¹

यद्यपि उपरोक्त प्रमाण यह तो बता देते हैं कि मन बन्धन और मुक्ति का प्रबलतम एकमात्र कारण है। लेकिन फिर भी यह प्रश्न अभी अनुत्तरित ही रह जाता है कि मन ही को क्यों बन्धन और मुक्ति का कारण माना गया है ?

जैन साधना में मन ही बन्धन और मुक्ति का कारण क्यों ?

यदि हम इस प्रश्न का उत्तर जैन तत्त्वज्ञान की दृष्टि से खोजने का प्रयास करें, तो हमें ज्ञात होता है कि जैन तत्त्वमीमांसा में जड़ और चेतन ये दो मूल तत्त्व हैं। शेष आस्रव, संवर, बन्ध, मोक्ष और निर्जरा तो इन दो मूल तत्त्वों के सम्बन्ध की विभिन्न अवस्थाएँ हैं। शुद्ध आत्मा तो बन्धन का कारण नहीं हो सकता, क्योंकि उसमें मानसिक, वाचिक और कायिक

क्रियाओं (योग) का अभाव है दूसरी ओर मनोभाव से पृथक् कायिक और वाचिक कर्म एवं जड़कर्म परमाणु भी बन्धन के कारण नहीं होते हैं। बन्धन के कारण राग, द्वेष, मोह आदि मनोभाव आत्मिक अवश्य माने गये हैं, लेकिन इन्हें आत्मगत इसलिए कहा गया है कि बिना चेतन-सत्ता के ये उत्पन्न नहीं होते हैं। चेतन सत्ता रागादि के उत्पादन का निमित्त कारण अवश्य है लेकिन बिना मन के वह रागादि भाव उत्पन्न नहीं कर सकती। इसीलिए यह कहा गया कि मन ही बन्धन और मुक्ति का कारण है। दूसरे हिन्दू, बौद्ध और जैन आचार-दर्शन इस बात में एकमत हैं कि बन्धन का कारण अविद्या (मोह) है। अब प्रश्न यह है कि इस अविद्या का वास स्थान कहाँ है ? आत्मा को इसका वास स्थान मानना भ्रान्ति होगी, क्योंकि जैन और वेदांत दोनों परम्पराओं में आत्मा का स्वभाव तो सम्यग्ज्ञान है, मिथ्यात्व, मोह किंवा अविद्या आत्माश्रित हो सकते हैं लेकिन वे आत्म-गुण नहीं हैं और इसलिए उन्हें आत्मगत मानना युक्तिसंगत नहीं है। अविद्या को जड़ प्रकृति का गुण मानना भी भ्रान्ति होगी क्योंकि वे ज्ञानाभाव ही नहीं वरन् विपरीत ज्ञान भी है। अतः अविद्या का वासस्थान मन को ही माना जा सकता है जो जड़ और चैतन्य के संयोग से निर्मित है। अतः उसी में अविद्या निवास करती है उसके निर्वर्तन पर शुद्ध आत्मदशा में अविद्या की सम्भावना किसी भी स्थिति में नहीं हो सकती।

मन आत्मा के बन्धन और मुक्ति में किस प्रकार अपना भाग अदा करता है, इसे निम्न रूपक से समझा जा सकता है। मान लीजिए, कर्मावरण से कुंठित शक्ति वाला आत्मा उस आँख के समान है जिसकी देखने की क्षमता क्षीण हो चुकी है। जगत एक श्वेत वस्तु है और मन ऐनक है। आत्मा को मुक्ति के लिए जगत के वास्तविक स्वरूप का ज्ञान करना है लेकिन अपनी स्वशक्ति के कुंठित होने पर वह स्वयं तो सीधे रूप में यथार्थ ज्ञान नहीं पा सकता। उसे मन रूपी चश्मे की सहायता आवश्यक होती है लेकिन यदि ऐनक रंगीन कौंचों का हो तो वह वस्तु का यथार्थ ज्ञान न देकर भ्रांत ज्ञान ही देता है। उसी प्रकार यदि मन रागद्वेषादि वृत्तियों से दूषित (रंगीन) है तो वह यथार्थ ज्ञान नहीं देता और हमारे बन्धन का कारण बनता है। लेकिन यदि मन रूपी ऐनक निर्मल है तो वह वस्तुतत्त्व का यथार्थ ज्ञान देकर हमें मुक्त बना देता है। जिस प्रकार ऐनक में बिना किसी चेतन आँख के संयोग के देखने की कोई शक्ति नहीं होती, उसी प्रकार जड़ मन-परमाणुओं में भी बिना किसी चेतन आत्मा के संयोग के बन्धन और मुक्ति की कोई शक्ति नहीं है। वस्तुस्थिति यह है कि जिस प्रकार ऐनक से देखने वाले नेत्र हैं लेकिन विकास या रंगीनता का कार्य ऐनक में है, उसी प्रकार बन्धन के कारण रागद्वेषादि विकार न तो आत्मा के कार्य हैं और न जड़ तत्त्व के कार्य हैं वरन् मन के ही कार्य हैं।

जैन विचारणा के समान गीता में भी यह कहा गया है कि इन्द्रियाँ, मन और बुद्धि इस "काम" के वासस्थान हैं। इनके आश्रयभूत होकर ही यह काम ज्ञान को आच्छादित कर जीवात्मा को मोहित किया करता है।¹² ज्ञान आत्मा का कार्य है लेकिन ज्ञान में जो विकार आता है वह आत्मा का कार्य न होकर मन का कार्य है। फिर भी हमें यह स्मरण रखना चाहिए, जहाँ गीता में विकार या काम का वासस्थान मन को माना गया है वहाँ जैन विचारणा में विकार या कामादि का वासस्थान आत्मा को ही माना गया है। वे मन के कार्य अवश्य हैं लेकिन उनका

वास स्थान आत्मा ही है। जैसे रंगीन देखना चश्मे का कार्य है, लेकिन रंगीनता का ज्ञान तो चेतना में ही होगा।

सम्भवतः यहाँ शंका होती है कि जैन विचारणा में तो अनेक बद्ध प्राणियों को अमनस्क माना गया है, फिर उनमें जो अविद्या या मिथ्यात्व है वह किसका कार्य है ? इसका उत्तर यह है कि जैन विचारणा के अनुसार प्रथम तो सभी प्राणियों में भाव मन की सत्ता स्वीकार की गई है। दूसरे श्वेताम्बर परम्परा के अनुरूप यदि मन को सम्पूर्ण शरीरगत मानें¹³ तो वहाँ देव्य मन भी है, लेकिन वह केवल ओघसंज्ञा है। दूसरे शब्दों में, उन्हें केवल विवेकशक्ति-विहीन मन (irrational mind) प्राप्त है। जैन शास्त्रों में जो समनस्क और अमनस्क प्राणियों का भेद किया गया है वह दूसरी विवेकसंज्ञा (Faculty of reasoning) की अपेक्षा से है। जिन्हें शास्त्र में समनस्क प्राणी कहा गया है उनसे तात्पर्य विवेक शक्ति युक्त प्राणियों से है। जो अमनस्क प्राणी कहे गये हैं उनमें विवेकक्षमता नहीं होती है। वे न तो सुदीर्घभूत की स्मृति रख सकते हैं और न भविष्य की और न शुभाशुभ का विचार कर सकते हैं। उनमें मात्र वर्तमानकालिक संज्ञा होती है और मात्र अंध वासनाओं (मूल प्रवृत्तियों) से उनका व्यवहार चालित होता है। अमनस्क प्राणियों में सत्तात्मक मन तो है, लेकिन उनमें शुभाशुभ का विवेक नहीं होता है, इसी विवेकाभाव की अपेक्षा से ही उन्हें अमनस्क कहा जाता है।

जैन विचारणा के अनुसार नैतिक विकास का प्रारम्भ विवेक क्षमतायुक्त मन की उपलब्धि से ही होता है जब तक विवेक क्षमतायुक्त मन प्राप्त नहीं होता है तब तक शुभाशुभ का विभेद नहीं किया जा सकता और जब तक शुभाशुभ का ज्ञान प्राप्त नहीं होता है तब तक नैतिक विकास की सही दिशा का निर्धारण और नैतिक प्रगति नहीं हो पाती है। अतः विवेकक्षमता युक्त (Rational mind) नैतिक प्रगति की अनिवार्य शर्त है। ब्रेडले प्रभृति पाश्चात्य विचारकों ने भी बौद्धिक क्षमता या शुभाशुभ विवेक को नैतिक प्रगति के लिए आवश्यक माना है। फिर भी जैन विचारणा का उनसे प्रमुख मतभेद यह है कि वे नैतिक उत्तरदायित्व (Moral responsibility) और नैतिक प्रगति (Moral progress) दोनों के लिए विवेकक्षमता को आवश्यक मानते हैं, जबकि जैन विचारक नैतिक प्रगति के लिए तो विवेक आवश्यक मानते हैं लेकिन नैतिक उत्तरदायित्व के लिए विवेक शक्ति को आवश्यक नहीं मानते हैं। यदि कोई प्राणी विवेकाभाव में भी अनैतिक कर्म करता है तो जैन दृष्टि से वह नैतिक रूप से उत्तरदायी होगा। क्योंकि (1) प्रथमतः, विवेकाभाव ही प्रमत्तता है और यही अनैतिकता का कारण है। अतः विवेकपूर्वक कार्य नहीं करने वाला नैतिक उत्तरदायित्व से मुक्त नहीं है। (2) दूसरे, विवेक शक्ति तो सभी चेतन आत्माओं में है, जिसमें वह प्रसुप्त है, उस प्रसुप्ति के लिए भी वे स्वयं ही उत्तरदायी हैं। (3) तीसरे अनेक प्राणी तो ऐसे हैं जिनमें विवेक का प्रगटन हो चुका था, जो कभी समनस्क या विवेकवान प्राणी थे, लेकिन उन्होंने उस विवेकशक्ति का यथार्थ उपयोग न किया। फलस्वरूप उनमें वह विवेकशक्ति पुनः कुण्ठित हो गई। अतः ऐसे प्राणियों को नैतिक उत्तरदायित्व से मुक्त नहीं माना जा सकता।

सूत्रकृतांग में इस सम्बन्ध में स्पष्ट उल्लेख मिलता है -- कई जीव ऐसे भी हैं, जिनमें जरा-सी तर्कशक्ति, प्रज्ञाशक्ति या मन या वाणी की शक्ति नहीं होती है। वे मूढ़ जीव भी सबके प्रति समान दोषी हैं और उसका कारण यह है कि सब योनियों के जीव एक जन्म में संज्ञा (विवेक) वाले होकर अपने किये हुए कर्मों के कारण दूसरे जन्म में असंज्ञी (विवेक शून्य) बनकर जन्म लेते हैं। अतएव विवेकवान् होना या न होना अपने ही किये हुए कर्मों का फल होता है इससे विवेकाभाव की दशा में जो कुछ पाप-कर्म होते हैं उनकी जवाबदारी भी उनकी ही है।

यद्यपि जैन तत्त्वज्ञान में जीवों के अव्यवहार-राशि की जो कल्पना की गई है, उस वर्ग के जीवों के नैतिक उत्तरदायित्व की व्याख्या सूत्रकृतांग के इस आधार पर नहीं हो सकती। क्योंकि अव्यवहार-राशि के जीवों को तो विवेक कभी प्रगटित ही नहीं हुआ वे तो केवल इस आधार पर ही उत्तरदायी माने जा सकते हैं कि उनमें जो विवेकक्षमता प्रसुप्त है वे उसका प्रगटन नहीं कर रहे हैं।

एक प्रश्न यह भी है कि यदि नैतिक प्रगति के लिए "सविवेक मन" आवश्यक है तो फिर जैन विचारणा के अनुसार वे सभी प्राणी जिनमें ऐसे "मन" का अभाव है, नैतिक प्रगति के पथ पर कभी आगे नहीं बढ़ सकेंगे। जैन विचारणा के अनुसार इस प्रश्न का उत्तर यह होगा कि "विवेक" के अभाव में भी कर्म का बन्ध और भोग तो चलता है, लेकिन फिर भी जब विचारक-मन का अभाव होता है तो कर्म वासना-संकल्प से युक्त होते हुए भी वैचारिक संकल्प से युक्त नहीं होते हैं और कर्मों के वैचारिक संकल्प से युक्त नहीं होने के कारण बन्धन में तीव्रता भी नहीं होती है। इस प्रकार नवीन कर्मों का बन्ध होते हुए भी तीव्र बन्ध नहीं होता है और पुराने कर्मों का भोग चलता रहता है। अतः नदी-पाषाण न्याय के अनुसार संयोग से कभी न कभी वह अवसर हो जाता है, जब प्राणी विवेक को प्राप्त कर लेता है और नैतिक विकास की ओर अग्रसर हो सकता है।

मन का स्वरूप

इस प्रकार हम देखते हैं कि मन आचारदर्शन का केन्द्र बिन्दु है। जैन, बौद्ध और गीता के आचारदर्शनों की परम्परायें मन को नैतिक जीवन के सन्दर्भ में अत्यधिक महत्त्वपूर्ण स्थान प्रदान करती हैं। अतः यह स्वाभाविक है कि मन का स्वरूप क्या है और वह नैतिक जीवन को किस प्रकार प्रभावित करता है इस तथ्य पर भी विचार करें।

मन के स्वरूप के विश्लेषण की प्रमुख समस्या यह है कि क्या मन भौतिक तत्त्व है अथवा आध्यात्मिक तत्त्व है? बौद्ध विचारणा मन को चेतन तत्त्व मानती है जबकि सांख्यदर्शन और योगवासिष्ठ में उसे जड़ माना गया है।¹⁴ गीता सांख्य विचारणा के अनुरूप मन को जड़ प्रकृति से ही उत्पन्न और त्रिगुणात्मक मानती है।¹⁵

जैन विचारणा में मन के भौतिक पक्ष को "द्रव्यमन" और चेतन पक्ष को "भावमन" कहा गया है।¹⁶ विशेषावश्यकभाष्य में बताया गया है कि द्रव्यमन मनोवर्णाणा नामक परमाणुओं

से बना हुआ है। यह मन का भौतिक पक्ष (Physical or structural aspect of mind) है। साधारण रूप से इसमें शरीरस्थ सभी ज्ञानात्मक एवं संवेदनात्मक अंग आ जाते हैं। मनोवर्णा के परमाणुओं से निर्मित उस भौतिक रचना तन्त्र में प्रवाहित होने वाली चैतन्यधारा भावमन है। दूसरे शब्दों में, इस रचना तन्त्र को आत्मा से मिली हुई चिन्तन-मनरूप चैतन्य शक्ति ही भाव मन (Psychical aspect of mind) है।

यहाँ पर एक विचारणीय प्रश्न यह भी उठता है कि द्रव्यमन और भावमन शरीर के किस भाग में स्थित है। दिगम्बर सम्प्रदाय के ग्रन्थ गोम्मतसार के जीवकाण्ड में द्रव्यमन का स्थान हृदय माना गया है जबकि श्वेताम्बर आगमों में ऐसा कोई निर्देश उपलब्ध नहीं है कि मन शरीर के किस विशेष भाग में स्थित है। पं० सुखलाल जी अपने गवेषणापूर्ण अध्ययन के आधार पर यह मानते हैं कि -- "श्वेताम्बर परम्परा का समग्र स्थूल शरीर ही द्रव्यमन का स्थान इष्ट है।" जहाँ तक भावमन के स्थान का प्रश्न है उसका स्थान आत्मा ही है। क्योंकि आत्म-प्रदेश सम्पूर्ण शरीर में व्याप्त है अतः भावमन का स्थान भी सम्पूर्ण शरीर ही सिद्ध होता है।

यदि हम तुलनात्मक दृष्टि से विचार करें तो बौद्ध-दर्शन में मन को हृदयप्रदेशवर्ती माना गया है। जो दिगम्बर सम्प्रदाय की द्रव्यमन सम्बन्धी मान्यता के निकट आता है। जबकि सांख्य परम्परा श्वेताम्बर सम्प्रदाय के निकट है। पं० सुखलाल जी लिखते हैं कि सांख्य आदि दर्शनों की परम्परा के अनुसार मन का स्थान केवल हृदय नहीं माना जा सकता क्योंकि उस परम्परा के अनुसार मन सूक्ष्मलिङ्ग शरीर में, जो अष्टादश तत्त्वों का विशिष्ट निकायरूप है, प्रविष्ट है और सूक्ष्म शरीर का स्थान समस्त स्थूल शरीर ही मानना उचित जान पड़ता है। अतएव उस परम्परा के अनुसार मन का स्थान समग्र स्थूल शरीर ही सिद्ध होता है।

जैन विचारणा मन के आध्यात्मिक और भौतिक दोनों स्वरूपों को स्वीकार करके ही संतोष नहीं मान लेती वरन् इन भौतिक और आध्यात्मिक पक्षों के बीच गहन सम्बन्ध को भी स्वीकार कर लेती है। जैन नैतिक विचारणा में बन्धन के लिए अमूर्त चेतन आत्मतत्त्व और जड़ कर्मतत्त्व का जो सम्बन्ध स्वीकार किया गया है उसकी व्याख्या के लिए उसे मन के स्वरूप का यही सिद्धान्त अभिप्रेत हो सकता है। अन्यथा जैन विचारणा की बन्धन और मुक्ति की व्याख्या ही असम्भव होगी। वेदान्तिक अद्वैतवाद, बौद्ध विज्ञानवाद एवं शून्यवाद के दर्शनों में बन्धन का कारण अन्य तत्त्व को नहीं माना जाता। अतः वहाँ सम्बन्ध की समस्या ही नहीं आती। सांख्यदर्शन में आत्मा को कूटस्थ मानने के कारण वहाँ भी पुरुष और प्रकृति के सम्बन्ध की कोई समस्या नहीं रहती। इसलिए वे मन को एकांत जड़ अथवा चेतन मानकर अपना काम चला लेते हैं। लेकिन जड़ और चेतन के मध्य सम्बन्ध मानने के कारण जैन-दर्शन के लिए मन को उभयरूप मानना आवश्यक है। जैन विचारणा में मन अपने उभयात्मक स्वरूप के कारण ही जड़ कर्मवर्णा के पुद्गल और चेतन आत्म-तत्त्व के मध्य योजक कड़ी बन गया है। मन की शक्ति चेतना में है और उसका कार्य-क्षेत्र भौतिक जगत् है। जड़ पक्ष की ओर से वह भौतिक पदार्थों से प्रभावित होता है और अपने चेतन-पक्ष की ओर से आत्मा को प्रभावित करता है। इस प्रकार जैन दार्शनिक मन के द्वारा आत्मतत्त्व और जड़तत्त्व के मध्य अपरोक्ष सम्बन्ध बना

देते हैं और इस सम्बन्ध के आधार पर ही अपनी बन्धन की धारणा को सिद्ध करते हैं। मन, जड़ जगत् और चेतन जगत् के मध्य अवस्थित एक ऐसा माध्यम है जो दोनों स्वतन्त्र सत्ताओं में सम्बन्ध बनाये रखता है, जब तक यह माध्यम रहता है तभी तक जड़ एवं चेतन जगत् में पारस्परिक प्रभावकता रहती है, जिसके कारण बन्धन का क्रम चलता रहता है। निर्वाण की प्राप्ति के लिए पहले मन के इन उभय पक्षों को अलग-अलग करना होता है। इनके अलग-अलग होने पर मन की प्रभावक शक्ति क्षीण होने लगती है और अन्त में मन का ही विलय होकर निर्वाण की उपलब्धि हो जाती है और निर्वाण दशा में इस उभय स्वरूप मन का ही अभाव होने से बन्धन की सम्भावना नहीं रहती।

उभयात्मक मन के माध्यम से जड़ और चेतन में पारस्परिक प्रभावकता (Interaction) मान लेने मात्र से समस्या का पूर्ण समाधान नहीं होता। प्रश्न यह है कि बाह्य भौतिक घटनायें एवं क्रियायें आत्मतत्त्व को कैसे प्रभावित करती हैं जबकि दोनों स्वतन्त्र हैं। यदि उभयरूप मन को उनका योजक तत्त्व मान भी लिया जाय तो इससे समस्या का निराकरण नहीं होता। यह तो समस्या का खिसकाना मात्र है। जो सम्बन्ध की समस्या भौतिक जगत् और आत्मतत्त्व के मध्य थी, उसे केवल द्रव्य मन और भाव मन के नाम से मनोजगत् में स्थानान्तरित कर दिया गया है। द्रव्य मन और भाव मन कैसे एक-दूसरे को प्रभावित करते हैं यह समस्या अभी बनी हुई है। चाहे यह सम्बन्ध की समस्या भौतिक और आध्यात्मिक स्तर पर हो, चाहे जड़ कर्म परमाणु और चेतन आत्मा के मध्य हो अथवा मन के भौतिक और अभौतिक स्तरों पर हो, समस्या अवश्य बनी रहती है। उसके निराकरण के दो ही मार्ग हैं। या तो भौतिक और आध्यात्मिक संज्ञाओं में से किसी एक के अस्तित्व का निषेध कर दिया जाए अथवा उनमें एक प्रकार का समानान्तरवाद मान लिया जाए। जैन दार्शनिकों ने पहिले विकल्प में यह दोष पाया कि यदि केवल चेतन तत्त्व की सत्ता मानी जाए तो समस्त भौतिक जगत् को मिथ्या कहकर अनुभूति के तथ्यों को ठुकरा देना होगा, जैसा कि विज्ञानवादी एवं शून्यवादी बौद्ध दार्शनिकों तथा अद्वैतवादी आचार्य शंकर ने किया। यदि दूसरी ओर चेतन की स्वतन्त्र सत्ता का निषेध कर मात्र जड़तत्त्व की सत्ता को ही माना जाये तो भौतिकवाद में आना होगा, जिसमें नैतिक जीवन के लिए कोई स्थान शेष नहीं रहेगा। डॉ० राधाकृष्णन् लिखते हैं, "जैन दार्शनिकों ने मन और शरीर का द्वैत स्वीकार किया और इसलिए वे समानान्तरवाद को भी उसकी समस्त सीमाओं सहित स्वीकार कर लेते हैं। वे चैतन्य और अचैतन्य तथ्यों में एक पूर्व संस्थापित सामंजस्य (Pre-established harmony) स्वीकार करते हैं।"¹⁷ लेकिन जैन विचारणा में द्रव्यमन और भावमन के मध्य केवल समानान्तरवाद या पूर्व संस्थापित सामंजस्य ही नहीं मानती है। व्यावहारिक दृष्टि से तो जैन विचारक उनमें वास्तविक सम्बन्ध भी मानते हैं। समानान्तरवाद या पूर्व संस्थापित सामंजस्य तो केवल पारमार्थिक या द्रव्यार्थिक दृष्टि से स्वीकार किया गया है। इस प्रकार जैन दार्शनिक तत्त्वज्ञान के क्षेत्र में जड़ और चेतन में नितान्त भिन्नता मानते हुए भी अनुभव के स्तर पर या मनोवैज्ञानिक स्तर पर उनमें वास्तविक सम्बन्ध को स्वीकार कर लेते हैं। डॉ० कल्पघटगी लिखते हैं कि "जैन चिन्तकों ने मानसिक भावों को जड़ कर्मों से प्रभावित होने के सन्दर्भ में एक परिष्कारित समानान्तरवाद प्रस्तुत किया है -- उनका समानान्तरवाद

व्यक्ति के मन और शरीर के सम्बन्ध में एक प्रकार का मनोभौतिक समानान्तरवाद है-- यद्यपि वे मानसिक और शारीरिक तथ्यों के मध्य होने वाली पारस्परिक क्रिया-प्रतिक्रिया की धारणा को स्पष्ट रूप से अभिव्यक्त करता है -- जैन दृष्टिकोण जड़ और चेतन के मध्य रहे हुए तात्त्विक विरोध के समन्वय का एक प्रयास है जो वैयक्तिक मन एवं शरीर के मध्य पारस्परिक क्रिया-प्रतिक्रिया की धारणा की संस्थापना करता है।¹⁸

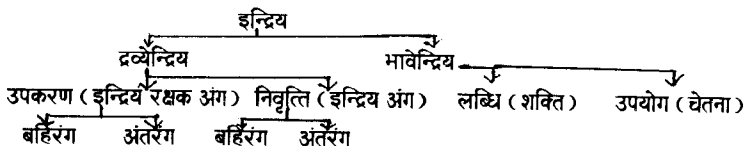
इस प्रकार हमने यह देखा कि जैन विचारणा में बाह्य भौतिक जगत् से सम्बन्धित "मन" का द्रव्यात्मक पक्ष किस प्रकार अपने भावात्मक पक्ष को प्रभावित करता है और "जीवात्मा" को बन्धन में डालता है। लेकिन मन जिन साधनों के द्वारा बाह्य जगत् से सम्बन्ध बनाता है वे तो इन्द्रियाँ हैं, मन की विषय-सामग्री तो इन्द्रियों के माध्यम से आती है। बाह्य जगत् से मन का सीधा सम्बन्ध नहीं होता है वरन् वह इन्द्रियों के माध्यम से जागतिक विषयों से अपना सम्बन्ध बनाता है। मन जिस पर कार्य करता है वह सारी सामग्री तो इन्द्रिय-संवेदन से प्राप्त होती है। अतः मन के कार्य के सम्बन्ध में विचार करने से पहले हमें इन्द्रियों के सम्बन्ध में भी थोड़ा विचार कर लेना होगा।

मन के साधन-इन्द्रियाँ

इन्द्रिय शब्द के अर्थ की विशद विवेचना न करते हुए यहाँ हम केवल यही कहें कि "जिन-जिन कारणों की सहायता से जीवात्मा विषयों की ओर अभिमुख होता है अथवा विषयों के उपभोग में समर्थ होता है वे इन्द्रियाँ हैं।" इस अर्थ को लेकर गीता या जैन आगमों में कहीं कोई विवाद नहीं पाया जाता। यद्यपि कुछ विचारकों की दृष्टि में इन्द्रियाँ "मन" का साधन या "करण" मानी जाती हैं।

इन्द्रियों की संख्या

जैन दृष्टि में इन्द्रियाँ पाँच मानी जाती हैं -- (1) श्रोत्र, (2) चक्षु, (3) घ्राण, (4) रसना और (5) स्पर्शन। सांख्य विचारणा में इन्द्रियों की संख्या 11 मानी गई है -- 5 ज्ञानेन्द्रियाँ, 5 कर्मेन्द्रियाँ और 1 मन। जैन विचारणा में 5 ज्ञानेन्द्रियाँ तो उसी रूप में मानी गई हैं किन्तु मन नोइन्द्रिय (Quasi sense-organ) कहा गया है। पाँच कर्मेन्द्रियों की तुलना -- उनकी 10 बल की धारणा में वाक्बल, शरीरबल एवं श्वासोच्छ्वास बल से की जा सकती है।¹⁹ बौद्ध ग्रन्थ विशुद्धिमग्गो में इन्द्रियों की संख्या 22 मानी गई है।²⁰ बौद्ध विचारणा में उक्त पाँच इन्द्रियों के अतिरिक्त पुरुषत्व, स्त्रीत्व, सुख-दुःख तथा शुभ एवं अशुभ आदि को भी इन्द्रिय माना गया है। जैन दर्शन में इन्द्रियाँ दो प्रकार की होती हैं -- (1) द्रव्येन्द्रिय (2) भावेन्द्रिय। इन्द्रियों की आंगिक संरचना (Structural aspect) द्रव्येन्द्रिय कहलाती है और आन्तरिक क्रिया शक्ति (Functional aspect) भावेन्द्रिय कहलाती है। इनमें से प्रत्येक के पुनः उप विभाग किये गये हैं जिन्हें संक्षेप में निम्न सारिणी से समझा जा सकता है :



इन्द्रियों के व्यापार या विषय

(1) श्रोत्रेन्द्रिय का विषय शब्द है। शब्द तीन प्रकार का माना गया है -- जीव का शब्द, अजीव का शब्द और मिश्र शब्द। कुछ विचारक 7 प्रकार के शब्द मानते हैं। (2) चक्षु इन्द्रिय का विषय रंग-रूप है। रंग काला, नीला, पीला, लाल और श्वेत, पाँच प्रकार का है। शेष रंग इन्हीं के सम्मिश्रण के परिणाम हैं। (3) घ्राणेन्द्रिय का विषय गन्ध है। गन्ध दो प्रकार की होती है -- सुगन्ध और दुर्गन्ध। (4) रसना का विषय रसास्वादन है। रस 5 प्रकार के होते हैं -- कटु, अम्ल, लवण, तिक्त और कषाय। (5) स्पर्श इन्द्रिय का विषय स्पर्शानुभूति है। स्पर्श आठ प्रकार के होते हैं -- उष्ण, शीत, रूक्ष, चिकना, हल्का, भारी, कर्कश और कोमल। इस प्रकार श्रोत्रेन्द्रिय के 3, चक्षुरिन्द्रिय के 5 घ्राणेन्द्रिय के 2, रसनेन्द्रिय के 5 और स्पर्शेन्द्रिय के 8, कुल मिलाकर पाँचों इन्द्रियों के 23 विषय होते हैं।

जैन विचारणा में सामान्य रूप से यह माना गया है कि पाँचों इन्द्रियों के द्वारा जीव उपरोक्त विषयों का सेवन करता है। गीता में कहा गया है यह जीवात्मा श्रोत्र, चक्षु, त्वचा, रसना, घ्राण और मन के आश्रय से ही विषयों का सेवन करता है।²¹

ये विषय-भोग आत्मा को बाह्यमुखी बना देते हैं। प्रत्येक इन्द्रिय अपने-अपने विषयों की ओर आकर्षित होती है और इस प्रकार आत्मा का आन्तरिक समत्व भंग हो जाता है। उत्तराध्ययनसूत्र में कहा गया है कि, "साधक शब्द, रूप, रस, गन्ध तथा स्पर्श इन पाँचों प्रकार के कामगुणों (इन्द्रिय-विषयों) को सदा के लिए छोड़ दे²² क्योंकि ये इन्द्रियों के विषय आत्मा में विकार उत्पन्न करते हैं।

इन्द्रियाँ अपने विषयों से किस प्रकार सम्बन्ध स्थापित करती हैं और आत्मा को उन विषयों से कैसे प्रभावित करती हैं इसकी विस्तृत व्याख्या प्रज्ञापनासूत्र और अन्य जैन ग्रन्थों में मिलती है। विस्तार भय से हम इस विवेचना में जाना नहीं चाहते हैं। हमारे लिए इतना ही जान लेना पर्याप्त है कि जिस प्रकार द्रव्यमन भावमन को प्रभावित करता है और भावमन से आत्मा प्रभावित होता है। उसी प्रकार द्रव्य-इन्द्रिय (Structural aspect of sense organ) का विषय से सम्पर्क होता है और वह भाव-इन्द्रिय (Functional and Psychic aspect of sense organ) को प्रभावित करती है और भाव-इन्द्रिय आत्मा की शक्ति होने के कारण उससे आत्मा प्रभावित होता है। नैतिक चेतना की दृष्टि से मन और इन्द्रियों के महत्व तथा स्वरूप के सम्बन्ध में यथेष्ट रूप से विचार कर लेने के पश्चात् यह जान लेना उचित होगा कि मन और इन्द्रियों का ऐसा कौन सा महत्त्वपूर्ण कार्य है जिसके कारण उन्हें नैतिक चेतना में इतना स्थान दिया जाता है।

वासनाप्राणीय व्यवहार का प्रेरक तत्त्व

मन और इन्द्रियों के द्वारा विषयों का सम्पर्क होता है। इस सम्पर्क से कामना उत्पन्न होती है। यही कामना या इच्छा नैतिकता की परिसीमा में आने वाले व्यवहार का आधारभूत प्रेरक तत्त्व है। सभी भारतीय आचार-दर्शन यह स्वीकार करते हैं कि वासना,

कामना या इच्छा से प्रसूत समस्त व्यवहार ही नैतिक विवेचना का विषय है। स्मरण रखना चाहिए कि भारतीय दर्शनों में वासना, कामना, कामगुण, इच्छा, आशा, लोभ, तृष्णा, आसक्ति आदि शब्द लगभग समानार्थक रूप में प्रयुक्त हुए हैं। जिनका सामान्य अर्थ मन और इन्द्रियों की अपने विषयों की "चाह" से है। बन्धन का कारण इन्द्रियों का उनके विषयों से होने वाला सम्पर्क या सहज शारीरिक क्रियाएँ नहीं हैं, वरन् वासना है। नियमसार में स्पष्ट रूप से कहा गया है कि सामान्य व्यक्ति के उठना-बैठना, चलना-फिरना, देखना-जानना आदि क्रियाएँ वासना से युक्त होने के कारण बन्धन का कारण है जबकि केवली (सर्वज्ञ या जीवन्मुक्त) की ये सभी क्रियाएँ वासना या इच्छारहित होने के कारण बन्धन का कारण नहीं होतीं। इच्छा या संकल्प (परिणाम) पूर्वक किए हुए वचन आदि कार्य ही बन्धन के कारण होते हैं। इच्छारहित कार्य बन्धन के कारण नहीं होते।²³

इस प्रकार यह सिद्ध होता है कि जैन आचार-दर्शन में वासनात्मक तथा ऐच्छिक व्यवहार ही नैतिक निर्णय का प्रमुख आधार है। जैन नैतिक विवेचना की दृष्टि से वासना (इच्छा) को ही समग्र जीवन के व्यवहार क्षेत्र का चालक तत्त्व कहा जा सकता है। पाश्चात्य आचार-दर्शन में जीववृत्ति (want) क्षुधा (Appetite), इच्छा (Desire) अभिलाषा (wish) और संकल्प (will) में अर्थ वैभिन्न्य एवं क्रम माना गया है। उनके अनुसार इस समग्र क्रम में चेतना की स्पष्टता के आधार पर विभेद किया जा सकता है। जीववृत्ति चेतना के निम्नतम स्तर वनस्पति जगत् में पायी जाती है, पशुजगत् में जीववृत्ति के साथ-साथ क्षुधा का भी योग होता है लेकिन चेतना के मानवीय स्तर पर आकर तो जीववृत्ति से संकल्प तक के सारे ही तत्त्व उपलब्ध होते हैं। वस्तुतः जीववृत्ति से लेकर संकल्प तक के सारे स्तरों में वासना के मूल तत्त्व में मूलतः कोई अन्तर नहीं है, अन्तर है, केवल चेतना में उसके बोध का। दूसरे शब्दों में, इनमें मात्रात्मक अन्तर है, गुणात्मक अन्तर नहीं है। यही कारण है भारतीय दर्शन में इस क्रम के सम्बन्ध में कोई विवेचना उपलब्ध नहीं होती है। भारतीय साहित्य में वासना, कामना, इच्छा और तृष्णा आदि शब्द तो अवश्य मिलते हैं और वासना की तीव्रता की दृष्टि से इनमें अन्तर भी किया जा सकता है। फिर भी साधारण रूप से समानार्थक रूप में ही उनका प्रयोग हुआ है। भारतीय-दर्शन की दृष्टि से वासना को जीववृत्ति (want) तथा क्षुधा (Appetite), कामना को इच्छा (Desire), इच्छा को अभिलाषा (Desire) और तृष्णा को संकल्प (will) कहा जा सकता है। पाश्चात्य विचारक जहाँ वासना के केवल उस रूप को, जिसे हम संकल्प (will) कहते हैं, नैतिक निर्माण का विषय बनाते हैं, वहाँ भारतीय चिन्तन में वासना के वे रूप भी जिनमें वासना की चेतना का स्पष्ट बोध नहीं है, नैतिकता की परिसीमा में आ जाते हैं।

चाहे वासना के रूप में अन्ध ऐन्द्रिक अभिवृत्ति हो या मन का विमर्शात्मक संकल्प हो, दोनों के ही मूल में वासना का तत्त्व निहित है और यही वासना प्राणीय व्यवहार की मूलभूत प्रेरक है। व्यवहार की दृष्टि से वासना (जीववृत्ति) और तृष्णा (संकल्प) में अन्तर यह है कि पहली स्पष्ट रूप से चेतना के स्तर पर नहीं होने के कारण मात्र अन्ध प्रवृत्ति होती है जबकि दूसरी चेतना के स्तर पर होने के कारण विमर्शात्मक होती है। चेतना में इच्छा के

स्पष्ट बोध का अभाव इच्छा का अभाव नहीं है। इसीलिये जैन और बौद्ध विचारणा ने पशु आदि चेतना के निम्न स्तरों वाले प्राणियों के व्यवहार को भी नैतिकता की परिसीमा में माना है। वहाँ पाशविक स्तर पर पायी जाने वाली वासना की अन्ध प्रवृत्ति ही नैतिक निर्णयों का विषय बनती है।

वासना क्यों होती है ?

गणधरवाद में कहा गया है कि जिस प्रकार देवदत्त अपने महल की खिड़कियों से बाह्य जगत् को देखता है उसी प्रकार प्राणी इन्द्रियों के माध्यम से बाह्य पदार्थों से अपना सम्पर्क बनाता है।²⁴ कठोपनिषद् में भी कहा गया है कि इन्द्रियों को बहिर्मुख करके हिसित कर दिया गया है इसलिए जीव बाह्य विषयों की ओर ही देखता है अन्तरात्मा को नहीं।²⁵

इन्द्रियों का विषयों से सम्पर्क होने पर कुछ विषय अनुकूल और कुछ विषय प्रतिकूल प्रतीत होते हैं। अनुकूल विषयों की ओर पुनः-पुनः प्रवृत्त होना और प्रतिकूल विषयों से बचना यही वासना है। जो इन्द्रियों को अनुकूल होता है वही सुखद और जो प्रतिकूल होता है वही दुःखद है।²⁶ अतः सुखद की ओर प्रवृत्ति करना और दुःखद से निवृत्ति चाहना, यही वासना की चालना के दो केन्द्र हैं, जिनमें सुखद विषय धनात्मक तथा दुःखद विषय ऋणात्मक चालना के केन्द्र हैं। इस प्रकार वासना, तृष्णा या कामगुण ही समस्त व्यवहार का प्रेरक तत्त्व है। भारतीय चिन्तन में व्यवहार के प्रेरक के रूप में जिस वासना को स्वीकारा गया है वही वासना पाश्चात्य फ्रायडीय मनोविज्ञान में "काम" और मेकडूगल के प्रयोजनवादी मनोविज्ञान में हार्मी (harme) या अर्ज (urge) अथवा मूल प्रवृत्ति कही जाती है। पाश्चात्य और भारतीय परम्पराएँ इस सम्बन्ध में एकमत हैं कि प्राणीय व्यवहार का प्रेरक तत्त्व वासना, कामना या तृष्णा है। इनके दो रूप बनते हैं -- राग और द्वेष। राग धनात्मक और द्वेष ऋणात्मक है। आधुनिक मनोविज्ञान में कर्ट लेविन ने इन्हें क्रमशः आकर्षण शक्ति (positive valence) और विकर्षण शक्ति (negative valence) कहा है।

व्यवहार की चालना के दो केन्द्र -- सुख और दुःख

अनुकूल विषय की ओर आकर्षित होना और प्रतिकूल विषयों से विकर्षित होना यह इन्द्रिय स्वभाव है, लेकिन प्रश्न यह उठता है कि इन्द्रियाँ क्यों अनुकूल विषयों की ओर प्रवृत्ति और प्रतिकूल विषयों से निवृत्ति रखना चाहती हैं। यदि इसका उत्तर मनोविज्ञान के आधार पर देने का प्रयास किया जाए तो हमें मात्र यही कहना होगा कि अनुकूल विषयों की ओर प्रवृत्ति और प्रतिकूल विषयों से निवृत्ति यह एक नैसर्गिक तथ्य है जिसे हम सुख-दुःख का नियम भी कहते हैं। मनोविज्ञान प्राणी जगत् की इस नैसर्गिक वृत्ति का विश्लेषण तो करता है लेकिन यह नहीं बता सकता है कि ऐसा क्यों है ?

यही सुख-दुःख का नियम समस्त प्राणीय व्यवहार का चालक तत्त्व है। जैन दार्शनिक भी प्राणीय व्यवहार के चालक तत्त्व के रूप में इसी सुख-दुःख के नियम को स्वीकार करते हैं। मन एवं इन्द्रियों के माध्यम से इसी नियम के अनुसार प्राणीय व्यवहार का संचालन

होता है।

इस प्रकार हम देखते हैं कि वासना ही अपने विधानात्मक रूप में सुख और निषेधात्मक रूप में दुःख का रूप ले लेती है। जिससे वासना की पूर्ति हो वही सुख और जिससे वासना की पूर्ति न हो अथवा वासना-पूर्ति में बाधा उत्पन्न हो वह दुःख। इस प्रकार वासना से ही सुख-दुःख के भाव उत्पन्न होकर प्राणीय व्यवहार का निर्धारण करने लगते हैं।

अपने अनुकूल विषयों की ओर आकृष्ट होना और उन्हें ग्रहण करना यह इन्द्रियों की स्वाभाविक प्रवृत्ति है। मन के अभाव में यह इन्द्रियों की अन्ध प्रवृत्ति होती है लेकिन जब इन्द्रियों के साथ मन का योग हो जाता है तो इन्द्रियों में सुखद अनुभूतियों की पुनः-पुनः प्राप्ति की तथा दुःखद अनुभूति से बचने की प्रवृत्ति विकसित हो जाती है।

बस यहीं इच्छा, तृष्णा या संकल्प का जन्म होता है। जैनाचार्यों ने इच्छा की परिभाषा करते हुए लिखा है-- मन और इन्द्रियों के अनुकूल विषयों की पुनः प्राप्ति की प्रवृत्ति ही इच्छा है।²⁷ अथवा इन्द्रियों के विषयों की प्राप्ति की अभिलाषा का अतिरेक ही इच्छा है।²⁸ यह इन्द्रियों की सुखद अनुभूति को पुनः-पुनः प्राप्त करने की लालसा या इच्छा ही तीव्र होकर आसक्ति या राग का रूप ले लेती है। दूसरी ओर दुःखद अनुभूतियों से बचने की अभिवृत्ति घृणा एवं द्वेष का रूप ले लेती है। भगवान महावीर ने कहा है, "मनोज्ञ, प्रिय या अनुकूल विषय ही राग का कारण होते हैं और प्रतिकूल या अमनोज्ञ विषय द्वेष का कारण होते हैं।"²⁹

सुखद अनुभूतियों से राग और दुःखद अनुभूतियों से द्वेष तथा इस राग-द्वेष से अन्यान्य कषाय और अशुभ वृत्तियाँ कैसे प्रतिफलित होती हैं, इसे उत्तराध्ययनसूत्र में स्पष्ट रूप से कहा गया है कि इन्द्रिय और मन के उनके विषयों को सेवन करने की लालसा जाग्रत होती है। सुखद अनुभूति को पुनः-पुनः प्राप्त करने की इच्छा और दुःख से बचने की इच्छा से ही राग या आसक्ति उत्पन्न होती है। इस आसक्ति से प्राणी मोह या जड़ता के समुद्र में डूब जाता है। कामगुण (इन्द्रियों के विषयों) में आसक्ति उत्पन्न होती है। इस आसक्ति से प्राणी मोह या जड़ता के समुद्र में डूब जाता है। कामगुण (इन्द्रियों के विषयों) में आसक्ति होकर जीव क्रोध, मान, माया, लोभ, राग, घृणा, हास्य, भय, शोक तथा स्त्री, पुरुष और नपुंसक भाव की वासनाएँ आदि अनेक प्रकार के शुभाशुभ भावों को उत्पन्न करता है और उन भावों की पूर्ति के प्रयास में अनेक रूपों (शरीरों) को धारण करता है।

इस प्रकार इन्द्रियों और मन के विषयों में आसक्ति प्राणी जन्म-मरण के चक्र में फँसकर विषयासक्ति से अवश, दीन, लज्जित और करुणाजनक स्थिति को प्राप्त हो जाता है।³⁰

गीता में भी यही दृष्टिकोण प्रस्तुत करते हुए कहा गया है कि "मन से इन्द्रियों के विषयों का चिन्तन किए जाने पर उन विषयों से सम्पर्क की इच्छा उत्पन्न होती है और उस सम्पर्क इच्छा से कामना या आसक्ति का जन्म होता है। आसक्ति विषयों की प्राप्ति में जब

बाधा उत्पन्न होती है तो क्रोध (घृणा, द्वेष) उत्पन्न हो जाता है। क्रोध में मूढ़ता या अविवेक, अविवेक से स्मृतिनाश और स्मृतिनाश से बुद्धि विनष्ट हो जाती है और बुद्धि के विनष्ट होने से व्यक्ति विनाश की ओर चला जाता है।³¹

इस प्रकार हम देखते हैं कि जब इन्द्रियों का अनुकूल या सुखद विषयों से सम्पर्क होता है तो उन विषयों में आसक्ति तथा राग के भाव जागृत होते हैं और जब इन्द्रियों का प्रतिकूल या दुःखद विषयों से संयोग होता है अथवा अनुकूल विषयों की प्राप्ति में कोई बाधा आती है तो घृणा या विद्वेष के भाव जागृत होते हैं। इस प्रकार सुख-दुःख का प्रेरक नियम एक दूसरे रूप में बदल जाता है। जहाँ सुख का स्थान राग या आसक्ति का भाव ले लेता है और दुःख का स्थान घृणा या द्वेष का भाव ले लेता है। ये राग-द्वेष की वृत्तियाँ ही व्यक्ति के नैतिक अग्रःपतन एवं जन्म-मरण की परम्परा का कारण होती हैं। सभी भारतीय दर्शन इसे स्वीकार करते हैं। जैन विचारक कहते हैं, "राग और द्वेष ये दोनों ही कर्म-परम्परा के बीज हैं और यही कर्म-परम्परा के कारण हैं।"³² सभी भारतीय आचार-दर्शन इसे स्वीकार करते हैं। गीता में कहा गया है, "हे अर्जुन ! इच्छा (राग) और द्वेष के द्बद्ध में मोह से आवृत होकर प्राणी इस संसार में परिभ्रमण करते रहते हैं।"³³ तथागत बुद्ध कहते हैं, "जिसने राग-द्वेष और मोह को छोड़ दिया है वही फिर माता के गर्भ में नहीं पड़ता।"³⁴

इस समग्र विवेचना को हम संक्षेप में इस प्रकार रख सकते हैं कि विविध इन्द्रियों एवं मन के द्वारा उनके विषयों के ग्रहण की चाह में वासना के प्रत्यय का निर्माण होता है। वासना का प्रत्यय पुनः अपने विधानात्मक एवं निषेधात्मक पक्षों के रूप में सुख और दुःख की भावनाओं को जन्म देता है। यही सुख और दुःख की भावनाएँ राग और द्वेष की वृत्तियों का कारण बन जाती हैं। यही राग-द्वेष की वृत्तियाँ क्रोध, मान, माया, लोभादि विविध प्रकार के अनैतिक व्यापार का कारण होती हैं। लेकिन इन सबके मूल में तो ऐन्द्रिक एवं मनोजन्य व्यापार ही हैं और इसलिये साधारण रूप से यह माना गया कि नैतिक आचरण एवं नैतिक विकास के लिए इन्द्रिय और मन की वृत्तियों का निरोध कर दिया जाए। आचार्य हेमचन्द्र कहते हैं कि इन्द्रियों पर काबू किये बिना रागद्वेष एवं कषायों पर विजय पाना सम्भव नहीं होता है।³⁵ अतः अब इस सम्बन्ध में विचार करना इष्ट होगा कि क्या इन्द्रिय और मन के व्यापारों का निरोध सम्भव है और यदि निरोध सम्भव है तो उसका वास्तविक रूप क्या है ?

इन्द्रिय निरोध : सम्भावना और सत्य

इन्द्रियों के विषय अपनी पूर्ति के प्रयास में किस प्रकार नैतिक पतन की ओर ले जाते हैं इसका सजीव चित्रण उत्तराध्ययनसूत्र के 32वें अध्ययन में मिलता है। वहाँ कहा गया है कि-- रूप को ग्रहण करने वाली चक्षु इन्द्रिय है और रूप चक्षु इन्द्रिय से ग्रहण होने योग्य है। प्रिय रूप, राग का और अप्रिय रूप द्वेष का कारण है।³⁶

जिस प्रकार दृष्टि के राग में आतुर होकर पतंगा मृत्यु पाता है, उसी प्रकार रूप में अत्यन्त आसक्त होकर जीव अकाल में ही मृत्यु पाते हैं।³⁷ रूप की आशा में पड़ा हुआ गुरूकर्म, अज्ञानी जीव, त्रस और स्थावर जीवों की अनेक प्रकार से हिंसा करता है। परिताप

उत्पन्न करता है तथा पीड़ित करता है।³⁸ रूप में मूर्च्छित जीव उन पदार्थों के उत्पादन, रक्षण एवं व्यय में और वियोग की चिन्ता में लगा रहता है। उसे सुख कहाँ है ? वह संयोग काल में भी अतृप्त रहता है।³⁹ रूप में आसक्त मनुष्य को थोड़ा भी सुख नहीं होता, जिस वस्तु की प्राप्ति में उसने दुःख उठाया, उसके उपयोग के समय भी वह दुःख पाता है।⁴⁰

श्रोत्रेन्द्रिय शब्द की ग्राहक और शब्द श्रोत का ग्राह्य है। प्रिय शब्द राग का और अप्रिय शब्द द्वेष का कारण है।⁴¹ जिस प्रकार राग में गृद्ध बना हुआ मृग मुग्ध होकर शब्द में सन्तोषित न होता हुआ मृत्यु पा लेता है। उसी प्रकार शब्दों के विषय में अत्यन्त मूर्च्छित होने वाला जीव अकाल में ही नष्ट हो जाता है।⁴² शब्द की आसक्ति में पड़ा हुआ भारी कर्मी जीव, अज्ञानी होकर त्रस और स्थावर जीवों की अनेक प्रकार से हिंसा करता है, परिताप उत्पन्न करता है और पीड़ा देता है।⁴³

वह मनोहर शब्द वाले पदार्थों की प्राप्ति, रक्षण एवं व्यय में तथा वियोग की चिन्ता में लगा रहता है, उनके संभोग काल के समय में भी अतृप्त ही बना रहता है, फिर उसे सुख कहाँ है।⁴⁴ तृष्णावश वह जीव चोरी, झूठ और कपट की वृद्धि करता हुआ अतृप्त ही रहता है, दुःख से नहीं छूट सकता।⁴⁵

नासिका गन्ध को ग्रहण करती है और गंध नासिका का ग्राह्य है। सुगन्ध राग का कारण है और दुर्गन्ध द्वेष का कारण है।⁴⁶ जिस प्रकार सुगन्ध में मूर्च्छित हुआ सर्प बाँबी से बाहर निकलकर मारा जाता है, उसी प्रकार गन्ध में अत्यन्त आसक्त जीव अकाल में ही मृत्यु पा लेता है।⁴⁷ सुगन्ध के वशीभूत होकर बालजीव अनेक प्रकार से त्रस और स्थावर जीवों का घात करता है, उन्हें दुःख देता है।⁴⁸ वह जीव सुगन्धित पदार्थों की प्राप्ति, रक्षण, व्यय तथा वियोग की चिन्ता में ही लगा रहता है, अतः वह उनके भोगकाल में भी अतृप्त ही रहता है, फिर उसे सुख कहाँ⁴⁹ है। जिह्वा रस को ग्रहण करती है और रस जिह्वा का ग्राह्य है। मनपसन्द रस राग का कारण और मन के प्रतिकूल रस द्वेष का कारण कहा गया है।⁵⁰ जिस प्रकार मांस खाने के लालच में फँसा हुआ मच्छर काँटे में फँसकर मारा जाता है, उसी प्रकार रसों में अत्यन्त गृद्ध जीव अकाल में मृत्यु का ग्रास बन जाता है।⁵¹ उसे कुछ भी सुख नहीं होता, वह रसभोग के समय भी दुःख और क्लेश ही पाता है।⁵² इसी प्रकार अमनोज्ञ रसों में द्वेष करने वाला जीव भी दुःख परम्परा बढ़ाता है और क्लृप्त मन से कर्मों का उपार्जन करके उसके दुःखद फल को भोगता है।⁵³

शरीर स्पर्श को ग्रहण करता है और स्पर्श शरीर का ग्राह्य है। सुखद स्पर्श राग का तथा दुःखद स्पर्श द्वेष का कारण है।⁵⁴ जो जीव सुखद स्पर्शों में अति आसक्त होता है वह जंगल के तालाब के ठण्डे पानी में पड़े हुए मकर द्वारा ग्रसित भैंसे की तरह अकाल में ही मृत्यु पाता है।⁵⁵ स्पर्श की आशा में पड़ा हुआ वह गुरुकर्मों जीव घराघर जीवों की अनेक प्रकार से हिंसा करता है, उन्हें दुःख देता है।⁵⁶ सुखद स्पर्शों में मूर्च्छित हुआ प्राणी उन वस्तुओं की प्राप्ति, रक्षण, व्यय एवं वियोग की चिन्ता में ही घुला करता है। भोग के समय भी वह तृप्त नहीं

होता फिर उसके लिए सुख कहाँ ?⁵⁷ स्पर्श में आसक्त जीवों को किंचित् भी सुख नहीं होता है। जिस वस्तु की प्राप्ति क्लेश एवं दुःख से हुई उसके भोग के समय भी कष्ट ही मिलता है।⁵⁸

आचार्य हेमचन्द्र भी योगशास्त्र में कहते हैं कि स्पर्शेन्द्रिय के वशीभूत होकर हाथी, रसनेन्द्रिय के वशीभूत होकर मछली, घ्राणेन्द्रिय के वशीभूत होकर भ्रमर, चक्षु इन्द्रिय के वशीभूत होकर पतंगा और श्रवणेन्द्रिय के वशीभूत होकर हरिण मृत्यु का ग्रास बनता है। जब एक-एक इन्द्रिय के विषयों में आसक्ति मृत्यु का कारण बनती है फिर भला पाँचों इन्द्रियों के विषयों के सेवन में आसक्त मनुष्य की क्या स्थिति होगी।⁵⁹

गीता में भी श्रीकृष्ण ने इन्द्रिय-दमन के सम्बन्ध में कहा है कि जिस प्रकार जल में वायु नाव को हर लेती है वैसे ही मन सहित विषयों में विचरती हुई इन्द्रियों में से एक ही इन्द्रिय इस पुरुष की बुद्धि को हरण कर लेने में समर्थ होती है। साधना में प्रयत्नशील बुद्धिमान् पुरुष के मन को भी ये प्रमथन स्वभाव वाली इन्द्रियाँ बलात्कार से हर लेती हैं और उसे साधना से च्युत कर देती हैं। अतः सम्पूर्ण इन्द्रियों को वश में करके तथा समाहित चित्त होकर मन को मेरे में लगा। जिस व्यक्ति की इन्द्रियाँ अपने अधिकार में हैं, वही प्रज्ञावान है। अन्यत्र पुनः कहा गया है कि साधक सबसे पहले इन्द्रियों को वश में करके ज्ञान के विनाश करने वाले इस काम का परित्याग करें।⁶⁰

धम्मपद में तथागत बुद्ध भी कहते हैं कि "जो मनुष्य इन्द्रियों के विषयों में असंयत रहता है उसे मार (काम) साधना से उसी प्रकार गिरा देता है जैसे दुर्बल वृक्ष को हवा गिरा देती है। लेकिन जो इन्द्रियों के विषयों में सुसंयत रहता है उसे मार (काम) उसी प्रकार साधना से विचलित नहीं कर सकता जैसे वायु पर्वत को विचलित नहीं कर सकता।"⁶¹

जैन-दर्शन और गीता में इन्द्रिय-दमन का वास्तविक अर्थ

प्रश्न यह है कि यदि इन्द्रिय-व्यापार बन्धन के कारण हैं तो फिर क्या इनका निरोध सम्भव है ? यदि हम इस प्रश्न पर गम्भीरतापूर्वक विचार करें तो यह पायेंगे, कि जब तक जीव देह धारण किये है उसके द्वारा इन्द्रिय-व्यापारों का निरोध सम्भव नहीं है। कारण यह है कि वह एक ऐसे वातावरण में रहता है जहाँ उसे इन्द्रियों के विषयों से साक्षात् सम्पर्क रखना ही पड़ता है। आँख के समक्ष दृश्य-विषय प्रस्तुत होने पर वह उसके रूप और रंग के दर्शन से वंचित नहीं रह सकता, भोजन करते समय उसके रस को अस्वीकार नहीं कर सकता। किसी शब्द के उपस्थित होने पर कर्ण यन्त्र उसकी आवाज को सुने बिना नहीं रह सकता और ठीक इसी प्रकार अन्यान्य इन्द्रियों के विषय उपस्थित होने पर वह उन्हें अस्वीकार नहीं कर सकता अर्थात् मनोवैज्ञानिक दृष्टि से इन्द्रिय-व्यापारों का निरोध एक असम्भव तथ्य है। तथापि यह प्रश्न उठता है कि बन्धन से कैसे बचा जाय ? इस प्रश्न का उत्तर देते हुए जैनदर्शन कहता है कि बन्धन का कारण इन्द्रिय-व्यापार नहीं वरन् उनके मूल में निहित राग और द्वेष की वृत्तियाँ ही हैं। जैसा कि उत्तराध्ययनसूत्र में स्पष्ट उल्लेख है। कि इन्द्रियों और मन के विषय, रागी

पुरुषों के लिए ही दुःख (बन्धन) के कारण होते हैं, ये विषय वीतरागियों के लिए बन्धन या दुःख का कारण नहीं हो सकते।⁶² कामभोग किसी को भी सम्मोहित नहीं करा सकते न किसी में विकार ही पैदा कर सकते हैं, किन्तु जो विषयों में राग-द्वेष करता है, वही राग-द्वेष से विकृत होता है।⁶³

गीता में भी इसी प्रकार निर्देश दिया गया है कि साधक इन्द्रिय के विषयों अर्थात् भोगों में उपस्थित, जो राग और द्वेष हैं, उनके वश में नहीं हो क्योंकि ये दोनों ही कल्याण मार्ग में विघ्न करने वाले महान् शत्रु हैं।⁶⁴ जो मूढबुद्धि पुरुष कर्मेन्द्रियों को हठात् रोककर इन्द्रियों के भोगों का मन से चिन्तन करता रहता है, उस पुरुष के राग-द्वेष निवृत्त न होने के कारण वह मिथ्याचारी या दम्भी कहा जाता है।⁶⁵ इन्द्रियों के द्वारा विषयों को न ग्रहण करने वाले पुरुष के केवल विषय तो निवृत्त हो जाते हैं, किन्तु राग निवृत्त नहीं होता। जबकि निर्वाण लाभ के लिए राग का निवृत्त होना परमावश्यक है।⁶⁶

वास्तविकता यह है कि निरोध इन्द्रिय-व्यापारों का नहीं वरन् उनमें निहित राग-द्वेष का करना होता है, क्योंकि बन्धन का वास्तविक कारण इन्द्रिय-व्यापार नहीं, वरन् राग-द्वेष की प्रवृत्तियाँ हैं। जैन दार्शनिक कहते हैं इन्द्रियों के शब्दादि मनोज्ञ अथवा अमनोज्ञ विषय आसक्त व्यक्ति के लिए ही राग-द्वेष के कारण होते हैं, वीतराग के लिये नहीं।⁶⁷ गीता कहती है कि राग-द्वेष से विमुक्त व्यक्ति इन्द्रिय-व्यापारों को करता हुआ भी पवित्रता को ही प्राप्त होता है।⁶⁸ इस प्रकार जैनदर्शन और गीता इन्द्रिय-व्यापारों के निरोध की बात नहीं कहते, वरन् इन्द्रियों के विषयों के प्रति राग-द्वेष की वृत्तियों के निरोध की धारणा को प्रस्थापित करते हैं।

इसी प्रकार मनोनिरोध के सम्बन्ध में कुछ भ्रान्त धारणाएँ बना ली गई हैं, यहाँ हम उसका भी यथार्थ स्वरूप प्रस्तुत करने का प्रयास करेंगे।

इच्छानिरोध या मनोनिग्रह

भारतीय आचार-दर्शन में इच्छा-निरोध एवं वासनाओं के निग्रह का स्वर काफी मुखरित हुआ है। आचारदर्शन के अधिकांश विधि-निषेध इच्छाओं के दमन से सम्बन्धित हैं, क्योंकि इच्छाएँ तृप्ति चाहती हैं और इस प्रकार चित्त शान्ति या आध्यात्मिक समत्व का भंग हो जाता है। अतः यह माना गया कि समत्व के नैतिक आदर्श की उपलब्धि के लिए इच्छाओं का दमन कर दिया जाय। मन इच्छाओं एवं संकल्पों का उत्पादक है, अतः इच्छानिरोध का अर्थ मनोनिग्रह ही मान लिया गया। पतंजलि ने तो यहाँ तक कह दिया कि चित्तवृत्ति का निरोध ही योग है। यह माना जाने लगा कि मन स्वयं ही समग्र क्लेशों का धाम है। उसमें जो भी वृत्तियाँ उठती हैं वे सभी बन्धनरूप हैं। अतः उन मनोव्यापारों का सर्वथा अवरोध कर देना यही निर्विकल्पक समाधि है, यही नैतिक जीवन का आदर्श है। जैन, बौद्ध और गीता के आचार-दर्शनों में इच्छानिरोध और मनोनिग्रह के प्रत्यय को स्वीकार किया गया है। उत्तराध्ययनसूत्र में कहा गया है, "यह मन उस दुष्ट और भयंकर अश्व के समान है जो चारों

दिशाओं में भागता है।"⁶⁹ अतः साधक संरम्भ, समारम्भ और आरम्भ में प्रवृत्त होने वाले इस मन का निग्रह करें।⁷⁰ गीता में भी कहा गया है-- "यह मन अत्यन्त ही चंचल, विक्षोभ उत्पन्न करने वाला और बड़ा बलवान है, इसका निरोध करना वायु के रोकने के समान अत्यन्त ही दुष्कर है।"⁷¹ फिर भी कृष्ण कहते हैं कि "निस्संदेह इस मन का कठिनता से निग्रह होता है, फिर भी अभ्यास और वैराग्य के द्वारा इसका निग्रह सम्भव है।"⁷² और इसलिए हे अर्जुन ! तू मन की वृत्तियों का निरोध कर इस मन को मेरे में लगा।⁷³ बौद्ध ग्रन्थ धम्मपद में भी कहा गया है कि "यह चित्त अत्यन्त ही चंचल है, इस पर अधिकार कर क्योंकि कुमार्ग से इसकी रक्षा करना अत्यन्त कठिन है, इसकी वृत्तियों का कठिनता से ही निवारण किया जा सकता है। अतः बुद्धिमान मनुष्य इसे ऐसे ही सीधा कर जैसे इषुकार (बाण बनाने वाला) बाण को सीधा करता है।" यह चित्त कठिनता से निग्रहित होता है, अत्यन्त शीघ्रगामी और यथेच्छ विचरण करने वाला है इसलिए इसका दमन करना ही श्रेयस्करो है, दमित किया हुआ चित्त ही सुखवर्धक होता है।⁷⁴ मध्यकालीन जैन आचार्य हेमचन्द्र कहते हैं, "आँधी की तरह चंचल मन मुक्ति प्राप्त करने के इच्छुक एवं तप करने वाले मनुष्य को भी कहीं का कहीं ले जाकर पटक देता है अतः जो मनुष्य मुक्ति चाहते हों उन्हें समग्र विश्व में भटकने वाले लम्पट मन का निरोध करना चाहिए।"⁷⁵

मनोनिग्रहण के उपरोक्त सन्दर्भों के आधार पर भारतीय नैतिक चिन्तन पर यह आक्षेप लगाया जा सकता है कि वह आधुनिक मनोविज्ञान की कसौटी पर खरा नहीं उतरता। आधुनिक मनोविज्ञान इच्छाओं के दमन एवं मनोनिग्रह को मानसिक समत्व का हेतु नहीं मानता, वरन् इसके ठीक विपरीत उसे चित्त विक्षोभ का कारण मानता है। दमन, निग्रह, निरोध आज की मनोवैज्ञानिक धारणा में मानसिक सन्तुलन के भंग करने वाले माने गये हैं। फ्रायड ने मनोविघटन एवं मनोविकृतियों का प्रमुख कारण दमन और प्रतिरोध को ही माना है। आधुनिक मनोविज्ञान की इस मान्यता को झुठलाया नहीं जा सकता कि इच्छा-निरोध और मनोनिग्रहण मानसिक स्वास्थ्य के लिये अहितकर हैं। यही नहीं इच्छाओं के दमन में जितनी अधिक तीव्रता होती है वे दमित इच्छाएँ उतने ही वेग से विकृत रूप से प्रकट होकर न केवल अपनी पूर्ति का प्रयास करती हैं वरन् व्यक्ति के व्यक्तित्व को भी विकृत बना देती हैं। यदि हम इस तथ्य को स्वीकार करते हैं तो फिर नैतिक जीवन से इस "दमन" की धारणा को ही समाप्त कर देना होगा। प्रश्न होता है कि क्या भारतीय नीति निर्माताओं की दृष्टि से यह तथ्य ओझल था ? लेकिन बात ऐसी नहीं है जैन, बौद्ध और गीता के आचार-दर्शन के निर्माताओं की दृष्टि में दमन के अनौचित्य की धारणा अत्यन्त स्पष्ट थी, जिसे सप्रमाण प्रस्तुत किया जा सकता है। यदि गहराई से देखें तो गीता स्पष्ट रूप से दमन या निग्रह के अनौचित्य को स्वीकार करती है। गीता में स्पष्ट रूप से कहा गया है कि प्राणी अपनी प्रकृति के अनुसार ही व्यवहार करते हैं वे निग्रह कैसे कर सकते हैं।"⁷⁶ योगवासिष्ठ में इस बात को अधिक स्पष्ट करते हुए कहा गया है कि हे राजर्षि ! तीनों लोक में जितने भी प्राणी हैं स्वभाव से ही उनकी देह द्रव्यात्मक है। जब तक शरीर रहता है तब तक शरीरधर्म स्वभाव से ही अनिवार्य है अर्थात् प्राकृतिक वासना का दमन या निरोध नहीं होता।⁷⁷

गीता कहती है कि यद्यपि विषयों को ग्रहण नहीं करने वाले अर्थात् इन्द्रियों को उनके विषयों के उपभोग करने से रोक देने वाले व्यक्तियों के द्वारा विषयों के भोग का तो निग्रह हो जाता है, लेकिन उनका रस (आसक्ति) बना रहता है। अर्थात् वे मूलतः नष्ट नहीं हो पाते और अनुकूल परिस्थितियों में पुनः व्युत्थित हो जाते हैं। "रसवर्जसोऽत्यस्य" का पद स्पष्ट रूप से यह संकेत करता है कि गीता में नैतिक विकास का वास्तविक मार्ग निग्रह का नहीं है। न केवल गीता के आचार-दर्शन में दमन को अनुचित माना गया है वरन् बौद्ध और जैन विचारणाओं में भी यही दृष्टिकोण अपनाया गया है। बुद्ध के मध्यममार्ग के उपदेश का सार यही है कि आध्यात्मिक विकास के मार्ग में वासनाओं का दमन इतना महत्त्वपूर्ण नहीं है जितना उनसे ऊपर उठ जाना। वासनाओं के दमन का मार्ग और वासनाओं के भोग का मार्ग दोनों ही बुद्ध की दृष्टि में साधना के सच्चे मार्ग नहीं हैं। तथागत बुद्ध ने जिस मध्यममार्ग का उपदेश दिया उसका स्पष्ट आशय यही था कि साधना में दमन पर जो अत्यधिक बल दिया जा रहा था उसे कम किया जाय। बौद्ध साधना का आदर्श तो चित्तशान्ति है जबकि दमन तो चित्तक्षोभ या मानसिक द्वन्द्व को ही जन्म देता है। बौद्धाचार्य अंगवज्र कहते हैं कि "चित्त-क्षुब्ध होने से कभी भी मुक्ति नहीं होती अतः इस तरह बरतना चाहिए कि जिससे मानसिक क्षोभ उत्पन्न न हो।"⁷⁸ दमन की प्रक्रिया चित्तक्षोभ की प्रक्रिया है, चित्तशान्ति की नहीं। बोधिचर्यावतार की भूमिका में लिखा है कि बुद्ध के धर्म में जहाँ दूसरे को पीड़ा पहुँचाना मना है वहाँ अपने को पीड़ा देना भी अनार्य कर्म कहा गया है। सौगत तन्त्र ने आत्मपीड़ा के मार्ग को ठीक नहीं समझा। क्या दमन मात्र से चित्त-विक्षोभ सर्वथा चला जाता होगा ? दबायी हुई वृत्तियाँ जाग्रतावस्था में न सही स्वप्नावस्था में तो अवश्य ही चित्त को मथ डालती होंगी।⁷⁹ जब तक चित्त में भोग-लिप्सा है तब तक चित्तक्षोभ का उत्पन्न होना स्वाभाविक है। इस प्रकार हम देखते हैं कि बौद्ध-विचारणा को दमन का प्रत्यय अभिप्रेत नहीं है। दमन के विरोध में उठ खड़ी बौद्ध विचारणा की चरम परिणति चाहे वामाचार के रूप में हुई हो, लेकिन फिर भी उसके दमन के विरोध को अवास्तविक नहीं कहा जा सकता है। चित्तशान्ति के साधनामार्ग में दमन का महत्त्वपूर्ण स्थान नहीं हो सकता। जहाँ तक जैन विचारणा का प्रश्न है वह अपनी पारिभाषिक भाषा में स्पष्ट रूप से कहती है कि "साधना का सच्चा मार्ग उपशमिक नहीं वरन् क्षायिक है।"

जैन दृष्टिकोण के अनुसार औपशमिक मार्ग वह मार्ग है जिसमें मन की वृत्तियों, वासनाओं को दबाकर साधना के क्षेत्र में आगे बढ़ा जाता है। इच्छाओं के निरोध का मार्ग ही 'औपशमिक मार्ग' है। जिस प्रकार आग को राख से ढक दिया जाता है उसी प्रकार उपशम में कर्म-संस्कार या वासना-संस्कार को दबाते हुए नैतिकता के मार्ग पर आगे बढ़ा जाता है। आधुनिक मनोविज्ञान की भाषा में कहें तो यह दमन (Repression) का मार्ग है। साधना के क्षेत्र में वासना-संस्कार को दबाकर आगे बढ़ने का मार्ग दमन का मार्ग है लेकिन यह मनःशुद्धि का वास्तविक मार्ग नहीं है, यह तो मानसिक गन्दगी को ढकना मात्र है, छिपाना मात्र है। जैन विचारकों ने गुणस्थान प्रकरण में बताया है कि यह वासनाओं को दबाकर आगे बढ़ने की अवस्था नैतिक विकास में आगे तक नहीं चलती है। जैन विचारणा यह मानती है कि ऐसा साधक पदच्युत हो जाता है। जिस दमन को आधुनिक मनोविज्ञान में व्यक्तित्व के विकास में

बाधक माना गया है, वही विचारणा जैन-दर्शन में मौजूद थी। जैन दार्शनिकों ने भी दमन को विकास का सच्चा मार्ग नहीं माना। उन्होंने कहा, विकास का सच्चा मार्ग वासना-संस्कार को दबाना नहीं है अपितु उनका क्षय करना है। वास्तव में दमन का मार्ग स्वाभाविक नहीं है, वासनाओं या इच्छाओं के निरोध करने की अपेक्षा वे क्षीण हो जाएँ, यही अपेक्षित है। प्रश्न होता है कि वासनाओं के क्षय और निरोध में क्या अन्तर है।

निरोध में चित्त में वासना उठती है और फिर उसे दबाया जाता है, जबकि क्षय में वासना का उठना ही शनैः-शनैः कम होकर समाप्त हो जाता है। आधुनिक मनोविज्ञान की दृष्टि में दमन की क्रिया में वासनात्मक अहं (Id) और आदर्शत्मिक अहं (Super-ego) में संघर्ष चलता रहता है। लेकिन क्षय में यह संघर्ष नहीं होता है। वहाँ तो वासना उठती ही नहीं है। दमन या उपशम में हमें क्रोध का भाव आता है और हम उसे दबाते हैं या उसे अभिव्यक्त होने से रोकते हैं, जबकि क्षायिक भाव में क्रोधादि विकार समाप्त हो जाते हैं। उपशमन (दमन) में मन में क्रोध का भाव होता है, मात्र क्रोध-भाव का प्रगटीकरण नहीं होता जिसे साधारण भाषा में गुस्सा पी जाना कहते हैं। उपशम भी गुस्से का पी जाना ही है। इसमें लोकमर्यादा आदि बाह्य तत्त्व ही उसके निरोध का कारण बनते हैं। इसलिए यह आत्मिक विकास नहीं है अपितु उसका ढोंग है, एक आरोपित आवरण है। क्षायिक भाव में क्रोध उत्पन्न ही नहीं होता है। साधारण भाषा में हम कहते हैं कि ऐसे साधक को गुस्सा आता ही नहीं है, अतः यही विकास का सच्चा मार्ग है। जैन विचारणा के अनुसार यदि कोई साधक नैतिक एवं आध्यात्मिक प्रगति करता है तो वह पूर्णता के अपने लक्ष्य के अत्यधिक निकट पहुँच कर भी पुनः पतित हो जाता है। जैन विचारणा की पारिभाषिक शब्दावली में कहें तो उपशम मार्ग का साधक आध्यात्मिक पूर्णता के 14 गुणस्थान (सीढ़ियों) में से 11वें गुणस्थान तक पहुँच कर वहाँ से ऐसा गिर सकता है कि पुनः निम्नतम अवस्था प्रथम मिथ्यात्व गुणस्थान में आ जाता है।⁸⁰ यह तथ्य जैन साधना में दमन की परम्परा का क्या अनौचित्य है इसे स्पष्ट कर देता है।

यहाँ पर यह प्रश्न स्वाभाविक रूप से उत्पन्न होता है कि आगम ग्रन्थों में मन के निरोध का उपदेश अनेक स्थानों पर दिया गया है, वहाँ निरोध का क्या अर्थ है? वहाँ पर निरोध का अर्थ दमन नहीं लगाना चाहिए अन्यथा औपशमिक और क्षायिक दृष्टियों का कोई अर्थ ही नहीं रह जाएगा। अतः वहाँ निरोध का अर्थ क्षायिक दृष्टि से ही करना समुचित है।

प्रश्न होता है कि क्षायिक दृष्टि से मन का शुद्धीकरण कैसे किया जाय?

उत्तराध्ययनसूत्र में मन के निग्रह के सम्बन्ध में जो रूपक प्रस्तुत किया गया है उसमें श्रमणकेशी गौतम से पूछते हैं -- आप एक दुष्ट भयानक अश्व पर सवार हैं, जो बड़ी तीव्र गति से भागता है, वह आपको उन्मार्ग की ओर न ले जाकर सन्मार्ग पर कैसे ले जाता है?

गौतम ने इस लाक्षणिक चर्चा को स्पष्ट करते हुए बताया है -- "यह मन ही साहसिक, दुष्ट एवं भयंकर अश्व है, जो चारों ओर भागता है। मैं उसका जातिवान् अश्व की तरह श्रुतरूपी रस्सियों से बाँधकर समत्त्व एवं धर्म-शिक्षा से निग्रह करता हूँ।"

इस श्लोक के प्रसंग में दो शब्द महत्त्वपूर्ण हैं -- सम्मे तथा धम्मसिक्खाये। धर्म-शिक्षण द्वारा मन को निग्रह करने का अर्थ दमन नहीं है वरन् उनका उदात्तीकरण है। धर्म-शिक्षण का अर्थ है -- मन को सद्वृत्तियों में संलग्न कर देना ताकि वह अनर्थ मार्ग पर जाए ही नहीं। ऐसे ही श्रुत रूप रस्सी से, बाँधने का अर्थ है -- विवेक एवं ज्ञान के द्वारा उसे ठीक ओर चलाना यह समत्व के अर्थ में है। समत्व के द्वारा निग्रहण का अर्थ भी दमन नहीं है वरन् मनोदशा को समभाव से युक्त बनाना है। मन का समत्व दमन में तो सम्भव ही नहीं होता, क्योंकि वह तो संघर्ष की अवस्था है। जब तक वासनाओं और नैतिक आदर्श का संघर्ष है तब तक समत्व हो ही नहीं सकता। जैन-साधना पद्धति तो समत्व (समभाव) की साधना है। वासनाओं के दमन का मार्ग तो चित्त-क्षोभ उत्पन्न करता है, अतः वह उसे स्वीकार्य नहीं है। जैन साधना का आदर्श क्षायिक साधना है जिसमें वासना-दमन नहीं, वरन् वासनाशून्यता ही साधना का लक्ष्य है। गीता में भी मन के निग्रह का जो उपाय बताया गया है वह है, वैराग्य और अभ्यास। वैराग्य मनोवृत्तियों अथवा वासनाओं का दमन नहीं है, अपितु भोगों के प्रति एक अनासक्त वृत्ति है। तटस्थ वृत्ति या उदासीन वृत्ति दमन से बिल्कुल भिन्न है, वह तो भोगों के प्रति राग-भाव की अनुपस्थिति है। दूसरी ओर अभ्यास शब्द भी दमन का समर्थक नहीं है। यदि गीताकार को दमन ही इष्ट होता तो वह अभ्यास की बात नहीं कहता। दमन में अभ्यास की आवश्यकता नहीं होती है, क्योंकि यदि दमन ही करना हो तो फिर अभ्यास किसलिये ? अभ्यास होता है विलयन, परिष्कार या उदात्तीकरण के लिए। वस्तुतः साधना का लक्ष्य वासना या चैतसिक आवेगों का विलयन (समाप्ति) होता है न कि उनका दमन। क्योंकि जब तक दमन है तब तक चित्त-विक्षोभ है किन्तु साधना का लक्ष्य तो समाधि है। समाधि वासनाओं के दमन से नहीं, अपितु उनके विलयन से फलित होती है। दमन में वासना रहती है अतः उसमें चित्त-विक्षोभ भी रहता है। जबकि विलयन में वासना ही समाप्त हो जाती है अतः वह चित्त की शान्त अवस्था है। यही चित्त की शान्त एवं निर्विकल्पक अवस्था सम्पूर्ण साधना-पद्धतियों का लक्ष्य है। यही समाधि है, वीतरागता है।

वासनाक्षय या मनोजय का सम्यग्मार्ग

चित्तवृत्तियों या वासनाओं का विलयन (वासना-शून्यता) कैसे हो ? इस सम्बन्ध में आचार्य हेमचन्द्र ने योगशास्त्र में एक समुचित मार्ग प्रस्तुत किया है। वे लिखते हैं कि, "मन जिन-जिन विषयों में प्रवृत्त होता है, उनसे उसे बलात् रोकना नहीं चाहिए, क्योंकि बलात् रोकने से वह उस ओर अधिक दौड़ने लगता है और न रोकने से शान्त हो जाता है। जैसे मदनोन्मत्त हाथी को रोका जाय तो वह और अधिक प्रेरित होता है, अगर उसे नहीं रोका जावे तो वह इष्ट-विषय प्राप्त करके शान्त हो जाता है। यही स्थिति मन की है।" साधक अपने विषयों को ग्रहण करते हुए इन्द्रियों को न तो रोके और न प्रवृत्त करें, अपितु इतना सजग (अप्रमत्त) रहे कि उनके कारण मन में राग-द्वेष की वृत्तियाँ उत्पन्न न हों। वह किंचित् भी संकल्प-विकल्प नहीं करे, क्योंकि चित्त संकल्पों से व्याकुल होता है। सभी चित्त विक्षोभ संकल्पजन्य हैं। अतः संकल्पयुक्त चित्त में स्थिरता नहीं आ सकती है।⁸¹ वस्तुतः यहाँ आचार्य का मन्तव्य यह है

कि चित्त को शान्त करने के लिये उसे संकल्प-विकल्प से मुक्त करना होगा और इस हेतु ज्ञाता-द्रष्टा या साक्षी बनाना होगा। जब चित्त या मन द्रष्टा, साक्षी और अप्रमत्त होगा तो स्वाभाविक रूप से वह वासनाओं एवं विक्षोभों से मुक्त हो जाएगा। चित्त-विक्षोभ केवल प्रमत्तदशा में रह सकता है, अप्रमत्तदशा में नहीं। यह बात आधुनिक मनोवैज्ञानिक दृष्टि से भी सत्य है। जब मन स्वयं अपनी वृत्तियों का द्रष्टा बनेगा तो वह उनका कर्ता नहीं रह जाएगा, क्योंकि एक ही मन एक ही समय में द्रष्टा और कर्ता दोनों नहीं हो सकता। जिस समय वह द्रष्टा-भाव में होगा उसी समय उसमें कर्ताभाव नहीं रह सकता। उदाहरण के लिए जब हम क्रोध करते हैं, उस समय अपनी क्रोध की अवस्था को जानते नहीं हैं और जब अपनी क्रोध की अवस्था को जानने का प्रयास करते हैं तो क्रोध शान्त होने लगता है। मनोविज्ञान का यह नियम है कि जब विवेक जाग्रत होगा तो वासना क्षीण होगी और जब वासना जाग्रत होगी तो विवेक क्षीण होगा। अतः साधना में आवश्यकता होती है विवेक को जाग्रत बनाये रखने की। वासना-क्षय का सम्यक् मार्ग वासनाओं का दमन नहीं, अपितु विवेक को जाग्रत करना है। साधक को अपनी शक्ति वासनाओं से संघर्ष करने में नहीं अपितु विवेक को जाग्रत करने में लगानी चाहिए। वस्तुतः मन में जब विवेक का प्रकाश होता है तो वासना उसमें प्रवेश नहीं कर पाती। जैसे जब घर का मालिक जागता है तो चोर घर में प्रवेश नहीं करता। जब मन अप्रमत्त या जाग्रत रहता है तो वासनाएँ स्वयं विलुप्त हो जाती हैं।

मन की विभिन्न अवस्थायें

वासना से विवेक की ओर, प्रमत्तता से अप्रमत्तता की ओर -- मन की यह यात्रा अनेक सोपानों से होती है। जैन, बौद्ध और हिन्दू परम्परा में इस सम्बन्ध में समानान्तर रूप से इन सोपानों का उल्लेख मिलता है। आचार्य हेमचन्द्र ने योगशास्त्र में मन की चार अवस्थाओं का उल्लेख किया है --

1. विक्षिप्त मन -- यह मन की विषयासक्त और संकल्प-विकल्पयुक्त विक्षुब्ध अवस्था है। इसे प्रमत्तता की अवस्था भी कह सकते हैं।
2. यातायात मन -- मन इस अवस्था में कभी बहिर्मुखी हो विषय की ओर दौड़ता है तो कभी अन्तर्मुखी हो द्रष्टा या साक्षी बनने का प्रयास करता है। साधना की प्रारम्भिक स्थिति में मन की यह अवस्था रहती है। यह 'प्रमत्ताप्रमत्त' अवस्था है।
3. श्लिष्ट मन -- यह चित्त की अप्रमत्त अवस्था है। यहाँ चित्त निर्विषय तो नहीं होता किन्तु उसके विषय शुभ-भाव होते हैं। यह अशुभ मनोभावों की विलय की अवस्था है, अतः इसे आनन्दमय अवस्था भी कहा गया है।
4. सुलीन मन -- यहाँ चित्तवृत्तियों का पूर्ण विलयन हो जाता है और चित्त शुभ-अशुभ दोनों से ऊपर उठ जाता है। यह उसकी शुद्ध ज्ञाता-द्रष्टा अवस्था है इसे परमानन्द या समाधि की अवस्था भी कहा जा सकता है।

जैन परम्परा के अनुरूप बौद्ध और हिन्दू परम्पराओं में भी मनोभूमियों का उल्लेख उपलब्ध है। बौद्ध-दर्शन में जैन-दर्शन के समान ही चित्त की 1. कामावचर, 2. रूपावचर, 3. अरूपावचर और 4. लोकोत्तर -- इन चार अवस्थाओं का उल्लेख है जो कि क्रमशः विक्षिप्त, यातायात, श्लिष्ट और सुलीन के समतुल्य हैं। योग-दर्शन में मन की निम्न पाँच अवस्थाओं का उल्लेख है -- 1. क्षिप्त, 2. मूढ़, 3. विक्षिप्त, 4. एकाग्र और 5. निरुद्ध। इसमें भी यदि हम क्षिप्त और मूढ़ चित्त को एक ही वर्ग में रखें, तो तुलनात्मक दृष्टि से यहाँ भी जैन-दर्शन से समानता ही परिलक्षित होती है। जिसे निम्न तालिका से स्पष्ट किया जा सकता है --

जैन-दर्शन	बौद्ध-दर्शन	योग-दर्शन
विक्षिप्त	कामावचर	क्षिप्त एवं मूढ़
यातायात	रूपावचर	विक्षिप्त
श्लिष्ट	अरूपावचर	एकाग्र
सुलीन	लोकोत्तर	निरुद्ध

जैन-दर्शन का विक्षिप्त मन, बौद्ध-दर्शन का कामावचर चित्त और योग-दर्शन के क्षिप्त एवं मूढ़ चित्त समानार्थक हैं, क्योंकि सभी के अनुसार इस अवस्था में चित्त में वासनाओं की बहुलता तथा विकलता रहती है। इसी प्रकार यातायात मन, रूपावचर चित्त और विक्षिप्त चित्त भी समानार्थक ही हैं क्योंकि सभी ने इसे चित्त की अल्पकालिक, प्रयाससाध्य स्थिरता की अवस्था माना है। यहाँ वासनाओं का वेग तथा चित्त विक्षोभ तो बना रहता है किन्तु उसमें कुछ मन्दता अवश्य आ जाती है। तीसरे स्तर पर जैन-दर्शन का श्लिष्ट मन, बौद्ध-दर्शन का अरूपावचर चित्त और योग-दर्शन का एकाग्रचित्त भी समकक्ष है क्योंकि इसे सभी ने मन की स्थिरता और अप्रमत्तता की अवस्था माना है। चित्त की अन्तिम अवस्था, जिसे जैन-दर्शन में सुलीन मन, बौद्ध-दर्शन में लोकोत्तर चित्त और योग-दर्शन में निरुद्ध चित्त कहा गया है, स्वरूप की दृष्टि से समान ही है क्योंकि इसमें सभी ने वासना-संस्कार एवं संकल्प-विकल्प का पूर्ण अभाव माना है।

वस्तुतः सभी साधना पद्धतियों का घरम लक्ष्य मन की उस वासना-शून्य, निर्विकार, निर्विचार एवं अप्रमत्त दशा को प्राप्त करना है, जिसे सभी ने समाधि के सामान्य नाम से अभिहित किया है। साधना है -- वासना से विवेक की ओर, प्रमत्तता से अप्रमत्तता की ओर तथा चित्त-क्षोभ से चित्त-शान्ति की ओर प्रगति। मन का यह स्वरूप विश्लेषण हमें इस दिशा में निर्देशित कर सकता है किन्तु प्रयास तो स्वयं ही करने होंगे। साधना केवल स्व-प्रयासों से ही फलवती होती है।

सन्दर्भ

1. उत्तराध्ययनसूत्र, 29/56
2. योगशास्त्र (हेमचन्द्र), 4/38

3. धम्मपद यमक वर्ग 1
4. धम्मपद यमक वर्ग 2
5. धम्मपद चित्तवर्ग 43
6. धम्मपद चित्तवर्ग 37
7. चित्तं वर्तते चित्तं, चित्तमेव विमुच्यते।
चित्तं हि जायते नान्यच्चित्तमेव निरुध्यते ॥
- लंकावतारसूत्र 145
8. ब्रह्मबिन्दु उपनिषद् - 2
9. गीता - 3/40
10. गीता - 6/27
11. गीता, 3/40
12. गीता, 3/40
13. देखिये -- दर्शन और चिन्तन, भाग 1, पृ० 140 तथा भाग 2, पृ० 311
14. मनश्चैव जडं मन्य -- योगवासिष्ठ, निर्वाण प्रकरण, सर्ग 78/21
15. भूमिरापोऽन्नलो वायुः खं मनो बुद्धिरेव च।
अहंकार इतीयं मे भिन्ना प्रकृतिरष्टधा ॥
- गीता 7/4
16. मनः द्विविधः -- द्रव्यमनः भावमनः च।
17. राधाकृष्णन -- भारतीय दर्शन भाग 1 -- जैनदर्शन
18. The Jaina's have given a modified parallelism with reference to psychic activity as determined by the Karmic matter -- They presented a sort of psycho-physical parallelism concerning individual mind & bodies yet they were not unaware of interaction between the mental and bodily activity -- Jaina's do not speak merely in terms of pre-established harmony their theory transcends parallelism and postulates a more intimate connection between body and mind their notion of the structure of the mind and functional aspects of the mind shows that they were aware of the significance of interaction. Jaina theory was an attempt at the integration of metaphysical dichotomy of Jiva and Ajiva and the establishment of the interaction of individual mind and body.
- Some Problems of Jain Psychoogy, Page 29.
19. विशद तुलनात्मक विवेचना के लिये देखिये -- दर्शन और चिन्तन, भाग 1, पृ० 134-135

20. विशद विवेचना के लिए देखिए -- विशुद्धिमगो, भाग 2, पृ 103-128 (हिन्दी अनुवाद)
21. गीता, 15/9
22. सद्दे-स्वे य गन्धे य, रसे-फासे तहेव य ।
पंचविहे कामगुण, निच्छसो परिवज्जए ।।
- उत्तराध्ययन, 16/10
23. जाणंतो पस्संतो ईहापुव्वं ण होई केवलिणो ।
केवलिणाणी तम्हा तेण तुसोऽबन्धगो भणिदो ।।
परिणाम पुव्ववयणं जीवस्स य बंधकरणं होई ।
परिणामरहिय वयणं तम्हा णाणीस्स णहि बन्धो ।।
ईहापुव्वं वयणं जीवस्स य बंधकरणं होई ।
ईहारहियं वसणं तम्हा णाणीस्स ण हि बन्धो ।।
ठाणणिसेज्जविहारा ईहापुव्वं ण होई केवलिणो ।
तम्हा ण होई बन्धो साकट्टं मोहसणीयस्स ।।
- नियमसार, 171, 172, 173, 174
- टिप्पणी -- ईहा शब्द विमर्शात्मक संकल्प की अपेक्षा -- विमर्शरहित "वासना" के अधिक निकट है ।
24. गणधरवाद -- वायुभूति से चर्चा
25. परांघि खानि व्यतृणत्स्वयंभू स्तस्मात्पराङ्मुपश्यति नान्तरात्मन् -- कठ० 2/1/1
26. सव्वे सुहसाया दुक्खपडिक्कूला -- आचारांग
27. इन्द्रिय मनोनुकूलायाम्प्रवृत्तो -- अभिधानराजेन्द्र, खण्ड 2, पृ 575
28. लाभस्यार्थस्याभिलाषातिरेके -- वही, पृ 575
29. रागस्सहेउ समणुन्नमाहु दोसस्सहेउ अमणुन्नमाहु -- उत्तरा० 32/23
तुलना कीजिये : राग की उत्पत्ति के दो हेतु हैं -- 1. शुभ (अनुकूल) करके देखना,
2. अनुचित विचार । द्वेष की उत्पत्ति के दो हेतु हैं -- 1. प्रतिकूल करके देखना तथा
2. अनुचित विचार ।
- अंगुत्तर निकाय, दूसरा निपात, 11/6-7
30. तओ से जायंति पओयणाई निमज्जिउं मोहमहणवम्मि ।
सुहेसिणो दुक्खविणोयणट्ठा तप्पच्चयं उज्जमए य राणी ।।
कोहं च माणं च तहेव मायं लोहं दुगच्छं अरइं रइं च ।
हासं भयं योग पुमित्थिवेयं नपुंसवेयं विविहे य भावे ।।
आवज्जई एयमणेगस्वे एवंविहे कामगुणेषु सत्तो ।
अन्ने य एयप्पभवे विसेसे कारुणदीणे हिरिमं वइस्से ।।
-- उत्तराध्ययन, 32/105, 102, 103

31. ध्यायतो विषयान पुंसः संगस्तेषूपजायते ।
संगात्संजायते कामः कामात्क्रोधोऽभिजायते ।।
क्रोधाद् भवति संमोहः संमोहात्स्मृतिविभ्रमः ।
स्मृतिभ्रंशाद् बुद्धिनाशो बुद्धिनाशात्प्रणश्यति ।। -- गीता, 2/62-63
32. रागो या दोसा वि य कम्मबीयं कम्मं च मोहप्पभवं वयंति ।
कम्मं च जाइमरणस्स मूलं दुक्खं च जाई मरणं वयंति ।। -- उत्तराध्ययन, 32/6
33. इच्छा-द्वेष-समुत्थेन द्वन्द्वमोहेन भारत !
सर्वभूतानि सम्मोहं सर्गे यान्ति परन्तप ! ।। -- गीता, 7/27
34. संयुत्तनिकाय, नन्दन वर्ग, पृ० 12
35. विनेन्द्रियजयं नैव कषायान् जेतुमीश्वरः । -- योगशास्त्र, 4/24
36. उत्तराध्ययनसूत्र, 32/23
37. वही, 32/24
38. वही, 32/27
39. वही, 32/28
40. वही, 32/32
41. वही, 32/36
42. वही, 32/37
43. वही, 32/40
44. वही, 32/41
45. वही, 32/43
46. वही, 32/49
47. वही, 32/50
48. वही, 32/53
49. वही, 32/54
50. वही, 32/62
51. वही, 32/63
52. वही, 32/71
53. वही, 32/72
54. वही, 32/75
55. वही, 32/76
56. वही, 32/79
57. वही, 32/80
58. वही, 32/84
59. योगशास्त्र (हेमचन्द्र) प्रकाश 4
60. गीता, 2/60-67, 3/41

61. धम्मपद, 1/7-8
62. उत्तराध्ययनसूत्र, 32/100
63. उत्तराध्ययनसूत्र, 32/101
64. गीता, 3/34
65. गीता, 3/6
66. गीता, 2/59
67. उत्तराध्ययनसूत्र, 32/109
68. गीता, 2/64
69. मणो साहसिओ भीमो दुट्ठसो परिधावई । -- उत्तराध्ययन 23/58
70. रम्म समारम्मे आरम्मे य तहेव य ।
मणं पवत्तमाणं तु नियत्तिज्ज जयं जई ।। -- उत्तराध्ययन 24/11
71. गीता, 6/34
72. गीता, 6/35
73. मनः संयम्य मच्चित्तो युक्त आसीत मत्परः । -- गीता 6/14
74. धम्मपद, चित्तवर्ग, 33-35
75. योगशास्त्र (हेमचन्द्र), 36-39
76. प्रकृतिं यान्ति भूतानि निग्रहः किं करिष्यति । -- गीता 3/33
77. सर्वास्या एवं राजर्षि ! भूतजातैर्जगत्त्रये ।
देवादेवारपि देहोद्भवा द्रव्यात्मैव स्वभावतः ।
अज्ञमस्त्वथ तज्ज्ञं वा यावत्स्वान्तं शरीरकर्म ।। -- योगवासिष्ठ 105/109
78. तथा तथा प्रवर्तेत यथा न क्षुभ्यते मनः ।
संक्षुब्धे चित्तरत्ने तु सिद्धिर्नैव कदाचन ।।
प्रज्ञोपायविनिश्चय, 5/40 (उद्धृत बोधिचर्यावतार, भूमिका), पृ 20
79. बोधिचर्यावतार, भूमिका, पृ 20
80. विशेष जानकारी के लिये देखिये -- गुणस्थानारोहण ।
81. योगशास्त्र 12/33-36



जैनदर्शन में नैतिकता की सापेक्षता और निरपेक्षता

- प्रो० सागरसुल जैन

पाश्चात्य आचार दर्शन में यह प्रश्न सदैव विवादास्पद रहा है कि नैतिकता सापेक्ष है या निरपेक्ष। नैतिकता को निरपेक्ष मानने वाले विचारकों में प्रमुख रूप से जर्मन दार्शनिक कांट का नाम आता है। कांट का कथन है कि "केवल उस सिद्धान्त के अनुसार आचरण करो जिसे तुम उसी समय एक सार्वभौम नियम बनाने का भी संकल्प कर सको।"¹ कांट यह मानते हैं कि "नैतिक नियम निरपेक्ष आदेश हैं अर्थात् नैतिक नियम ऐसे नियम हैं जो देश-काल अथवा व्यक्ति के आधार पर परिवर्तित नहीं होते। यदि सत्य बोलना नैतिकता है तो फिर किसी भी स्थिति में असत्य बोलना नैतिक नहीं हो सकता। हमें प्रत्येक परिस्थिति में सत्य ही बोलना चाहिए।" कांट की मान्यता को दृष्टिगत रखते हुए हम कह सकते हैं, जो आचरण नैतिक है वह सदैव नैतिक रहेगा और जो अनैतिक है वह सदैव अनैतिक रहेगा। देशकालगत अथवा व्यक्तिगत परिस्थितियों से वे प्रभावित नहीं होते हैं अर्थात् आचार के जो कर्म नैतिक हैं वे सदैव प्रत्येक परिस्थिति में नैतिक कर्म रहेंगे और आचार के जो कर्म अनैतिक हैं वे सदैव प्रत्येक परिस्थिति में अनैतिक कर्म रहेंगे। इस प्रकार जो विचारणा यह स्वीकार करती है कि नैतिकता निरपवाद एवं देशकाल और व्यक्तिगत तथ्यों से निरपेक्ष है उसे निरपेक्ष नैतिकता की विचारणा कहा जाता है। इसके विपरीत नैतिक दर्शन की जो विचारणाएँ नैतिक कर्मों एवं आचरणों को अपवाद युक्त एवं देश, काल तथा व्यक्तिगत परिस्थितियों के आधार पर परिवर्तनशील मानती हैं, नैतिकता की सापेक्षवादी विचारणाएँ कही जाती हैं। नैतिकता की सापेक्षवादी विचारणा यह स्वीकार करती है कि एक ही कर्म एक अवस्था में नैतिक हो सकता है और वही कर्म दूसरी अवस्था में अनैतिक हो सकता है। हाब्स, मिल तथा सिजविक प्रभृति सुखवादी विचारक इसी दृष्टिकोण को अपनाते हैं। नैतिक कर्मों के अपवाद के प्रश्न को लेकर इनका कांट से विरोध है। ये विचारक नैतिक जगत में अपवाद को स्वीकार करते हैं। हॉब्स लिखते हैं कि "अकाल के समय जब अनाज कृय करने पर भी न मिले, न दान में ही प्राप्त हो तब क्षुधातृप्ति के लिये कोई चौर्य कर्म का आचरण करे तो उसका वह अनैतिक कर्म क्षम्य ही माना जाएगा।"² मिल इसे अधिक स्पष्ट करते हुए लिखते हैं, कि "ऐसे समय में चोरी करके जीवन की रक्षा करना केवल क्षम्य कर्म ही नहीं है अपितु मनुष्य का कर्तव्य है।"³ इसी प्रकार सिजविक भी नैतिक जीवन के क्षेत्र में अपवाद को स्थान देते हैं, वे लिखते हैं -- "यद्यपि यह कहा गया है कि सब लोगों को सच बोलना चाहिए तथापि हम यह नहीं कह सकते हैं कि जिन राजनीतिज्ञों को अपनी कार्यवाही गुप्त रखनी पड़ती है वे दूसरे व्यक्तियों के साथ हमेशा सच ही बोला करें।" फलवादी नैतिक विचारक जान डीवी लिखते हैं "वास्तव में ऐसे स्थान और समय -- अर्थात् ऐसे सापेक्ष सम्बन्ध हो सकते हैं जिनमें

सामान्य क्षुधाओं की पूर्ति भी, जिन्हें साधारणतः भैतिक और ऐन्द्रिक कहा जाता है, आदर्श हों।"⁴ इन सभी के विपरीत कांट नैतिक नियमों में किसी भी अपवाद को स्थान नहीं देते हैं। उनके बारे में यह घटना प्रसिद्ध है कि एक बार कांट के लिए किसी जहाज से फलों का पार्सल आ रहा था। रास्ते में जहाज विपत्ति में फँस गया और यात्री भूखों मरने लगे। ऐसी स्थिति में कांट का फलों का पार्सल भी खोल लिया गया। जब कांट के पास खुला हुआ पार्सल पहुँचा, तो कांट ने पार्सल का खोला जाना सर्वथा अनैतिक ठहराया। कांट बताते हैं कि नैतिक कभी अनैतिक नहीं बनता और अनैतिक कभी नैतिक नहीं बनता। देश और परिस्थितियाँ अनैतिक को नैतिक नहीं बना सकतीं।

दूसरे स्पेन्सर आदि कुछ अन्य विकासवादी विचारक एवं समाजशास्त्रीय विचारक भी नैतिक कर्मों की नैतिकता को सापेक्ष मानते हैं। स्पेन्सर यद्यपि नैतिकता को तथ्य स्वीकार करते हैं फिर भी वे उससे सन्तुष्ट नहीं होते हैं और निरपेक्ष नीति की कल्पना कर डालते हैं।

पश्चिम की तरह भारत में भी नैतिकता के सापेक्ष और निरपेक्ष पक्षों पर काफी विचारणाएँ हुई हैं। नैतिक कर्मों की अपवादात्मकता और निरापवादिता की चर्चा के स्वर स्मृति-ग्रन्थों और पौराणिक साहित्य में काफी जोरों से सुनाई देते हैं।⁵ जहाँ तक जैनविचार में नैतिकता के सापेक्ष और निरपेक्ष की मान्यता का प्रश्न है उसे एकांतिक रूप से न तो सापेक्ष कहा जा सकता है, न निरपेक्ष। यदि उसे सापेक्ष कहने का आग्रह ही रखा जाये तो वह इसीलिये सापेक्ष है क्योंकि वह निरपेक्ष भी है।⁶ निरपेक्ष के अभाव में सापेक्ष भी सच्चा सापेक्ष नहीं है। वह निरपेक्ष इसलिये है क्योंकि वह सापेक्षता से ऊपर भी है। आइये जरा इस प्रश्न पर गहरा विचार करें कि जैन नैतिकता किस अर्थ में सापेक्ष है और किस अर्थ में निरपेक्ष है।

जैन नैतिकता का सापेक्ष

जैन तत्त्वज्ञान जिस अनेकांतवाद के सिद्धान्त को स्वीकार करके चलता है उसके अनुसार सारा ज्ञान सापेक्ष ही होगा चाहे वह कितना ही विस्तृत क्यों नहीं हो। यदि हम अपूर्ण हैं तो वस्तु के अनन्त पक्षों को नहीं जान सकते, अतः जो कुछ भी जानेंगे वह अपूर्ण होगा, सापेक्ष होगा। यदि ज्ञान ही सापेक्ष रूप में होगा तो हमारे नैतिक निर्णय जिन्हें हम प्राप्त ज्ञान के आधार पर करते हैं, सापेक्ष ही होंगे इस प्रकार अनेकान्तवाद की धारणा से नैतिक निर्णयों की सापेक्षता होती है। गीता भी स्वीकार करती है कि "किं कर्तव्य" का निश्चय कर पाना अथवा कर्म की शुभाशुभता का निरपेक्ष रूप से निश्चय कर पाना अत्यन्त कठिन है।⁷

आचरण के जिन तथ्यों को हम शुभ या अशुभ अथवा पुण्य या पाप के नाम से सम्बोधित करते हैं, उनके सन्दर्भ में साधारण व्यक्ति द्वारा दिए गए यह निर्णय सापेक्षिक ही हो सकते हैं। हमारे निर्णयों के देने से कम से कम कर्त्ता के प्रयोजन एवं कर्म के परिणाम के पक्ष तो उपस्थित होते ही हैं। दूसरे व्यक्ति के आचार के बारे में लिए जाने वाले निर्णयों में हम प्रयोजन सापेक्ष होते हैं। कोई भी व्यक्ति पूर्णतया न तो यह जान सकता है कि कर्त्ता का प्रयोजन क्या था, न स्वयं के कर्मों का दूसरों पर क्या परिणाम हुआ, इसका पूरा ज्ञान रख सकता है।

अतः जन-साधारण के नैतिक निर्णय हमेशा सापेक्ष हो सकते हैं।

दूसरी ओर हमें जिस जगत् में नैतिक आचरण करना है वह सारा जगत् ही आपेक्षिकताओं से युक्त है क्योंकि उसकी प्रत्येक वस्तु अनन्त धर्मात्मक है। अतः इस सापेक्षिकता के जगत् में नैतिक आचरण भी निरपेक्ष नहीं हो सकता। सभी कर्म देश-काल अथवा व्यक्ति से सम्बन्धित होते हैं और इसलिए वे निरपेक्ष नहीं हो सकते। बाह्य जागतिक परिस्थितियाँ और कर्म के पीछे रहा हुआ वैयक्तिक अभिप्रयोजन (Intention) भी आचरण को नैतिक विचारणा की दृष्टि से सापेक्ष बना देते हैं। जैनदर्शन दार्शनिक दृष्टि से वस्तु की अनन्त धर्मात्मकता को स्वीकार करता है। आचार्य हेमचन्द्र के शब्दों में आदीपव्योम सभी वस्तुएँ स्याद्वाद की मुद्रा से अंकित है अर्थात् सभी जागतिक तथ्य अनेक गुण-धर्मों से युक्त है। नैतिक कर्म भी एक जागतिक तथ्य है वह भी अनेक पक्षों से युक्त है। अतः उस पर किसी निरपेक्ष अथवा एकान्तिक दृष्टिकोण से विचार नहीं किया जा सकता। उसके देश-कालगत अनेक पक्षों की बिना समीक्षा किये उन्हें नैतिक अथवा अनैतिक नहीं कहा जा सकता। कोई भी कर्म देशकाल भाव आदि तथ्यों से भिन्न एकान्त रूप में न तो नैतिक कहा जा सकता है और न अनैतिक। पाश्चात्य दार्शनिक ब्रेडले इसी विचार के समर्थक हैं। वे लिखते हैं "प्रत्येक कर्म के अनेक पक्ष होते हैं, वह अनेक रूपों से सम्बन्धित होता है, उस पर विचार करने के अनेक दृष्टिकोण होते हैं और वह अनेक गुणों से युक्त होता है, सदैव अनेक ऐसे सिद्धान्त हो सकते हैं जिनके अन्तर्गत उस पर विचार किया जा सकता है और इसलिए उसे (एकान्त रूप में) नैतिक अथवा अनैतिक मानने में कुछ कम कठिनाई नहीं होती। एक कर्म एक दशा में नैतिक हो सकता है और दूसरी दशा में अनैतिक हो सकता है, वही कर्म एक व्यक्ति के लिए नैतिक हो सकता है दूसरे व्यक्ति के लिए अनैतिक हो सकता है। जैन विचारणा कर्मों की नैतिक दृष्टि से इस सापेक्षता को स्वीकार करती है। प्राचीनतम जैन आगम आचारांगसूत्र में कहा गया है कि "जो आस्रव या बन्ध के कारण हैं वे सभी मोक्ष के हेतु हो जाते हैं और जो मोक्ष के हेतु हैं वे सभी बन्ध के हेतु हो जाते हैं।"⁸ इस प्रकार कोई भी अनैतिक कर्म विशेष स्थिति में नैतिक बन जाता है और कोई भी नैतिक कर्म विशेष स्थिति में अनैतिक बन सकता है।⁹ वस्तुतः आचरण या क्रिया अपने आप में न तो नैतिक होती है और न अनैतिक वरन् परिस्थितियाँ एवं व्यक्ति का प्रयोजन उसे नैतिक अथवा अनैतिक बना देता है।¹⁰ दान देना नैतिक कर्म है लेकिन कुपात्र को यश प्राप्ति के निमित्त दिया हुआ दान अनैतिक हो जाता है। अतः आचरण की शुभता अथवा अशुभता का निश्चय निरपेक्ष रूप से नहीं किया जा सकता है। उपाध्याय अमरमुनिजी लिखते हैं "त्रिभुवनोदर विवरवर्ती समस्त असंख्येय भाव अपने आप में न तो मोक्ष के कारण हैं और न संसार के कारण हैं। साधक की अपनी अन्तः स्थिति ही उन्हें अच्छे या बुरे का रूप दे देती है।" लेकिन न केवल साधक की मनःस्थिति जिसे जैन शब्दावली में भाव कहते हैं आचरण के तथ्यों का मूल्यांकन करती है वरन् उसके साथ-साथ जैन विचारकों ने द्रव्य, क्षेत्र और काल को भी कर्मों की नैतिकता और अनैतिकता का निर्धारक तत्त्व स्वीकार किया है। आचार्य आत्मारामजी महाराज अपनी आचारांगसूत्र की व्याख्या में लिखते हैं बन्ध और निर्जरा (नैतिकता और अनैतिकता) में भावों की प्रमुखता है परन्तु भावों के साथ स्थान और क्रिया का

भी मूल्य है।¹¹ आचार्य हरिभद्र के अष्टक प्रकरण की टीका में आचार्य जिनेश्वर ने चरकसंहिता का एक श्लोक¹² उद्धृत किया है जिसका अर्थ है कि देशकाल और रोगादि के कारण मानवजीवन में कभी-कभी ऐसी अवस्था भी आ जाती है जब अकार्य कार्य बन जाता है और कार्य अकार्य बन जाता है। जो विधान है, वह निषेध की कोटि में चला जाता है और जो निषेध है वह विधान की कोटि में चला जाता है। इस प्रकार जैन नैतिकता में चार अपेक्षिताएँ नैतिक मूल्यों के निर्धारण में भाग लेती हैं। आचरण के तथ्य इन्हीं चार बातों के आधार पर नैतिक और अनैतिक नहीं होते वरन् वस्तुस्थिति, स्थान, समय और कर्ता के मनोभाव यह चारों मिलकर उसे नैतिक अथवा अनैतिक बना देते हैं। संक्षेप में एकान्त रूप से न तो कोई आचरण, कर्म या क्रिया नैतिक है और न अनैतिक वरन् देशकालगत बाह्य परिस्थितियाँ और द्रव्य तथा भावगत आन्तरिक परिस्थितियाँ उन्हें वैसा बना देती है। इस प्रकार जैन नैतिकता व्यक्ति के कर्तव्यों के सम्बन्ध में अनेकांतवादी या सापेक्षिक दृष्टिकोण अपनाती है। वह यह भी स्वीकार करती है कि जो दानादि एक गृहस्थ के नैतिक कर्तव्य हैं वे ही एक मुनि या संन्यासी के लिए अकर्तव्य होते हैं। कर्तव्याकर्तव्य मीमांसा में जैन विचारणा किसी भी एकांतिक दृष्टिकोण को स्वीकार नहीं करती। समदर्शी आचार्य हरिभद्र लिखते हैं कि तीर्थंकरों ने न किसी बात के लिए एकान्त विधान किया है और न किसी बात के लिए एकान्त निषेध ही किया है। तीर्थंकर का एक ही आदेश है, एक ही आज्ञा है कि जो कुछ भी कार्य तुम कर रहे हो उसे सत्यभूत होकर करो, उसे पूरी वफादारी के साथ करते रहो।¹³ आचार्य उमास्वाति का कथन है नैतिक-अनैतिक, विधि (कर्तव्य) निषेध (अकर्तव्य) अथवा आचरणीय या अनाचरणीय एकान्त रूप से नियत नहीं है। देशकाल, व्यक्ति, अवस्था, उपघात और विशुद्ध मनःस्थिति के आधार पर असमाचरणीय समाचरणीय और समाचरणीय असमाचरणीय बन जाता है।¹⁴ वर्तमान युग के प्रसिद्ध जैन विचारक उपाध्याय अमरमुनिजी ने जैन नैतिकता के सापेक्षिक दृष्टिकोण को बड़े सुन्दर रूप में प्रस्तुत किया है, वे लिखते हैं "कुछ विचारक जीवन में उत्सर्ग (नैतिकता की निरपेक्ष या निरपवाद स्थिति) को पकड़कर चलना चाहते हैं और जीवन में अपवाद का सर्वथा अपलाप करते हैं, उनकी दृष्टि में अपवाद धर्म नहीं अपितु एक महत्तर पाप (अनैतिकता) है-- दूसरी ओर कुछ साधक वे हैं जो उत्सर्ग को भूलकर केवल अपवाद का सहारा लेकर ही चलना चाहते हैं -- ये दोनों विचार एकांगी होने से उपादेय की कोटि में नहीं आ सकते। जैनधर्म की साधना एकान्त की नहीं, अपितु अनेकान्त की सुन्दर और स्वस्थ साधना है।"¹⁵ अन्यत्र वे पुनः लिखते हैं -- "उसके (जैन दर्शन के) दर्शन कक्ष में मोक्ष के हेतुओं की कोई बाँधी-बाँधायी नियत रूपरेखा नहीं है, इयत्ता नहीं है।"¹⁶ पाश्चात्य विचारक ब्रेडले भी कर्तव्याकर्तव्य मीमांसा करते हुए स्पष्ट रूप से स्वीकार करते हैं कि नैतिकता सापेक्ष होती है। वे लिखते हैं कि "मेरा स्थान और उसके कर्तव्य का सिद्धान्त स्वीकार करता है कि यदि नैतिक तथ्य सापेक्ष नहीं है तो कोई भी नैतिकता नहीं होगी। ऐसी नैतिकता जो सापेक्ष नहीं है, व्यर्थ है।"¹⁷

जैन नैतिकता का निरपेक्ष पक्ष

हमने जैनदर्शन में नैतिकता के सापेक्ष पक्ष पर विचार किया लेकिन इसका अर्थ यह

नहीं कि जैनदर्शन में नैतिकता का केवल सापेक्ष पक्ष ही स्वीकार किया गया है। जैन विचारक कहते हैं कि नैतिकता का एक दूसरा पहलू भी है जिसे हम निरपेक्ष कह सकते हैं। जैन तीर्थंकरों का उद्घोष था कि अहिंसा शुद्ध, नित्य और शाश्वत धर्म है।¹⁸ यदि धर्म में कोई निरपेक्ष एवं शाश्वत तत्त्व नहीं है तो फिर धर्म की नित्यता और शाश्वतता का कोई अर्थ नहीं रह जाता है। जैन नैतिकता यह स्वीकार करती है कि भूत, वर्तमान, भविष्य के सभी धर्म प्रवर्तकों (तीर्थंकरों) की धर्म प्रज्ञाप्ति एक ही होती है लेकिन इसके साथ-साथ वह यह भी स्वीकार करती है कि सभी तीर्थंकरों की धर्म प्रज्ञाप्ति एक होने पर भी तीर्थंकर के द्वारा प्रतिपादित आचार नियमों में विभिन्नता हो सकती है, जैसी महावीर और पार्श्वनाथ के द्वारा प्रतिपादित आचार नियमों में थी।¹⁹ जैन विचारणा यह स्वीकार करती है कि नैतिक आचरण के अन्तर और बाह्य ऐसे दो पक्ष होते हैं जिन्हें जैन पारिभाषिक शब्दों में द्रव्य और भाव कहा जाता है। जैन विचारणा के अनुसार आचरण का यह बाह्य पक्ष देश एवं कालगत परिवर्तनों के आधार पर परिवर्तनशील होता है, सापेक्ष होता है। जबकि आचरण का आन्तर पक्ष सदैव-सदैव एक रूप होता है, अपरिवर्तनशील होता है दूसरे शब्दों में निरपेक्ष होता है। वैचारिक या भावहिंसा सदैव-सदैव अनैतिक होती है, कभी भी धर्म मार्ग अथवा नैतिक जीवन का नियम नहीं कहला सकती, लेकिन द्रव्यहिंसा या बाह्यरूप में परिलक्षित होने वाली हिंसा सदैव ही अनैतिक अथवा अनाचरणीय ही हो ऐसा नहीं कहा जा सकता। आन्तर परिग्रह अर्थात् तृष्णा या आसक्ति सदैव ही अनैतिक है लेकिन देव्य परिग्रह सदैव ही अनैतिक नहीं कहा जा सकता। संक्षेप में जैन विचारणा के अनुसार आचरण के बाह्य रूपों में नैतिकता सापेक्ष हो सकती है और होती है लेकिन आचरण के आन्तर रूपों या भावों या संकल्पों के रूप में वह सदैव निरपेक्ष ही है। सम्भव है कि बाह्य रूप में अशुभ दिखने वाला कोई कर्म अपने अन्तर में निहित किसी सदाशयता के कारण शुभ हो जाये लेकिन अन्तर का अशुभ संकल्प किसी भी स्थिति में नैतिक नहीं हो सकता।

जैन दृष्टि में नैतिकता अपने हेतु या संकल्प की दृष्टि से निरपेक्ष होती है। लेकिन परिणाम अथवा बाह्य आचरण की दृष्टि से सापेक्ष होती है। दूसरे शब्दों में नैतिक संकल्प निरपेक्ष होता है लेकिन नैतिक कर्म सापेक्ष होता है। इसी कथन को जैन पारिभाषिक शब्दों में इस प्रकार कहा जा सकता है कि व्यवहार नय (व्यवहार दृष्टि) से नैतिकता सापेक्ष है या व्यावहारिक नैतिकता सापेक्ष है। लेकिन निश्चय नय (पारमार्थिक दृष्टि) से नैतिकता निरपेक्ष है या निश्चय नैतिकता निरपेक्ष है। जैन दृष्टि में व्यावहारिक नैतिकता वह है जो कर्म के परिणाम या फल पर दृष्टि रखती है जबकि निश्चय नैतिकता वह है जो कर्ता के प्रयोजन या संकल्प पर दृष्टि रखती है। युद्ध का संकल्प किसी भी स्थिति में नैतिक नहीं हो सकता लेकिन युद्ध का कर्म सदैव ही अनैतिक हो यह आवश्यक नहीं। आत्महत्या का संकल्प सदैव ही अनैतिक होता है लेकिन आत्महत्या का कर्म सदैव ही अनैतिक हो यह आवश्यक नहीं है वरन् कभी-कभी तो वह नैतिक ही हो जाता है।²⁰

नैतिकता के क्षेत्र में जब एक बार व्यक्ति के संकल्प स्वातन्त्र्य को स्वीकार कर लेते

हैं तो फिर हमें यह कहने का अधिकार ही नहीं रह जाता है कि हमारा संकल्प सापेक्ष है। यदि संकल्पसापेक्ष नहीं है तो उसके सन्दर्भ में नैतिकता को भी सापेक्ष नहीं माना जा सकता है। यही कारण है कि जैन विचारणा संकल्प या विचारों की दृष्टि से नैतिकता को सापेक्ष नहीं मानती है। उसके अनुसार शुभ अध्यवसाय या संकल्प सदैव शुभ है, नैतिक है और कभी भी अनैतिक नहीं होता है। लेकिन निरपेक्ष नैतिकता की धारणा को व्यावहारिक आचरण के क्षेत्र पर पूरी तरह लागू नहीं किया जा सकता, क्योंकि व्यवहार सदैव सापेक्ष होता है। डॉ० ईश्वरचन्द्र शर्मा लिखते हैं कि "यदि कोई नियम आचार का निरपेक्ष नियम बन सकता है तो वह बाह्यात्मक नहीं होकर अन्तरात्मक ही होना चाहिए। आचार का निरपेक्ष नियम वही नियम हो सकता है जो कि मनुष्य के अन्तस् में उपस्थित हो। यदि वह नियम बाह्यात्मक हो तो वह सापेक्ष ही सिद्ध होगा क्योंकि उसके पालन करने के लिए मनुष्य को बाहरी परिस्थितियों पर निर्भर रहना पड़ेगा।" 21

जैन नैतिक विचारणा में नैतिकता को निरपेक्ष तो माना गया लेकिन केवल संकल्प के क्षेत्र तक। जैन-दर्शन "मानस कर्म" के क्षेत्र में नैतिकता को विशुद्ध रूप में निरपेक्ष स्वीकार करता है। लेकिन जहाँ कायिक या वाचिक कर्मों के बाह्य आचरण का क्षेत्र आता है, वह उसे सापेक्ष स्वीकार करती है। वस्तुतः विचारणा का क्षेत्र, मानस का क्षेत्र, आत्मा का अपना क्षेत्र है वहाँ वही सर्वोच्च शासक है। अतः वहाँ तो नैतिकता को निरपेक्ष रूप में स्वीकार किया जा सकता है लेकिन आचरण के क्षेत्र में चेतन तत्त्व एक मात्र शासक नहीं, वहाँ तो अन्य परिस्थितियाँ भी शासन करती हैं, अतः उस क्षेत्र में नैतिकता के प्रत्यय को निरपेक्ष नहीं बनाया जा सकता।

जैन विचारणा के इतिहास में भी एक प्रसंग ऐसा आया है जब आचार्य भिक्षु जैसे कुछ जैन विचारकों ने नैतिकता के बाह्यात्मक नियमों को भी निरपेक्ष रूप में ही स्वीकार करने की कोशिश की। वस्तुतः जो नैतिक विचारणाएँ मात्र सापेक्षिक दृष्टि को ही स्वीकार करती हैं वे नैतिक जीवन के आचरण में उस यथार्थता (actuality) की भूमिका को महत्त्व देती हैं, जिसमें साधक व्यक्ति खड़ा हुआ है। लेकिन वे उस यथार्थता से ऊपर स्थित आदर्श का समुचित मूल्यांकन करने में सफल नहीं हो पाती हैं। वास्तविकता यह है कि वे "जो है" उस पर तो ध्यान देती हैं लेकिन "जो होना चाहिए" इस पर उनकी दृष्टि नहीं पहुँचती। उनकी दृष्टि यथार्थ या वास्तविकता पर होती है, आदर्श पर नहीं। नैतिकता की एकान्तिक सापेक्षवादी मान्यता में नैतिक आदर्श की स्थापना जटिल हो जाती है। उसमें नैतिकता सदैव साधन वस्तु ही बनी रहती है। सापेक्षवादी नैतिकता आचरण की एक ऐसी कच्ची सामग्री प्रस्तुत करती है जिसका अपना कोई "आकार" नहीं। (Relative morality gives us only matter of conduct not the form of conduct.) वह तो उस कुम्हार के चाक पर रखे हुए मृत्तिका पिण्ड के समान है जिसका क्या बनना है यह निश्चित नहीं। इसी प्रकार जो नैतिक विचारणाएँ मात्र निरपेक्ष दृष्टि को स्वीकार करती हैं, वे यथार्थ की भूमिका को भूलकर मात्र आदर्श की ओर देखती हैं, वे नैतिक आदर्श को तो प्रस्तुत कर देती हैं, लेकिन उसके साधना पथ का समुचित

निर्धारण करने में असफल हो जाती है, उसमें नैतिकता मात्र साध्य बनकर रह जाती है।

नैतिकता की निरपेक्षवादी धारणा नैतिक जीवन के प्रयोजन या लक्ष्य और दूसरे शब्दों में कर्म के पीछे रहे हुए कर्ता के अभिप्राय को ही सब कुछ मान लेती है। वे मात्र आदर्श की ओर ही देखती हैं लेकिन साधक की देशकालगत अवस्थाओं पर विचार नहीं करती हैं। नैतिक जीवन के आदर्श इस प्रकार प्रस्तुत किये जाने चाहिए कि उसमें निम्न से निम्नतर चरित्र वाले से लगाकर उच्चतम नैतिक विकास वाले प्राणियों के समाहित होने की संभावना बनी रहे। जैन नैतिकता अपने नैतिक आदर्श को इतने ही लचीले रूप में प्रस्तुत करती है, जिसमें पापी से पापी आत्मा भी क्रमिक विकास करता हुआ नैतिक साधना के सर्वोच्च शिखर पर पहुँच जाता है।

सापेक्षवादी और निरपेक्षवादी दोनों ही विचारणाएँ अपने एकांतिक रूप में अपूर्ण हैं। एक उस भूमि पर तो देखती है, जहाँ साधक खड़ा है, लेकिन उससे आगे नहीं। दूसरी उस आदर्श की ओर ही देखती है, जो सुदूर ऊँचाइयों में स्थित है। लेकिन इन दोनों दशाओं में नैतिक जीवन के लिए जिस गति की आवश्यकता है वह सम्यग् रूपेण सम्पन्न नहीं हो पाती। नैतिकता तो एक लक्ष्योन्मुख गति है, लेकिन उस गति में साधक की दृष्टि केवल उस भूमि पर ही स्थित है जिस पर वह गति कर रहा है और अपने गन्तव्य मार्ग की ओर सामने नहीं देखता है, तो कभी भी लक्ष्य के मध्य स्थित बाधाओं से टकराकर पदच्युत हो सकता है। इसी प्रकार जो साधक मात्र आदर्श की ओर देखता है और उस भूमि की ओर नहीं देखता जिस पर चल रहा है तो वह भी अनेक ठोकरें खाता है और कण्टकों से पद विद्ध कर लेता है। नैतिक जीवन में भी हमारी गति का वही स्वरूप होता है जो हमारे दैनिक जीवन में होता है। जिस प्रकार दैनिक जीवन में चलने के उपक्रम में हमारा काम न तो मात्र सामने देखने से चलता है न मात्र नीचे देखने से। जो पथिक मात्र नीची दृष्टि रखता है और सामने नहीं देखता वह ठोकर तो नहीं खाता लेकिन टकरा जाता है। जो सामने तो देखता है लेकिन नीचे नहीं देखता वह टकराता तो नहीं लेकिन ठोकर खा जाता है। चलने की सम्यक् प्रक्रिया में पथिक को सामने और नीचे दोनों ओर दृष्टि रखनी होती है। इसी प्रकार नैतिक जीवन में साधक को यथार्थ और आदर्श दोनों पर दृष्टि रखनी होती है। साधक की एक आँख यथार्थ पर और दूसरी आदर्श पर हो तभी वह नैतिक जीवन में सम्यक् प्रगति कर सकता है। सम्भवतः यह शंका हो सकती है कि हमें सामान्य जीवन में तो दो आँखें मिली हैं लेकिन नैतिक जीवन की दो आँखें कौन सी हैं। किसी अपेक्षा से ज्ञान और क्रिया को नैतिक जीवन की दो आँखें कहा जा सकता है। नैतिकता कहती है कि ज्ञान नामक आँख को आदर्श पर जमाओ और क्रिया नामक आँख को यथार्थ पर अर्थात् कर्म के आचरण में यथार्थता की ओर देखो और गन्तव्य की ओर प्रगति करने में आदर्श की ओर। जैनदर्शन ने नैतिकता के सापेक्ष और निरपेक्ष दोनों रूपों को स्वीकार किया है। लेकिन उसमें भी निरपेक्षता दो भिन्न-भिन्न अर्थों में रही हुई है। प्रथम प्रकार की निरपेक्षता जो कि वस्तुतः सापेक्ष ही है आचरण के सामान्य नियमों से सम्बन्धित है अर्थात् आचरण के जिन नियमों का विधि और निषेध सामान्य दशा में किया गया है, उस सामान्य दशा की अपेक्षा से आचरण के वे

नियम उसी रूप में आचरणीय हैं। व्यक्ति सामान्य स्थिति में उन नियमों के परिपालन में किसी अपवाद या छूट की अपेक्षा नहीं कर सकता है। वहाँ पर सामान्य दशा का विचार व्यक्ति तथा देशकालगत बाह्य परिस्थितियाँ दोनों के सन्दर्भ में किया गया है अर्थात् यदि व्यक्ति स्वस्थ है और देशकालगत परिस्थितियाँ भी वही हैं, जिनको ध्यान में रखकर विधि या निषेध किया गया था, तो व्यक्ति को उन नियमों तथा कर्तव्यों का पालन भी उसी रूप में करना होगा, जिस रूप में उनका प्रतिपादन किया गया है। जैन पारिभाषिक शब्दावली में इसे उत्सर्ग मार्ग कहा जाता है। नैतिकता के क्षेत्र में उत्सर्ग मार्ग वह मार्ग है जिसमें साधक को नैतिक आचरण उसी रूप में करना होता है जिस रूप में शास्त्रों में उसका प्रतिपादन किया गया है। उत्सर्ग नैतिक विधि-निषेधों का सामान्य कथन है। जैसे मन-वचन-काय से हिंसा न करना, न करवाना, न करने वाले का समर्थन करना। लेकिन जब इन्हीं सामान्य विधि-निषेधों के नियमों का किन्हीं विशेष परिस्थितियों में उसी रूप में किया जाना सम्भव नहीं होता तो उन्हें शिथिल कर दिया जाता है। नैतिक आचरण की यह अवस्था अपवाद मार्ग कही जाती है। उत्सर्ग मार्ग अपवाद मार्ग की अपेक्षा से सापेक्ष है लेकिन जिस परिस्थितिगत सामान्यता के तत्त्व को स्वीकार कर इसका निरूपण किया जाता है, उस सामान्यता के तत्त्व की दृष्टि से निरपेक्ष ही होता है। उत्सर्ग की निरपेक्षता देश-काल एवं व्यक्तिगत परिस्थितियों के अन्दर ही होती है, उससे बाहर नहीं है। उत्सर्ग नैतिक आचरण की विशेष पद्धति है। लेकिन दोनों ही किसी एक लक्ष्य के लिए हैं और इसलिए दोनों ही नैतिक हैं। जिस प्रकार एक नगर को जाने वाले दोनों मार्ग यदि उसी नगर को ही पहुँचाते हों तो दोनों ही मार्ग होंगे, अमार्ग नहीं। उसी प्रकार अपवादात्मक नैतिकता का सापेक्ष स्वरूप और उत्सर्गात्मक नैतिकता का निरपेक्ष स्वरूप दोनों ही नैतिकता के स्वरूप हैं और कोई भी अनैतिक नहीं है। लेकिन निरपेक्षता का एक रूप और है जिसमें वह सदैव ही देशकाल एवं व्यक्तिगत सीमाओं के ऊपर उठी होती है। नैतिकता का वह निरपेक्ष रूप अन्य कुछ नहीं "नैतिक आदर्श" स्वयं ही है। नैतिकता का लक्ष्य ऐसा निरपेक्ष तथ्य है, जो सारे नैतिक आचरणों के मूल्यांकन का आधार है। नैतिक आचरण की शुभाशुभता का अंकन भी इसी पर आधारित है। कोई भी आचरण, चाहे वह उत्सर्ग मार्ग से या अपवाद मार्ग से, हमें इस लक्ष्य की ओर ले जाता है, शुभ है। इसके विपरीत जो भी आचरण हमें इस नैतिक आदर्श से विमुख करता है, अशुभ है, अनैतिक है। सम्यग् नैतिकता इसी के सन्दर्भ में है और इसलिए इसकी अपेक्षा से सापेक्ष है, यही मात्र अपने आप में निरपेक्ष कहा जा सकता है। नैतिक जीवन के उत्सर्ग और अपवाद नामक दोनों मार्ग इसी की अपेक्षा से सापेक्ष होते हैं और इसी के मार्ग होने से निरपेक्ष भी क्योंकि मार्ग के रूप में किसी स्थिति तक इससे अभिन्न भी होते हैं और यही अभिन्नता उनको निरपेक्षता का सच्चा तत्त्व प्रदान करती है। लक्ष्य रूपी जिस सामान्य तत्त्व के आधार पर नैतिक जीवन के उत्सर्ग और अपवाद के दोनों मार्गों का विधान किया गया है, वह मोक्ष की प्राप्ति है।

यदि नैतिक आचरण एक सापेक्ष तथ्य है और देशकाल तथा व्यक्तिगत परिस्थितियों से प्रभावित होता है तो प्रश्न उपस्थित होता है कि किस स्थिति में किस प्रकार का आचरण किया जाए, इसका निश्चय कैसे किया जाए ? जैन विचारणा कहती है नैतिक आचरण के क्षेत्र

में उत्सर्ग मार्ग सामान्य मार्ग है, जिस पर सामान्य अवस्था में हर एक साधक को चलना होता है। जब तक देशकाल और वैयक्तिक दृष्टि से कोई विशेष परिस्थिति उत्पन्न नहीं हो जाती है तब तक प्रत्येक व्यक्ति को इस सामान्य मार्ग पर ही चलना होता है, लेकिन विशेष अपरिहार्य परिस्थितियों में वह अपवाद मार्ग पर चल सकता है। लेकिन यहाँ भी यह प्रश्न उपस्थित होता है कि इसका निर्णय कौन करे कि किस परिस्थिति में अपवाद मार्ग का सेवन किया जा सकता है। यदि इसके निर्णय करने का अधिकार स्वयं व्यक्ति को दे दिया जाता है तो फिर नैतिक जीवन में समरूपता और वस्तुनिष्ठता (Objectivity) का अभाव होगा, हर एक व्यक्ति अपनी इच्छाओं के वशीभूत हो अपवाद मार्ग का सहारा लेगा। जैन विचारणा इस क्षेत्र में व्यक्ति को अधिक स्वतन्त्र नहीं छोड़ती है। वह नैतिक प्रत्ययों को इतना अधिक व्यक्तिनिष्ठ (Subjective) नहीं बना देना चाहती है कि प्रत्येक व्यक्ति द्वारा उनको मनमाना रूप दिया जा सके। जैन विचारणा नैतिक मर्यादाओं को यद्यपि इतना कठोर भी नहीं बनाती कि व्यक्ति उनके अन्दर स्वतन्त्रतापूर्वक विचरण नहीं कर सके लेकिन वे इतनी अधिक लचीली भी नहीं है कि व्यक्ति अपनी इच्छानुसार उन्हें मोड़ दे। उपाध्याय अमरमुनिजी के शब्दों में "जैन विचारणा में नैतिक मर्यादाएँ उस खण्डहर दुर्ग के समान नहीं हैं, जिसमें विचरणा की पूर्ण स्वतन्त्रता तो होती है, लेकिन शत्रु के प्रविष्ट होने का भय सदा बना होता है, वरन् सुदृढ़ चारदीवारियों से युक्त उस दुर्ग के समान है जिसके अन्दर व्यक्ति को विचरण की एक सीमित स्वतन्त्रता होती है। जैनदर्शन के अनुसार नैतिकता के इस दुर्ग में द्वारपाल के स्थान पर "गीतार्थ" होता है जो देश, काल एवं वैयक्तिक परिस्थितियों को समझने में समर्थ हो। जैनागमों में गीतार्थ के सम्बन्ध में कहा गया है, "गीतार्थ वह है जिसे कर्तव्य और अकर्तव्य के लक्षणों का यथार्थरूपेण ज्ञान है।²² जो आय-व्यय, कारण-अकारण, अगाढ़ (रोगी, वृद्ध) - अनागाढ़, वस्तु-अवस्तु, युक्त-अयुक्त, समर्थ-असमर्थ, यतना-अयतना का सम्यग्ज्ञान रखता है, साथ ही समस्त कर्तव्य कर्म के परिणामों को भी जानता है वही विधिवान् गीतार्थ है।"²³ यद्यपि जैन नैतिक विचारणा के अनुसार परिस्थिति विशेष में कर्तव्याकर्तव्य का निर्धारण गीतार्थ करता है लेकिन उसके मार्ग निर्देशक के रूप में आगम ग्रन्थ ही होते हैं। यहाँ पर जैन नैतिकता की जो विशेषता हमें देखने को मिलती है वह यह है कि वह न तो एकान्त रूप से शास्त्रों को ही सारे विधि-निषेध का आधार बनाती है और न व्यक्ति को ही। उसमें शास्त्र मार्गदर्शन है लेकिन निर्णायक नहीं। व्यक्ति किसी परिस्थिति विशेष में क्या कर्तव्य है और क्या अकर्तव्य है इसका निर्णय तो ले सकता है लेकिन उसके निर्णय में शास्त्र ही उसका मार्गदर्शक होता है।

सन्दर्भ

1. "Act only on that maxim (Principle) which thou canst at the same time will to become a Universal Law."
Fundamental Principles of the Metaphysics of Morals, Sec.II
2. Leviathan, Part II, Chapt. 27, p.13 (Morley's Universal Library edition) -- Hobbes.

3. Thus to save a life it may not only be allowable but a duty to steal.

Mill -- Utilitarianism, Chap. 5, p.95 (15th Ed.)

4. नैतिक जीवन के सिद्धान्त (हिन्दी अनुवाद), पृ० 59
5. विशेष विवेचन के लिये देखिए -- तिलक का गीता रहस्य, कर्म जिज्ञासा, अध्याय 1 ।
6. अनेकान्तोप्यनेकान्तः प्रमाण-नय साधनात् ।
अनेकान्तः प्रमाणात् ते तदेकान्तोऽर्पितात् नयात् ।।
- स्वयंभूस्तोत्र, अरजिनस्तवन-18
7. गहना कर्मणो गतिः -- गीता, 4/17
8. (क) जे आसवा ते परिससवा जे परिससवा ते आसवा ।
-- आचारांग, 1/4/2/130
(ख) य एवासवा कर्मबन्धस्थानानि त एव परिससवा कर्मनिर्जरा स्पदानि ।
-- आचार्य शीलांक आचारांग टीका 1/4/2/130
9. यस्मिन् देशे काले यो धर्मो भवति स निमित्तान्तरेषु अधर्मो भवत्येव ।।
- उद्धृत अमर भारती (मई 1964), पृ० 15
10. Every act has of course, many sides, many relations, many points of view from which it may be regarded, and so many qualities there is not the smallest difficulty in exhibiting it as the realization of either right or wrong. No act in the world is without some side capable of being subsumed under a good rule.
-- Ethical Studies (1962), p. 196.
11. आचारांगसूत्र हिन्दी टीका, प्रथम भाग, पृ० 378, संस्करण 1963
12. उत्पद्यते हि सावस्था देशकालामयान् प्रति ।
यस्यामकार्यं कार्यं स्यात् कर्म कार्यं च वर्ज्यते ।।
- अष्टकप्रकरण, 27/5 टीका (उद्धृत अमर भारती, फरवरी, 1965)
13. न वि किंचि अगुणात्, पडिसिद्धं वावि जिणवरिदेहिं ।
तिथ्यगराणं आणा, कज्जे सच्च्रेण होयव्वं ।।
- उपदेशपद, 779
14. देशं कालं पुरुषमवस्थामुपघात शुद्धपरिणामान् ।
प्रसमीक्ष्य भवति कल्प्यं, नैकान्तात्कल्प्यते कल्प्यम् ।। 146
-- उमास्वाति प्रशमरति-146 (अमर भारती, फरवरी 1965)
15. अमर भारती, फरवरी, 1965, पृ० 5
16. वही, मार्च 1965, पृ० 38
17. ए० ब्रेडले -- एपिकल स्टडीज, पृ० 189
18. एस धम्मे सुद्धे निति ए सासए । -- आचारांग 1/4/1/127

19. विशेष द्रष्टव्य -- उत्तराध्ययनसूत्र, अध्याय 23
20. महावीर की प्रथम स्त्री शिष्या महासती चन्दनबाला की माता धारिणी के द्वारा अपने सतीत्व की रक्षा के लिए की गई आत्महत्या को जैन विचारणा में अनुमोदित ही किया गया है। इसी प्रकार महाराजा चेटक के द्वारा न्याय की रक्षा के लिए लड़े गये युद्ध के आधार पर उनके अहिंसा के व्रत को खण्डित नहीं माना गया है।
21. शर्मा, ईश्वरचन्द्र -- पाश्चात्य आचारशास्त्र का आलोचनात्मक अध्ययन, पृ० 139
22. (अ) अधिगत निशीथादिश्रुत सूत्रार्थ
(ब) गीतो-विज्ञातो कृत्याकृत्य लक्षणोऽर्थो येन स गीतार्थः ।
- अभिधानराजेन्द्रकोष, खण्ड 3
23. आयं कारणं गाढं, वत्थु जुत्तं ससत्ति जयणं च ।
सव्वं च सपडिवक्खं, फलं च विधिवं वियाणाह ॥
- बृहत्कल्पनिर्युक्तिभाष्य-951



सदाचार के शाश्वत मानदण्ड और जैनधर्म

- प्रो० सागरमल जैन

सदाचार और दुराचार का अर्थ

जब हम सदाचार के किसी शाश्वत मानदण्ड को जानना चाहते हैं, तो सबसे पहले हमें यह देखना होगा कि सदाचार का तात्पर्य क्या है और किसे हम सदाचार कहते हैं ? शाब्दिक व्युत्पत्ति की दृष्टि से सदाचार शब्द सत्+आचार इन दो शब्दों से मिलकर बना है, अर्थात् जो आचरण सत् (Right) या उचित है वह सदाचार है। फिर भी यह प्रश्न बना रहता है कि सत् या उचित आचरण क्या है ? यद्यपि हम आचरण के कुछ प्रारूपों को सदाचार और कुछ प्रारूपों को दुराचार कहते हैं किन्तु मूल प्रश्न यह है कि वह कौन-सा तत्त्व है जो किसी आचरण को सदाचार या दुराचार बना देता है। हम अक्सर यह कहते हैं कि झूठ बोलना, चोरी करना, हिंसा करना, व्यभिचार करना आदि दुराचार है और करुणा, दया, सहानुभूति, ईमानदारी, सत्यवादिता आदि सदाचार हैं, किन्तु वह आधार कौन-सा है, जो प्रथम प्रकार के आचरणों को दुराचार और दूसरे प्रकार के आचरणों को सदाचार बना देता है। चोरी या हिंसा क्यों दुराचार है और ईमानदारी या सत्यवादिता क्यों सदाचार है ? यदि हम सत् या उचित के अंग्रेजी पर्याय Right पर विचार करते हैं तो यह शब्द लैटिन शब्द Rectus से बना है, जिसका अर्थ होता है नियमानुसार, अर्थात् जो आचरण नियमानुसार है, वह सदाचार है और जो नियमविरुद्ध है, वह दुराचार है। यहाँ नियम से तात्पर्य सामाजिक एवं धार्मिक नियमों या परम्पराओं से है। भारतीय परम्परा में भी सदाचार शब्द की ऐसी ही व्याख्या मनु-स्मृति में उपलब्ध होती है, मनु लिखते हैं --

तस्मिन्देशे य आचारः पारम्पर्यक्रमागतः ।

वर्णानां सान्तरालानां स सदाचार उच्यते ॥ 2/18

अर्थात् जिस देश, काल और समाज में जो आचरण परम्परा से चला आता है वही सदाचार कहा जाता है। इसका अर्थ यह हुआ कि जो परम्परागत आचार के नियम हैं, उनका पालन करना ही सदाचार है। दूसरे शब्दों में जिस देश, काल और समाज में आचरण की जो परम्पराएँ स्वीकृत रही हैं, उन्हीं के अनुसार आचरण सदाचार कहा जावेगा। किन्तु यह दृष्टिकोण समुचित प्रतीत नहीं होता है। वस्तुतः कोई भी आचरण किसी देश, काल और समाज में आचरित एवं अनुमोदित होने से सदाचार नहीं बन जाता।

कोई आचरण केवल इसलिए सत् या उचित नहीं होता है कि वह किसी समाज में स्वीकृत होता रहा है, अपितु वास्तविकता तो यह है कि वह इसलिए स्वीकृत होता रहा है

क्योंकि वह सत् है। किसी आचरण का सत् या असत् होना अथवा सदाचार या दुराचार होना स्वयं उसके स्वरूप पर निर्भर होता है न कि उसके आचरित अथवा अनाचरित होने पर। महाभारत में दुर्योधन ने कहा था--

जानामि धर्मं न च मे प्रवृत्तिः ।

जानाम्यधर्मं न च मे निवृत्तिः ॥ शान्तिपर्व

अर्थात् मैं धर्म को जानता हूँ किन्तु उस ओर प्रवृत्त नहीं होता, उसका आचरण नहीं करता। मैं अधर्म को भी जानता हूँ परन्तु उससे निवृत्त नहीं होता हूँ। अतः हम इस निष्कर्ष पर पहुँच सकते हैं कि किसी आचरण का सदाचार या दुराचार होना इस बात पर निर्भर नहीं है कि वह किसी वर्ग या समाज द्वारा स्वीकृत या अस्वीकृत होता रहा है। सदाचार और दुराचार की मूल्यवत्ता उनके परिणामों पर या उस साध्य पर निर्भर होती है, जिसके लिए उनका आचरण किया जाता है। आचरण की मूल्यवत्ता, स्वयं आचरण पर ही नहीं, अपितु उसके साध्य या परिणाम पर निर्भर होती है। किसी आचरण की मूल्यवत्ता का निर्धारण उसके समाज पर पड़ने वाले प्रभाव के आधार पर भी किया जाता है, फिर भी उसकी मूल्यवत्ता का अन्तिम आधार तो कोई आदर्श या साध्य पर ही विचार करना होगा जिसके आधार पर किसी कर्म को सदाचार या दुराचार की कोटि में रखा जाता है। वस्तुतः मानव-जीवन का परम साध्य ही वह तत्त्व है, जो सदाचार का मानदण्ड या कसौटी बनता है। पाश्चात्य आचार दर्शनों में सदाचार और दुराचार के जो मानदण्ड स्वीकृत रहे हैं उन्हें मोटे-मोटे रूप से दो भागों में बाँटा जाता है -- 1. नियमवादी और 2. साध्यवादी। नियमवादी परम्परा सदाचार और दुराचार का मानदण्ड सामाजिक अथवा धार्मिक नियमों को मानती है, जबकि साध्यवादी परम्परा सुख अथवा आत्म-पूर्णता को ही सदाचार और दुराचार की कसौटी मानती है।

जैन-दर्शन में सदाचार का मापदण्ड

जैन-दर्शन मानव के चरम साध्य के बारे में स्पष्ट है। उसके अनुसार व्यक्ति का चरम साध्य मोक्ष या निर्वाण की प्राप्ति है। वह यह मानता है कि जो आचरण निर्वाण या मोक्ष की दिशा में ले जाता है, वही सदाचार की कोटि में आता है। दूसरे शब्दों में जो आचरण मुक्ति का कारण है वह सदाचार है और जो आचरण बन्धन का कारण है, वह दुराचार है। किन्तु यहाँ पर हमें यह भी स्पष्ट करना होगा कि उसका मोक्ष अथवा निर्वाण से क्या तात्पर्य है ? जैनधर्म के अनुसार निर्वाण या मोक्ष स्वभाव-दशा एवं आत्मपूर्णता की प्राप्ति है। वस्तुतः हमारा जो निज स्वरूप है उसे प्राप्त कर लेना अथवा हमारी बीजरूप क्षमताओं को विकसित कर आत्मपूर्णता की प्राप्ति ही मोक्ष है। उसकी पारम्परिक शब्दावली में परभाव से हटकर स्वभाव में स्थित हो जाना ही मोक्ष है। यही कारण था कि जैन-दर्शनिकों ने धर्म की एक विलक्षण एवं महत्त्वपूर्ण परिभाषा दी है। उनके अनुसार धर्म वह है जो वस्तु का निज स्वभाव है (वस्तुसहायो धम्मो)। व्यक्ति का धर्म या साध्य वही हो सकता है जो उसकी चेतना या आत्मा का निज स्वभाव है और जो हमारा निज स्वभाव है उसे पा लेना ही मुक्ति है। अतः उस स्वभाव दशा की ओर ले जाने वाला आचरण ही सदाचारण कहा जा सकता है।

पुनः प्रश्न यह उठता है कि हमारा स्वभाव क्या है ? भगवती-सूत्र में गौतम ने भगवान महावीर के सम्मुख यह प्रश्न उपस्थित किया था। वे पूछते हैं -- हे भगवन् ! आत्मा का निज स्वरूप क्या है और आत्मा का साध्य क्या है ? महावीर ने उनके इन प्रश्नों का जो उत्तर दिया था, वह आज भी समस्त जैन आचार-दर्शन में किसी कर्म के नैतिक मूल्यांकन का आधार है। महावीर ने कहा था -- आत्मा समत्व स्वरूप है और उस समत्व स्वरूप को प्राप्त कर लेना ही आत्मा का साध्य है। दूसरे शब्दों में समता या समभाव स्वभाव है और विषमता विभाव है और विभाव से स्वभाव की दिशा में अथवा विषमता से समता की ओर ले जाने वाला आचरण ही सदाचार है। संक्षेप में जैनधर्म के अनुसार सदाचार या दुराचार का शाश्वत मानदण्ड समता एवं विषमता अथवा स्वभाव एवं विभाव है। स्वभाव दशा से फलित होने वाला आचरण सदाचार है और विभाव-दशा या पर-भाव से फलित होने वाला आचरण दुराचार है।

यहाँ हमें समता के स्वरूप पर भी विचार कर लेना होगा। यद्यपि द्रव्यार्थिकनय की दृष्टि से समता का अर्थ पर-भाव से हटकर शुद्ध स्वभाव दशा में स्थित हो जाना है किन्तु अपनी विविध अभिव्यक्तियों की दृष्टि से विभिन्न स्थितियों में इसे विभिन्न नामों से पुकारा जाता है। आध्यात्मिक दृष्टि से समता या समभाव का अर्थ राग-द्वेष से ऊपर उठकर वीतरागता या अनासक्त भाव की उपलब्धि है। मनोवैज्ञानिक दृष्टि से मानसिक समत्व का अर्थ है समस्त इच्छाओं, आकांक्षाओं से रहित मन की शान्त एवं विशोभ (तनाव) रहित अवस्था। यही समत्व जब हमारे सामुदायिक या सामाजिक जीवन में फलित होता है तो इसे हम अहिंसा के नाम से अभिहित करते हैं। वैचारिक दृष्टि से इसे हम अनाग्रह या अनेकान्त दृष्टि कहते हैं। जब हम इसी समत्व के आर्थिक पक्ष पर विचार करते हैं तो इसे अपरिग्रह के नाम से पुकारते हैं -- 'साम्यवाद' एवं 'न्यासी सिद्धान्त' इसी अपरिग्रह-वृत्ति की आधुनिक अभिव्यक्तियाँ हैं। यह समत्व ही मानसिक क्षेत्र में अनासक्ति या वीतरागता के रूप में, सामाजिक क्षेत्र में अहिंसा के रूप में, वैचारिकता के क्षेत्र में अनाग्रह या अनेकान्त के रूप में और आर्थिक क्षेत्र में अपरिग्रह के रूप में अभिव्यक्त होता है। अतः समत्व को निर्विवाद रूप से सदाचार का मानदण्ड स्वीकार किया जा सकता है। किन्तु "समत्व" को सदाचार का मानदण्ड स्वीकार करते हुए भी हमें उसके विविध पहलुओं पर विचार तो करना ही होगा क्योंकि सदाचार का सम्बन्ध अपने साध्य के साथ-साथ उन साधनों से भी होता है जिसके द्वारा हम उसे पाना चाहते हैं और जिस रूप में वह हमारे व्यवहार में और सामुदायिक जीवन में प्रकट होता है।

जहाँ तक व्यक्ति के चैत्तासिक या आन्तरिक समत्व का प्रश्न है हम उसे वीतराग मनोदशा या अनासक्त चित्तवृत्ति की साधना मान सकते हैं। फिर भी समत्व की साधना का यह रूप हमारे वैयक्तिक एवं आन्तरिक जीवन से अधिक सम्बन्धित है। वह व्यक्ति की मनोदशा का परिचायक है। यह ठीक है कि व्यक्ति की मनोदशा का प्रभाव उसके आचरण पर भी होता है और हम व्यक्ति के आचरण का मूल्यांकन करते समय उसके इस आन्तरिक पक्ष पर विचार भी करते हैं किन्तु सदाचार या दुराचार का यह प्रश्न हमारे व्यवहार के बाह्य पक्ष एवं सामुदायिकता के साथ अधिक जुड़ा हुआ है। जब भी हम सदाचार एवं दुराचार के किसी

मानदण्ड की बात करते हैं तो हमारी दृष्टि व्यक्ति के आचरण के बाह्य पक्ष पर अथवा उस आचरण का दूसरों पर क्या प्रभाव या परिणाम होता है, इस बात पर अधिक होती है। सदाचार या दुराचार का प्रश्न केवल कर्ता के आन्तरिक मनोभावों या वैयक्तिक जीवन से तो सम्बन्धित नहीं है, वह आचरण के बाह्य प्रारूप तथा हमारे सामाजिक जीवन में उस आचरण के परिणामों पर भी विचार करता है। यहाँ हमें सदाचार और दुराचार की व्याख्या के लिए कोई ऐसी कसौटी खोजनी होगी जो आचार के बाह्य पक्ष अथवा हमारे व्यवहार के सामाजिक पक्ष को भी अपने में समेट सके। सामान्यतया भारतीय चिन्तन में इस सम्बन्ध में एक सर्वमान्य दृष्टिकोण यह है कि परोपकार ही पुण्य है और पर-पीड़ा ही पाप है। तुलसीदास ने इसे निम्न शब्दों में प्रकट किया है --

"परहित सरिस धरम नहीं भाई। पर-पीड़ा सम नहीं अधमाई।।"

अर्थात् वह आचरण जो दूसरों के लिए कल्याणकारी या हितकारी है सदाचार है, पुण्य है और जो दूसरों के लिए अकल्याणकर है, अहितकर है, पाप है, दुराचार है। जैनधर्म में सदाचार के एक ऐसे ही शाश्वत मानदण्ड की चर्चा हमें आचारांग-सूत्र में उपलब्ध होती है। वहाँ कहा गया है -- "भूतकाल में जितने अर्हत हो गये हैं, वर्तमान काल में जितने अर्हत हैं और भविष्य में जितने अर्हत होंगे वे सभी यह उपदेश करते हैं कि सभी प्राणी, सभी भूतों, सभी जीवों और सभी सत्त्वों को किसी प्रकार का परिताप, उद्वेग या दुःख नहीं देना चाहिए, न किसी का हनन करना चाहिए। यही शुद्ध नित्य और शाश्वत धर्म है।" किन्तु मात्र दूसरे की हिंसा नहीं करने के रूप में अहिंसा के निषेधात्मक पक्ष को या दूसरों के हित-साधन को ही सदाचार की कसौटी नहीं माना जा सकता है। ऐसी अवस्थाएँ तब सम्भव हैं कि जबकि मेरे असत्य सम्भाषण एवं अनैतिक आचरण के द्वारा दूसरों का हित-साधन होता हो, अथवा कम से कम किसी का अहित न होता हो, किन्तु क्या हम ऐसे आचरण को सदाचार कहने का साहस कर सकेंगे ? क्या वेश्यावृत्ति के माध्यम से अपार धनराशि एकत्र कर उसे लोकहित के लिए व्यय करने मात्र से कोई स्त्री सदाचारी की कोटि में आ सकेगी ? क्या यौन-वासना की संतुष्टि के वे रूप जिसमें किसी भी दूसरे प्राणी की प्रकट में हिंसा नहीं होती है, दुराचार की कोटि में नहीं आवेंगे ? सूत्र-कृतांग में सदाचारिता का एक ऐसा ही दावा अन्य तैथिकों द्वारा प्रस्तुत भी किया गया था, जिसे भगवान महावीर ने अमान्य कर दिया था। क्या हम उस व्यक्ति को, जो डाके डालकर उस सम्पत्ति को गरीबों में वितरित कर देता है, सदाचारी मान सकेंगे ? एक चोर और एक सन्त दोनों ही व्यक्ति को सम्पत्ति के पाश से मुक्त करते हैं फिर भी दोनों समान कोटि के नहीं माने जाते। वस्तुतः सदाचार या दुराचार का निर्णय केवल एक ही आधार पर नहीं होता है। उसमें आचरण का प्रेरक आन्तरिक पक्ष अर्थात् कर्ता की मनोदशा और आचरण का बाह्य परिणाम अर्थात् सामाजिक जीवन पर उसका प्रभाव दोनों ही विचारणीय हैं। आचार की शुभाशुभता, विचार पर और विचार या मनोभावों की शुभाशुभता, स्वयं व्यवहार पर निर्भर करती है। सदाचार या दुराचार का मानदण्ड तो ऐसा चाहिए जो इन दोनों को समाविष्ट कर सके।

साधारणतया जैनधर्म सदाचार का शाश्वत मानदण्ड अहिंसा को स्वीकार करता है, किन्तु यहाँ हमें यह विचार करना होगा कि क्या केवल किसी को दुःख या पीड़ा नहीं देना या किसी की हत्या नहीं करना, मात्र यही अहिंसा है। यदि अहिंसा की मात्र इतनी ही व्याख्या है, तो फिर वह सदाचार और दुराचार का मानदण्ड नहीं बन सकती, यद्यपि जैन आचार्यों ने सदैव ही उसे सदाचार का एकमात्र आधार प्रस्तुत किया है। आचार्य अमृतचन्द्र ने कहा है कि अनृतवचन, स्तेय, मैथुन, परिग्रह आदि पापों के जो भिन्न-भिन्न नाम दिये गये वे तो केवल शिष्य-बोध के लिए हैं, मूलतः तो वे सब हिंसा ही है (पुरुषार्थ सिद्ध्युपाय)। वस्तुतः जैन आचार्यों ने अहिंसा को एक व्यापक परिप्रेक्ष्य में विचारा है। वह आन्तरिक भी है और बाह्य भी। उसका सम्बन्ध व्यक्ति से भी है और समाज से भी। हिंसा को जैन-परम्परा में स्व की हिंसा और पर की हिंसा ऐसे दो भागों में बाँटा गया है। जब वह हमारे स्व-स्वरूप या स्वभाव दशा का घात करती है तो स्व-हिंसा है और जब दूसरों के हितों को चोट पहुँचाती है, तो वह पर की हिंसा है। स्व की हिंसा के रूप में वह आन्तरिक पाप है, तो पर की हिंसा के रूप में वह सामाजिक पाप। किन्तु उसके ये दोनों रूप दुराचार की कोटि में ही आते हैं। अपने इस व्यापक अर्थ में हिंसा को दुराचार की और अहिंसा को सदाचार की कसौटी माना जा सकता है।

सदाचार के शाश्वत मानदण्ड की समस्या

यहाँ यह प्रश्न उपस्थित होता है कि क्या सदाचार का कोई शाश्वत मानदण्ड हो सकता है। वस्तुतः सदाचार और दुराचार के मानदण्ड का निश्चय कर लेना इतना सहज नहीं है। यह सम्भव है कि जो आचरण किसी परिस्थिति विशेष में सदाचार कहा जाता है, वही दूसरी परिस्थिति में दुराचार बन जाता है और जो सामान्यतया दुराचार कहे जाते हैं वे किसी परिस्थिति विशेष में सदाचार हो जाते हैं। शील रक्षा हेतु की जाने वाली आत्महत्या सदाचार की कोटि में आ जाती है जबकि सामान्य स्थिति में वह अनैतिक (दुराचार) मानी जाती है। जैन आचार्यों का तो यह स्पष्ट उद्घोष है -- "जे आसवा ते परिसवा, जे परिसवा ते आसवा", अर्थात् आचार के जो प्रारूप सामान्यतया बन्धन के कारण हैं, वे ही परिस्थिति विशेष में मुक्ति के साधन बन जाते हैं और इसी प्रकार सामान्य स्थिति में जो मुक्ति के साधन हैं, वे ही किसी परिस्थिति विशेष में बन्धन के कारण बन जाते हैं। प्रशमरतिप्रकरण (146) में उमास्वाति का कथन है --

देशं कालं पुरुषमवस्थामुपघातशुद्धपरिणामान् ।

प्रसमीक्ष्य भवति कल्प्यं नैकान्तात्कल्प्यते कल्प्यम् ॥

अर्थात् एकान्त रूप से न तो कोई कर्म आचरणीय होता है और न एकान्त रूप से अनाचरणीय होता है, वस्तुतः किसी कर्म की आचरणीयता और अनाचरणीयता देश, काल, व्यक्ति, परिस्थिति और मनःस्थिति पर निर्भर होती है। महाभारत में भी इसी दृष्टिकोण का समर्थन किया गया है, उसमें लिखा है--

स एव धर्मः सोऽधर्मो देशकाले प्रतिष्ठितः ।

आदानमनृतं हिंसा धर्मो ह्यावस्थिकस्मृतः ॥ - शान्तिपर्व, 36/11

अर्थात् जो किसी देश और काल में धर्म (सदाचार) कहा जाता है, वही किसी दूसरे देश और काल में अधर्म (दुराचार) बन जाता है और जो हिंसा, झूठ, चौर्यकर्म आदि सामान्य अवस्था में अधर्म (दुराचार) कहे जाते हैं, वही किसी परिस्थिति विशेष में धर्म बन जाते हैं। वस्तुतः कभी-कभी ऐसी परिस्थितियाँ निर्मित हो जाती हैं, जब सदाचार, दुराचार की कोटि में और दुराचार, सदाचार की कोटि में होता है। द्रौपदी का पाँचों पांडवों के साथ जो पति-पत्नी का सम्बन्ध था फिर भी उसकी गणना सदाचारी सती स्त्रियों में की जाती है, जबकि वर्तमान समाज में इस प्रकार का आचरण दुराचार ही कहा जावेगा। किन्तु क्या इस आधार पर हम यह निष्कर्ष निकाल सकते हैं कि सदाचार-दुराचार का कोई शाश्वत मानदण्ड नहीं हो सकता है। वस्तुतः सदाचार या दुराचार के किसी मानदण्ड का एकान्त रूप से निश्चय कर पाना कठिन है। जो बाहर नैतिक दिखाई देता है, वह भीतर से अनैतिक हो सकता है और जो बाहर से अनैतिक दिखाई देता है, वह भीतर से नैतिक हो सकता है। एक ओर तो व्यक्ति की आन्तरिक मनोवृत्तियाँ और दूसरी ओर जागतिक परिस्थितियाँ किसी कर्म की नैतिक मूल्यवत्ता को प्रभावित करती रहती हैं। अतः इस सम्बन्ध में कोई एकान्त नियम कार्य नहीं करता है। हमें उन सब पहलुओं पर भी ध्यान देना होता है जो कि किसी कर्म की नैतिक मूल्यवत्ता को प्रभावित कर सकते हैं। जैन विचारकों ने सदाचार या नैतिकता के परिवर्तनशील और अपरिवर्तनशील अथवा सापेक्ष और निरपेक्ष दोनों पक्षों पर विचार किया है।

सदाचार के मानदण्ड की परिवर्तनशीलता का प्रश्न

वस्तुतः सदाचार के मानदण्डों में परिवर्तन देशिक और कालिक आवश्यकता के अनुरूप होता है। महाभारत में कहा गया है कि --

अन्ये कृतयुगे धर्मस्त्रेतायां द्वपरेऽपरे ।

अन्ये कलियुगे नृणां युग हासानुरूपतः ।। शान्तिपर्व, 260/8

युग के हास के अनुरूप सतयुग, त्रेता, द्वपर और कलियुग के धर्म अलग-अलग होते हैं। यह परिस्थितियों के परवर्तन से होने वाला मूल्य परिवर्तन एक प्रकार का सापेक्षिक परिवर्तन ही होगा। यह सही है कि मनुष्य को जिस विश्व में जीवन जीना होता है वह परिस्थिति निरपेक्ष नहीं है। दैशिक एवं कालिक परिस्थितियों के परिवर्तन हमारी सदाचार सम्बन्धी धारणाओं को प्रभावित करते हैं। दैशिक और कालिक परिवर्तन के कारण यह सम्भव है कि जो कर्म एक देश और काल में विहित हों, वहीं दूसरे देश और काल में अविहित हो जावें। अष्टकप्रकरण की टीका (27/5) में कहा गया है --

उत्पद्यते ही साऽवस्था देशकालाभ्यान् प्रति ।

यस्यामकार्यं कार्यं स्यात् कर्म कार्यं च वज्रियेत् ।।

दैशिक और कालिक स्थितियों के परिवर्तन से ऐसी अवस्था उत्पन्न हो जाती है, जिसमें कार्य, अकार्य की कोटि में और अकार्य, कार्य की कोटि में आ जाता है, किन्तु यह अवस्था सामान्य अवस्था नहीं, अपितु कोई विशिष्ट अवस्था होती है, जिसे हम आपवादिक

अवस्था के रूप में जानते हैं, किन्तु आपवादिक स्थिति में होने वाला यह परिवर्तन सामान्य स्थिति में होने वाले मूल्य परिवर्तन से भिन्न स्वरूप का होता है। उसे वस्तुतः मूल्य परिवर्तन कहना भी कठिन है। इसमें जिन मूल्यों का परिवर्तन होता है, वे मुख्यतः साधन मूल्य होते हैं। क्योंकि साधन मूल्य आचरण से सम्बन्धित होते हैं और आचरण परिस्थिति निरपेक्ष नहीं हो सकता। अतः उसमें परिस्थितियों के परिवर्तन के साथ परिवर्तन होता रहता है। इस प्रकार साधन परम आचरण के नैतिक मानदण्ड परिवर्तित होते रहते हैं।

दूसरे, व्यक्ति को समाज में जीवन जीना होता है और समाज परिस्थिति निरपेक्ष नहीं होता है अतः सामाजिक नैतिकता अपरिवर्तनीय नहीं कही जा सकती, उसमें देशकालगत परिवर्तनों का प्रभाव पड़ता है किन्तु उसकी यह परिवर्तनशीलता भी देशकाल सापेक्ष ही होती है। वस्तुतः किसी परिस्थिति में किसी एक साध्य का नैतिक मूल्य इतना प्रधान हो जाता है कि उसकी सिद्धि के लिए किसी दूसरे नैतिक मूल्य का निषेध आवश्यक हो जाता है जैसे अन्याय के प्रतिकार के लिए हिंसा। किन्तु यह निषेध परिस्थिति विशेष तक ही सीमित रहता है। उस परिस्थिति के सामान्य होने पर धर्म पुनः धर्म बन जाता है और अधर्म, अधर्म बन जाता है। वस्तुतः आपवादिक अवस्था में कोई एक मूल्य इतना प्रधान प्रतीत होता है कि उसकी उपलब्धि के लिए हम अन्य मूल्यों की उपेक्षा कर देते हैं अथवा कभी-कभी सामान्य रूप से स्वीकृत उसी मूल्य के विरोधी तथ्य को हम उसका साधन बना लेते हैं। उदाहरण के लिए जब हमें जीवन रक्षण ही एकमात्र मूल्य प्रतीत होता है तो उस अवस्था में हम हिंसा, असत्य-भाषण, चोरी आदि को अनैतिक नहीं मानते हैं। इस प्रकार अपवाद की अवस्था में एक मूल्य साध्य स्थान पर चला जाता है और अपने साधनों को मूल्यवत्ता प्रदान करता प्रतीत होता है, किन्तु यह मूल्य भ्रम ही है, उस समय भी चोरी या हिंसा मूल्य नहीं बन जाते हैं क्योंकि उनका स्वतः कोई मूल्य नहीं है, वे तो उस साध्य की मूल्यवत्ता के कारण मूल्य के रूप में प्रतीत या आभासित होते हैं। इसका यह अर्थ कदापि नहीं है कि अहिंसा के स्थान पर हिंसा या सत्य के स्थान पर असत्य नैतिक मूल्य बन जाते हैं। साधुजन की रक्षा के लिए दुष्टजन की हिंसा की जा सकती है किन्तु इससे हिंसा मूल्य नहीं बन जाती है। किसी प्रत्यय की नैतिक मूल्यवत्ता उसके किसी परिस्थिति विशेष में आचरित होने या नहीं होने से अप्रभावित भी रह सकती है। प्रथम तो यह कि अपवाद की मूल्यवत्ता केवल उस परिस्थिति विशेष में ही होती है, उसके आधार पर सदाचार का कोई सामान्य नियम नहीं बनाया जा सकता। साथ ही जब व्यक्ति आपद्धर्म का आचरण करता है तब भी उसकी दृष्टि में मूल नैतिक नियम या सदाचार की मूल्यवत्ता अक्षुण्ण बनी रहती है। यह तो परिस्थितिगत या व्यक्तिगत विवशता है, जिसके कारण उसे वह आचरण करना पड़ रहा है। दूसरे सार्वभौम नियम में और अपवाद में अन्तर है। अपवाद की यदि कोई मूल्यवत्ता है, तो वह केवल विशिष्ट परिस्थिति में ही रहती है, जबकि सामान्य नियम की मूल्यवत्ता सार्वदेशिक, सार्वकालिक और सार्वजनीन होती है। अतः आपद्धर्म या अपवाद मार्ग की स्वीकृति जैनधर्म में मूल्य परिवर्तन की सूचक नहीं है। यह सामान्यतया किसी मूल्य को न तो निर्मूल्य करती है और न मूल्य संस्थान में उसे अपने स्थान से पदच्युत ही करती है, अतः वह मूल्यान्तरण भी नहीं है।

नैतिक कर्म के दो पक्ष होते हैं -- एक बाह्यपक्ष, जो आचरण के रूप में होता है और दूसरा आन्तरिक पक्ष, जो कर्ता के मनोभावों के रूप में होता है। अपवादमार्ग का सम्बन्ध केवल बाह्य पक्ष से होता है, अतः उससे किसी नैतिक मूल्य की मूल्यवत्ता प्रभावित नहीं होती है। कर्म का मात्र बाह्य पक्ष उसे कोई नैतिक मूल्य प्रदान नहीं करता है।

सदाचार के मानदण्डों की परिवर्तनशीलता का अर्थ

सदाचार के मानदण्डों की परिवर्तनशीलता पर विचार करते समय सबसे पहले हमें यह निश्चित कर लेना होगा कि उनकी परिवर्तनशीलता से हमारा क्या तात्पर्य है ? कुछ लोग परिवर्तनशीलता का अर्थ स्वयं सदाचार की मूल्यवत्ता की अस्वीकृति से लेते हैं। आज जब पाश्चात्य विचारकों के द्वारा नैतिक मूल्यों को सांवेगिक अभिव्यक्ति या वैयक्तिक एवं सामाजिक अनुमोदन एवं रुचि का पर्याय माना जा रहा हो, तब परिवर्तनशीलता का अर्थ स्वयं उनकी मूल्यवत्ता को नकारना ही होगा। आज सदाचार की मूल्यवत्ता स्वयं अपने अर्थ की तलाश कर रही है। यदि सदाचार की धारणा अर्थहीन है, मात्र सामाजिक अनुमोदन है, तो फिर उसकी परिवर्तनशीलता का भी कोई विशेष अर्थ नहीं रह जाता है क्योंकि यदि सदाचार के मूल्यों का यथार्थ एवं वस्तुगत अस्तित्व ही नहीं है, यदि वे मात्र मनोकल्पनाएँ हैं तो उनके परिवर्तन का ठोस आधार भी नहीं होगा ? दूसरे, जब हम सदाचार-दुराचार, शुभ-अशुभ अथवा औचित्य-अनौचित्य के प्रत्ययों को वैयक्तिक एवं सामाजिक अनुमोदन या पसन्दगी किंवा नापसन्दगी के रूप में देखते हैं तो उनकी परिवर्तनशीलता का अर्थ फैशन की परिवर्तनशीलता से अधिक नहीं रह जावेगा।

किन्तु क्या सदाचार की मूल्यवत्ता पर ही कोई प्रश्न चिन्ह लगाया जा सकता है ? क्या नैतिक मूल्यों की परिवर्तनशीलता फैशनों की परिवर्तनशीलता के समान है, जिन्हें जब चाहे तब और जैसा चाहे वैसा बदला जा सकता है। आयेँ जरा इन प्रश्नों पर थोड़ी गम्भीर चर्चा करें।

सर्वप्रथम तो आज जिस परिवर्तनशीलता की बात कही जा रही है, उससे तो स्वयं सदाचार के मूल्य होने में ही अनास्था उत्पन्न हो गई है। आज का मनुष्य अपनी पाशविक वासनाओं की पूर्ति के लिए विवेक एवं संयम की नियामक मर्यादाओं की अवहेलना को ही मूल्य परिवर्तन मान रहा है। क्यों के चिन्तन और साधना से फलित ये मर्यादाएँ आज उसे कारा लग रही हैं और इन्हें तोड़ फेंकने में ही उसे मूल्य-क्रान्ति परिलक्षित हो रही है। स्वतन्त्रता के नाम पर वह अतन्त्रता और अराजकता को ही मूल्य मान बैठा है, किन्तु यह सब मूल्य विभ्रम या मूल्य विपर्यय ही है जिसके कारण नैतिक मूल्यों के निर्मूल्यीकरण को ही परिवर्तन कहा जा रहा है। किन्तु हमें यह समझ लेना होगा कि मूल्य-संक्रमण या मूल्यान्तरण मूल्य-निषेध नहीं है। परिवर्तनशीलता का तात्पर्य स्वयं नीति के मूल्य होने में अनास्था नहीं है। यह सत्य है कि नैतिक मूल्यों में और नीति सम्बन्धी धारणाओं में परिवर्तन हुए हैं और होते रहेंगे, किन्तु मानव इतिहास में कोई भी काल ऐसा नहीं है, जब स्वयं नीति की मूल्यवत्ता को ही अस्वीकार किया गया हो। वस्तुतः नैतिक मूल्यों या सदाचार के मानदण्डों की परिवर्तनशीलता में भी कुछ ऐसा

अवश्य है, जो बना रहता है और वह है, स्वयं उनकी मूल्यवत्ता। नैतिक मूल्यों की विषयवस्तु बदलती रहती है, किन्तु उनका मूल आधार बना रहता है। मात्र इतना ही नहीं, कुछ मूल्य ऐसे भी हैं, जो अपनी मूल्यवत्ता को नहीं खोते हैं, मात्र उनकी व्याख्या के सन्दर्भ एवं अर्थ बदलते हैं।

आज स्वयं सदाचार या नैतिकता की मूल्यवत्ता के निषेध की बात दो दिशाओं से खड़ी हुई है एक और भौतिकवादी और साम्यवादी दर्शनों के द्वारा और दूसरी ओर पाश्चात्य अर्थ विश्लेषणवादियों के द्वारा। यह कहा जाता है कि वर्तमान में साम्यवादी-दर्शन नीति की मूल्यवत्ता को अस्वीकार करता है, किन्तु इस सम्बन्ध में स्वयं लेनिन का वक्तव्य दृष्टव्य है। वे कहते हैं -- "प्रायः यह कहा जाता है कि हमारा अपना कोई नीति-शास्त्र नहीं है, बहुधा मध्य वित्तीय वर्ग कहता है कि हम सब प्रकार के नीति-शास्त्र का खण्डन करते हैं, किन्तु उनका यह तरीका विचारों का भ्रष्ट करना है, श्रमिकों और कृषकों की आँख में धूल झाँकना है। हम उसका खण्डन करते हैं जो ईश्वरीय आदेशों से नीति-शास्त्र को आविर्भूत करता है। हम कहते हैं कि यह धोखाधड़ी है और श्रमिकों तथा कृषकों के मस्तिष्कों को पूँजीपतियों तथा भू-पतियों के स्वार्थ के लिए सन्देह में डालता है। हम कहते हैं कि हमारा नीति-शास्त्र सर्वहारा वर्ग के वर्ग संघर्ष के हितों के अधीन है, जो शोषक समाज को नष्ट करे, जो श्रमिकों को संगठित करे और साम्यवादी समाज की स्थापना करे, वही नीति है (शेष सब अनैति है)।" इस प्रकार साम्यवादी दर्शन नैतिक मूल्यों का मूल्यान्तरण तो करता है, किन्तु स्वयं नीति की मूल्यवत्ता का निषेध नहीं करता है। वह उस नीति का समर्थक है जो अन्याय एवं शोषण की विरोधी है और सामाजिक समता की संस्थापक है, जो पीड़ित और शोषित को अपना अधिकार दिलाती है और सामाजिक न्याय की स्थापना करती है। वह सामाजिक न्याय और आर्थिक समता की स्थापना को ही सदाचार का मानदण्ड स्वीकार करती है। अतः वह सदाचार और दुराचार की धारणा को अस्वीकार नहीं करती है।

वह भौतिकवादी दर्शन, जो सामाजिक एवं साहचर्य एवं साहचर्य के मूल्यों का समर्थक है, नीति की मूल्यवत्ता का निषेधक नहीं हो सकता है। यदि हम मनुष्य को एक विवेकवान सामाजिक प्राणी मानते हैं, तो हमें नैतिक मूल्यों को अवश्य स्वीकार करना होगा। वस्तुतः नीति का अर्थ है किन्हीं विवेकपूर्ण साध्यों की प्राप्ति के लिए वैयक्तिक और सामाजिक जीवन में आचार और व्यवहार के किन्हीं ऐसे आदर्शों एवं मर्यादाओं की स्वीकृति, जिसके अभाव में मानव की मानवता और मानवीय समाज का अस्तित्व ही खतरे में होगा, यदि नीति की मूल्यवत्ता का या सदाचार की धारणा का निषेध कोई दृष्टि कर सकती है तो वह मात्र पाशविक भोगवादी दृष्टि है, किन्तु यह दृष्टि मनुष्य को एक पशु से अधिक नहीं मानती है। यह सत्य है कि यदि मनुष्य मात्र पशु है तो नीति का, सदाचार का कोई अर्थ नहीं है, किन्तु क्या आज मनुष्य का अवमूल्यन पशु के स्तर पर किया जा सकता है ? क्या मनुष्य निरा पशु है ? यदि मनुष्य निरा पशु होता तो वह पूरी तरह प्राकृतिक नियमों से शासित होता और निश्चय ही उसके लिए सदाचार की कोई आवश्यकता नहीं होती। किन्तु आज का मनुष्य पूर्णतः प्राकृतिक नियमों से शासित नहीं है वह तो प्राकृतिक नियमों एवं मर्यादाओं की अवहेलना करता है। अतः

पशु भी नहीं है। उसकी सामाजिकता भी उसके स्वभाव से निसृत नहीं है, जैसी कि यूथचारी प्राणियों में होती है। उसकी सामाजिकता उसके बुद्धितत्त्व का प्रतिफल है, जैसी कि यूथचारी प्राणियों में होती है। उसकी सामाजिकता उसके बुद्धि तत्त्व का प्रतिफल है, वह विचार की देन है, स्वभाव की नहीं। यही कारण है कि वह समाज का और सामाजिक मर्यादाओं का सर्जक भी है और संहारक भी है, वह उन्हें स्वीकार भी करता है और उनकी अवहेलना भी करता है, अतः वह समाज से ऊपर भी है। ब्रेडले का कथन है कि यदि मनुष्य सामाजिक नहीं है तो वह मनुष्य ही नहीं है, किन्तु यदि वह केवल सामाजिक है तो वह पशु से अधिक नहीं है। मनुष्य की मनुष्यता उसके अति सामाजिक एवं नैतिक प्राणी होने में है। अतः मनुष्य के लिए सदाचार की मूल्यवत्ता की अस्वीकृति असम्भव है। यदि हम परिवर्तनशीलता के नाम पर स्वयं सदाचार की मूल्यवत्ता को ही अस्वीकार करेंगे तो वह मानवीय संस्कृति का ही अवमूल्यन होगा। मात्र अवमूल्यन ही नहीं, उसकी इतिश्री भी होगी।

पुनश्च सदाचार की धारणाओं को सांवेगिक अभिव्यक्ति या रुचि सापेक्ष मानने पर भी, न तो सदाचार की मूल्यवत्ता को निरस्त किया जा सकता है और न सदाचार एवं दुराचार के मानदण्डों को फैशनों के समान परिवर्तनशील माना जा सकता है। यदि सदाचार और दुराचार का आधार पसन्दगी या रुचि है तो फिर पसन्दगी या नापसन्दगी के भावों की उत्पत्ति का आधार क्या है ? क्यों हम चौर्य कर्म को नापसन्द करते हैं और क्यों ईमानदारी को पसन्द करते हैं ? सदाचार एवं दुराचार की व्याख्या मात्र पसन्दगी और नापसन्दगी के रूप में नहीं की जा सकती। मानवीय पसन्दगी या नापसन्दगी अथवा रुचि केवल मन की मौज या मन की तरंग (whim) पर निर्भर नहीं है। इन्हें पूरी तरह आत्मनिष्ठ (Subjective) नहीं माना जा सकता, इनके पीछे एक वस्तुनिष्ठ आधार भी होता है। आज हमें उन आधारों का अन्वेषण करना होगा, जो हमारी पसन्दगी और नापसन्दगी को बनाते या प्रभावित करते हैं। वे कुछ आदर्श, सिद्धान्त दृष्टियाँ या मूल्य-बोध हैं, जो हमारी पसन्दगी या नापसन्दगी को बनाते हैं और जिनके आधार पर हमारी रुचियाँ सृजित होती हैं। मानवीय रुचियाँ और मानवीय पसन्दगी या नापसन्दगी आकस्मिक एवं प्राकृतिक (Natural) नहीं है। जो तत्त्व इनको बनाते हैं, उनमें नैतिक मूल्य या सदाचार की अवधारणाएँ भी हैं। ये पूर्णतया व्यक्ति और समाज की रचना भी नहीं है, अपितु व्यक्ति के मूल्य संस्थान के बोध से भी उत्पन्न होती है। वस्तुतः मूल्यों की सत्ता अनुभव की पूर्ववर्ती है, मनुष्य मूल्यों का द्रष्टा है, सृजक नहीं। अतः पसन्दगी की इस धारणा के आधार पर स्वयं सदाचार की मूल्यवत्ता को निरस्त नहीं किया जा सकता है। दूसरे यदि हम औचित्य एवं अनौचित्य या सदाचार-दुराचार का आधार सामाजिक उपयोगिता को मानते हैं, तो यह भी ठीक नहीं है। मेरे व्यक्तिगत स्वार्थों से सामाजिक हित क्यों श्रेष्ठ एवं वरेण्य है ? इस प्रश्न का हमारे पास क्या उत्तर होगा ? सामाजिक हितों की वरेण्यता का उत्तर सदाचार के किसी शाश्वत मानदण्ड को स्वीकार किये बिना नहीं दिया जा सकता है। इस प्रकार परिवर्तनशीलता के नाम पर स्वयं सदाचार की मूल्यवत्ता पर प्रश्न चिन्ह नहीं लगाया जा सकता। सदाचार के मूल्यों के अस्तित्व की स्वीकृति में ही उनकी परिवर्तनशीलता का कोई अर्थ हो सकता है, उनके नकारने में नहीं है।

यहाँ हमें यह भी ध्यान रखना चाहिए कि समाज भी सदाचार के किसी मानदण्ड का सृजक नहीं है। अक्सर यह कहा जाता है कि सदाचार या दुराचार की धारणा समाज-सापेक्ष है। एक उर्दू के शायर ने कहा है--

बजा कहे आलम उसे बजा समझो।

जबानए खल्क को नक्कारए खुदा समझो।।

अर्थात् जिसे समाज उचित कहता है उसे उचित और जिसे अनुचित कहता है उसे अनुचित मानो क्योंकि समाज की आवाज ईश्वर की आवाज है। सामान्यतया सामाजिक मानदण्डों को सदाचार का मानदण्ड मान लिया जाता है किन्तु गम्भीरतापूर्वक विचार करने पर यह बात प्रामाणिक सिद्ध नहीं होती है। समाज किन्हीं आचरण के प्रारूपों को विहित या अविहित मान सकता है किन्तु सामाजिक विहितता और अविहितता नैतिक औचित्य या अनौचित्य से भिन्न है। एक कर्म अनैतिक होते हुए भी विहित माना जा सकता है अथवा नैतिक होते हुए भी अविहित माना जा सकता है। कंजर जाति में चोरी, आदिम कबीलों में नरबलि या मुस्लिम समाज में बहु-पत्नी प्रथा विहित है। राजपूतों में लड़की को जन्मते ही मार डालना कभी विहित रहा था। अनेक देशों में वेश्यावृत्ति, सम-लैंगिकता या मद्यपान आज भी विहित और वैधानिक है -- किन्तु क्या इन्हें नैतिक कहा जा सकता है। क्या आचार के ये रूप सदाचार की कोटि में जा सकते हैं ? गनता को, शासनतन्त्र की आलोचना को, अविहित एवं अवैधानिक माना जा सकता है, किन्तु इससे गन रहना या शासक वर्ग के गलत कार्यों की आलोचना करना अनैतिक मान लेने मात्र से वह सदाचार की कोटि में नहीं आ जाता। गर्भपात वैधानिक हो सकता है लेकिन नैतिक कभी नहीं। नैतिक मूल्यवत्ता निष्पक्ष विवेक के प्रकाश में आलोक्ति होती है। वह सामाजिक विहितता या वैधानिकता से भिन्न है। समाज किसी कर्म को विहित या अविहित बना सकता है, किन्तु उचित या अनुचित नहीं।

यद्यपि सदाचार के मानदण्डों में परिवर्तन होता है किन्तु उनकी परिवर्तनशीलता फैशनों की परिवर्तनशीलता के समान भी नहीं है, क्योंकि नैतिक मूल्य या सदाचार के मानदण्ड मात्र रुचि सापेक्ष न होकर स्वयं रुचियों के सृजक भी हैं। अतः जिस प्रकार रुचियाँ या तद्जनित फैशन बदलते हैं वैसे ही सदाचार के मानदण्ड नहीं बदलते हैं। यह सही है कि उनमें देश, काल एवं परिस्थितियों के आधार पर कुछ परिवर्तन होता है किन्तु फिर भी उनमें एक स्थायी तत्त्व होता है। अहिंसा, न्याय, आत्म-त्याग, संयम आदि अनेक नैतिक मूल्य या सदाचार के प्रत्यय ऐसे हैं, जिनकी मूल्यवत्ता सभी देशों एवं कालों में समान रूप से स्वीकृत रही है। यद्यपि इनमें अपवाद माने गये हैं, किन्तु अपवाद की स्वीकृति इनकी मूल्यवत्ता का निषेध नहीं होकर, वैयक्तिक असमर्थता अथवा परिस्थिति विशेष में उनकी सिद्धि की विवशता की ही सूचक है। अपवाद, अपवाद है, वह मूल नियम का निषेध नहीं है। जैन-दर्शन उत्सर्ग मार्ग और अपवाद-मार्ग का विधान करता है उसमें उत्सर्ग मार्ग को शाश्वत और अपवाद मार्ग को परिवर्तनशील मानता है। इस प्रकार कुछ नैतिक मूल्य या सदाचार की धारणाएँ अवश्य ही ऐसी हैं जो सार्वभौम और अपरिवर्तनीय हैं। प्रथमतः सदाचार की धारणाओं में बहुत ही कम

परिवर्तन होता है और यदि होता भी है तो कहीं अधिक स्वामित्व लिए हुए होता है। फैशन एक दशाब्दी से दूसरी दशाब्दी में ही नहीं, अपितु दिन-प्रतिदिन बदलते रहते हैं, किन्तु नैतिक मूल्य या सदाचार सम्बन्धी धारणाएँ इस प्रकार नहीं बदलती हैं। ग्रीक नैतिक मूल्यों का ईसाइयत के द्वारा तथा भारतीय वैदिक युग के मूल्यों का औपनिषदिक एवं जैन-बौद्ध संस्कृतियों के द्वारा आंशिक रूप से मूल्यान्तरण अवश्य हुआ है किन्तु श्रमण संस्कृति तथा जैनधर्म के द्वारा स्वीकृत मूल्यों का इन दो हजार वर्षों में भी मूल्यान्तरण नहीं हो सका है। इन्होंने सदाचार या दुराचार के जो मानदण्ड स्थिर किये थे वे आज भी स्वीकृत हैं। आज आमूल परिवर्तन के नाम पर उनके उखाड़ फेंकने की जो बात कही जा रही है, वह भ्रान्तिजनक ही है। मूल्य विश्व में आमूल परिवर्तन या निरपेक्ष परिवर्तन सम्भव ही नहीं होता है। नैतिक मूल्यों या सदाचार की धारणाओं के सन्दर्भ में जिस प्रकार का परिवर्तन होता है वह एक सापेक्ष और सीमित प्रकार का परिवर्तन है। इसमें दो प्रकार के परिवर्तन परिलक्षित होते हैं-- परिवर्तन का एक रूप वह होता है, जिसमें कोई नैतिक मूल्य विवेक के विकास के साथ व्यापक अर्थ ग्रहण करता जाता है तथा उसके पुराने अर्थ अनैतिक और नये अर्थ नैतिक माने जाने लगते हैं, जैसा कि अहिंसा और परार्थ के प्रत्ययों के साथ हुआ है। एक समय में इन प्रत्ययों का अर्थ विस्तार परिजनों, स्वजातियों एवं स्वधर्मियों तक सीमित था। आज वह राष्ट्रीयता या स्वराष्ट्र तक विकसित होता हुआ सम्पूर्ण मानव जाति एवं प्राणी जगत् तक अपना विस्तार पा रहा है। आत्मीय परिजनों, जाति बन्धुओं एवं सधर्मी बन्धुओं का हित साधन करना किसी युग में नैतिक माना जाता था किन्तु आज हम उसे भाई-भतीजावाद, जातिवाद एवं सम्प्रदायवाद कहकर अनैतिक मानते हैं। आज राष्ट्रीय हित साधन नैतिक माना जाता है, किन्तु आने वाले कल में यह भी अनैतिक माना जा सकता है। यही बात अहिंसा के प्रत्यय के साथ भी घटित हुई है, आदिम कबीलों में परिजनों की हिंसा ही हिंसा मानी जाती थी, आगे चलकर मनुष्य की हिंसा को हिंसा माना जाने लगा, वैदिक धर्म एवं यहूदी धर्म ही नहीं, ईसाई धर्म भी, अहिंसा के प्रत्यय को मानव जाति से अधिक अर्थ-विस्तार नहीं दे पाया, किन्तु वैष्णव परम्परा में अहिंसा का प्रत्यय प्राणी जगत् तक और जैन-परम्परा में वनस्पति जगत् तक अपना अर्थ-विस्तार पा गया। इस प्रकार नैतिक मूल्यों की परिवर्तनशीलता का एक अर्थ उनके अर्थों को विस्तार या संकोच देना भी है। इसमें मूलभूत प्रत्यय की मूल्यवत्ता बनी रहती है, केवल उसके अर्थ विस्तार या संकोच ग्रहण करते जाते हैं। नरबलि, पशुबलि या विधर्मी की हत्या हिंसा है या नहीं है ? इस प्रश्न के उत्तर लोगों के विचारों की भिन्नता से भिन्न-भिन्न हो सकते हैं, किन्तु इससे न्याय की मूल्यवत्ता समाप्त नहीं होती है। यौन नैतिकता के सन्दर्भ में भी इसी प्रकार का अर्थ-विस्तार या अर्थ-संकोच हुआ है। इसकी एक अति यह रही है कि एक ओर पर-पुरुष का दर्शन भी पाप माना गया तो दूसरी ओर स्वच्छन्द यौन सम्बन्धों को भी विहित माना गया। किन्तु इन दोनों अतियों के बावजूद भी पति-पत्नी सम्बन्ध में प्रेम, निष्ठा एवं त्याग के तत्त्वों की अनिवार्यता सर्वमान्य रही तथा संयम एवं ब्रह्मचर्य की मूल्यवत्ता पर कोई प्रश्नचिह्न नहीं लगाया गया।

नैतिक मूल्यों की परिवर्तनशीलता का एक रूप वह होता है, जिसमें किसी मूल्य की मूल्यवत्ता को अस्वीकार नहीं किया जाता, किन्तु उनका पदक्रम बदलता रहता है अर्थात् मूल्यों

का निर्मूल्यीकरण नहीं होता अपितु उनका स्थान संक्रमण होता है। किसी युग में जो नैतिक गुण प्रमुख माने जाते रहे हों, वे दूसरे युग में गौण हो सकते हैं और जो मूल्य गौण थे, वे प्रमुख हो सकते हैं। उच्च मूल्य निम्न स्थान पर तथा निम्न मूल्य उच्च स्थान पर या साध्य मूल्य साधन स्थान पर तथा साधन मूल्य साध्य स्थान पर आ-जा सकते हैं। कभी न्याय का मूल्य प्रमुख और अहिंसा का मूल्य गौण था -- न्याय की स्थापना के लिए हिंसा को विहित माना जाता था-- किन्तु जब अहिंसा का प्रत्यय प्रमुख बन गया तो अन्याय को सहन करना भी विहित माने जाने लगा। ग्रीक मूल्यों के स्थान पर ईसाइयत के मूल्यों की स्थापना में ऐसा ही परिवर्तन हुआ है। आज साम्यवादी-दर्शन सामाजिक न्याय के हेतु खूनी क्रान्ति की उपादेयता की स्वीकृति के द्वारा पुनः अहिंसा के स्थान पर न्याय को ही प्रमुख मूल्य के पद पर स्थापित करना चाहता है। किन्तु इसका अर्थ यह कभी नहीं है कि ग्रीक सभ्यता में या साम्यवादी-दर्शन में अहिंसा पूर्णतया निर्मूल्य है या ईसाइयत में न्याय का कोई स्थान ही नहीं है। मात्र होता यह है कि युग की परिस्थिति के अनुरूप मूल्य-विश्व के कुछ मूल्य उभरकर प्रमुख बन जाते हैं और दूसरे उनके परिपार्श्व में चले जाते हैं। मात्र इतना ही नहीं, कभी-कभी बाहर से परस्पर विरोध में स्थित दो मूल्य वस्तुतः विरोधी नहीं होते हैं -- जैसे न्याय और अहिंसा। कभी-कभी न्याय की स्थापना के लिए हिंसा का सहारा लिया जाता है, किन्तु इससे मूलतः वे परस्पर विरोधी नहीं कहे जा सकते हैं क्योंकि अन्याय भी तो हिंसा ही है। साम्यवाद और प्रजातन्त्र के राजनैतिक-दर्शनों का विरोध मूल्य-विरोध नहीं, मूल्यों की प्रधानता का विरोध है। साम्यवाद के लिए रोटी और सामाजिक न्याय प्रधान मूल्य है और स्वतन्त्रता गौण मूल्य है, जबकि प्रजातन्त्र में स्वतन्त्रता प्रधान मूल्य है और रोटी गौण मूल्य है। आज स्वच्छन्द यौनाचार का समर्थन भी संयम के स्थान पर स्वतन्त्रता (अतन्त्रता) को ही प्रधान मूल्य मानने के एक अतिवादी दृष्टिकोण का परिणाम है। सुखवाद और बुद्धिवाद का मूल्य-विवाद भी ऐसा ही है, न तो सुखवाद बुद्धितत्त्व को निर्मूल्य मानता है और न बुद्धिवाद सुख को निर्मूल्य मानता है। मात्र इतना ही है कि सुखवाद में सुख प्रधान मूल्य है और बुद्धि गौण मूल्य है जबकि बुद्धिवाद में विवेक प्रधान मूल्य है और सुख गौण मूल्य है। इस प्रकार मूल्य-परिवर्तन का अर्थ उनके तारतम्य में परिवर्तन है, जो कि एक प्रकार का सापेक्षिक परिवर्तन ही है।

कभी-कभी मूल्य विपर्यय को ही मूल्य परिवर्तन मानने की भूल की जाती है, किन्तु हमें यह ध्यान रखना होगा कि मूल्य विपर्यय मूल्य परिवर्तन नहीं है। मूल्य विपर्यय में हम अपनी चारित्रिक दुर्बलताओं को, जो कि वास्तव में मूल्य है ही नहीं, मूल्य मान लेते हैं -- जैसे स्वच्छन्द यौनाचार को नैतिक मान लेना। दूसरे यदि "काम" की मूल्यवत्ता के नाम पर कामुकता तथा रोटी की मूल्यवत्ता के नाम पर स्वाद-लोलुपता या पेटूपन का समर्थन किया जावे, तो यह मूल्य परिवर्तन नहीं होगा, मूल्य विपर्यय या मूल्याभास ही होगा, क्योंकि "काम" या "रोटी" मूल्य हो सकते हैं किन्तु "कामुकता" या "स्वादलोलुपता" किसी भी स्थिति में नैतिक मूल्य नहीं हो सकते हैं। इसी सन्दर्भ में हमें एक तीसरे प्रकार का मूल्य परिवर्तन परिलक्षित होता है जिसमें मूल्य-विश्व के ही कुछ मूल्य अपनी आनुषंगिकता के कारण नैतिक मूल्यों के वर्ग में सम्मिलित हो जाते हैं और कभी-कभी तो नैतिक जगत् के प्रमुख मूल्य या

नियामक मूल्य बन जाते हैं। अर्थ और काम ऐसे ही मूल्य हैं जो स्वरूपतः नैतिक मूल्य नहीं हैं फिर भी नैतिक मूल्यों के वर्ग में सम्मिलित होकर उनका नियमन और क्रम निर्धारण भी करते हैं। यह सम्भव है कि जो एक परिस्थिति में प्रधान मूल्य हो, वह दूसरी परिस्थिति में प्रधान मूल्य न हो, किन्तु इससे उनकी मूल्यवत्ता समाप्त नहीं होती है। परिस्थितिजन्य मूल्य या सापेक्ष मूल्य दूसरे मूल्यों के निषेधक नहीं होते हैं। दो परस्पर विरोधी मूल्य भी अपनी-अपनी परिस्थिति में अपनी मूल्यवत्ता को बनाए रख सकते हैं। एक दृष्टि से जो मूल्य लगता है वह दूसरी दृष्टि से निर्मूल्य हो सकता है, किन्तु अपनी दृष्टि या अपेक्षा से तो वह मूल्यवान बना रहता है। यह बात पारिस्थितिक मूल्यों के सम्बन्ध में ही अधिक सत्य लगती है।

जैन नैतिकता का अपरिवर्तनशील या निरपेक्ष पक्ष

हमने जैनदर्शन में नैतिकता के सापेक्ष पक्ष पर विचार किया लेकिन इसका अर्थ यह नहीं कि जैन-दर्शन में नैतिकता का केवल सापेक्ष पक्ष ही स्वीकार किया गया है। जैन विचारक कहते हैं कि नैतिकता का एक-दूसरा पहलू भी है जिसे हम निरपेक्ष कह सकते हैं। जैन तीर्थकरों का उद्घोष था कि "धर्म शुद्ध है, नित्य है और शाश्वत है।" यदि नैतिकता में कोई निरपेक्ष एवं शाश्वत तत्त्व नहीं है तो फिर धर्म की नित्यता और शाश्वतता का कोई अर्थ नहीं रह जाता है। जैन नैतिकता यह स्वीकार करती है कि भूत, वर्तमान, भविष्य के सभी धर्म-प्रवर्तकों (तीर्थकरों) की धर्म प्रज्ञाप्ति एक ही होती है लेकिन इसके साथ-साथ वह यह भी स्वीकार करती है सभी तीर्थकरों की धर्म प्रज्ञाप्ति एक होने पर भी तीर्थकरों के द्वारा प्रतिपादित आचार नियमों में ऊपर से विभिन्नता मालूम हो सकती है, जैसी महावीर और पार्श्वनाथ के द्वारा प्रतिपादित आचार नियमों में थी। जैन विचारणा यह स्वीकार करती है कि नैतिक आचरण के आन्तर और बाह्य ऐसे दो पक्ष होते हैं जिन्हें पारिभाषिक शब्दों में द्रव्य और भाव कहा जाता है। जैन विचारणा के अनुसार आचरण का वह बाह्य पक्ष देश एवं कालगत परिवर्तनों के आधार पर परिवर्तनशील होता है, सापेक्ष होता है। जबकि आचरण का आन्तरपक्ष सदैव-सदैव एकरूप होता है, अपरिवर्तनशील होता है, दूसरे शब्दों में निरपेक्ष होता है। वैचारिक हिंसा या भाव-हिंसा सदैव-सदैव अनैतिक होती है, कभी भी धर्ममार्ग अथवा नैतिक जीवन का नियम नहीं कहला सकती, लेकिन द्रव्यहिंसा या बाह्यरूप में परिलक्षित होने वाली हिंसा सदैव ही अनैतिक अथवा अनाचरणीय ही हो ऐसा नहीं कहा जा सकता। आन्तर परिग्रह अर्थात् तृष्णा या आसक्ति सदैव ही अनैतिक है लेकिन द्रव्य परिग्रह सदैव ही अनैतिक नहीं कहा जा सकता। संक्षेप में जैन विचारणा के अनुसार आचरण के बाह्य रूपों में नैतिकता सापेक्ष ही हो सकती है और होती है लेकिन आचरण के आन्तर रूपों या भावों या संकल्पों के रूप में वह सदैव निरपेक्ष ही है। सम्भव है कि बाह्य रूप में अशुभ दिखने वाला कोई कर्म अपने अन्तर में निहित किसी सदाशयता के कारण शुभ हो जाय लेकिन अन्तर का अशुभ संकल्प किसी भी स्थिति में नैतिक नहीं हो सकता।

जैन दृष्टि में नैतिकता अपने हेतु या संकल्प की दृष्टि से निरपेक्ष होती है। लेकिन परिणाम आथवा बाह्य आचरण की दृष्टि से सापेक्ष होती है। दूसरे शब्दों में नैतिक संकल्प

निरपेक्ष होता है लेकिन नैतिक कर्म सापेक्ष होता है। इसी कथन को जैन पारिभाषिक शब्दों में इस प्रकार कहा जा सकता है कि व्यवहारनय (व्यवहारीक दृष्टि) से नैतिकता सापेक्ष है या व्यावहारिक नैतिकता सापेक्ष है लेकिन निश्चयनय (पारमार्थिक दृष्टि) से नैतिकता निरपेक्ष है या निश्चय नैतिकता निरपेक्ष है। जैन दृष्टि में व्यावहारिक नैतिकता वह है जो कर्म के परिणाम या फल पर दृष्टि रखती है जबकि निश्चय नैतिकता वह है जो कर्त्ता के प्रयोजन या संकल्प पर दृष्टि रखती है। युद्ध का संकल्प किसी भी स्थिति में नैतिक नहीं हो सकता, लेकिन युद्ध का कर्म सदैव ही अनैतिक हो, यह आवश्यक नहीं। आत्महत्या का संकल्प सदैव ही अनैतिक होता है, लेकिन आत्महत्या का कर्म सदैव ही अनैतिक हो, यह आवश्यक नहीं है, वरन् कभी-कभी तो वह नैतिक ही हो जाता है, जैसे -- चन्दना की माता के द्वारा की गई आत्महत्या या चेडा महाराज के द्वारा किया गया युद्ध।

जैन नैतिक विचारणा में नैतिकता को निरपेक्ष तो माना गया लेकिन केवल संकल्प के क्षेत्र तक। जैन-दर्शन "मानस कर्म" के क्षेत्र में नैतिकता को विशुद्ध रूप में निरपेक्ष एवं अपरिवर्तनशील स्वीकार करता है, लेकिन जहाँ कायिक या वाचिक कर्मों के बाह्य, मानस का क्षेत्र आत्मा का अपना क्षेत्र है वहाँ वही सर्वोच्च शासक है अतः वहाँ तो नैतिकता को निरपेक्ष रूप में स्वीकार किया जा सकता है लेकिन आचरण के क्षेत्र में चेतन तत्त्व एकमात्र शासक नहीं, वहाँ तो अन्य परिस्थितियाँ भी शासन करती हैं, अतः उस क्षेत्र में नैतिकता के प्रत्यय को निरपेक्ष नहीं बनाया जा सकता।

नैतिक मूल्यों की परिवर्तनशीलता एवं अपरिवर्तनशीलता का मूल्यांकन

नैतिक मूल्यों की परिवर्तनशीलता के सम्बन्ध में हमें डीवी का दृष्टिकोण अधिक संगतपूर्ण जान पड़ता है। वे यह मानते हैं कि वे परिस्थितियाँ, जिनमें नैतिक आदर्शों की सिद्धि की जाती है, सदैव ही परिवर्तनशील हैं और नैतिक नियमों, नैतिक कर्त्तव्यों और नैतिक मूल्यांकनों के लिए इन परिवर्तनशील परिस्थितियों के साथ समायोजन करना आवश्यक होता है, किन्तु यह मान लेना मूर्खतापूर्ण ही होगा कि नैतिक सिद्धान्त इतने परिवर्तनशील हैं कि किसी सामाजिक स्थिति में उनमें कोई नियामक शक्ति ही नहीं होती है। शुभ की विषयवस्तु बदल सकती है किन्तु शुभ का आकार नहीं। दूसरे शब्दों में, नैतिकता का शरीर परिवर्तनशील है किन्तु नैतिकता की आत्मा नहीं। नैतिक मूल्यों का विशेष स्वरूप समय-समय पर वैसे-वैसे बदलता रहता है, जैसे-जैसे सामाजिक या सांस्कृतिक स्तर और परिस्थिति बदलती रहती है, किन्तु मूल्यों की नैतिकता का सामान्य स्वरूप स्थिर रहता है।

वस्तुतः नैतिक मूल्यों की वास्तविक प्रकृति में परिवर्तनशीलता और अपरिवर्तनशीलता के दोनों ही पक्ष उपस्थित हैं। नीति का कौन-सा पक्ष परिवर्तनशील होता है और कौन-सा पक्ष अपरिवर्तनशील होता है, इसे निम्नांकित रूप में समझा जा सकता है--

1. संकल्प का नैतिक मूल्य अपरिवर्तनशील होता है और आचरण का नैतिक मूल्य परिवर्तनशील होता है। हिंसा का संकल्प कभी नैतिक नहीं होता, यद्यपि हिंसा का कर्म सदैव अनैतिक हो, यह आवश्यक नहीं। दूसरे शब्दों में, कर्म का जो मानसिक या बौद्धिक पक्ष है वह निरपेक्ष एवं अपरिवर्तनीय है, किन्तु कर्म का जो व्यावहारिक एवं आचरणात्मक पक्ष है, वह

सापेक्ष एवं परिवर्तनशील है। दूसरे शब्दों में, नीति की आत्मा अपरिवर्तनशील है और नीति का शरीर परिवर्तनशील है। संकल्प का क्षेत्र प्रज्ञा का क्षेत्र एक ऐसा क्षेत्र है, जहाँ चेतना ही सर्वोच्च शासक है। अन्तस् में व्यक्ति स्वयं अपना शासक है, वहाँ परिस्थितियों या समाज का शासन नहीं है, अतः इस क्षेत्र में नैतिक मूल्यों की निरपेक्षता एवं अपरिवर्तनशीलता सम्भव है। निष्काम कर्म-योग का दर्शन इसी सिद्धान्त पर स्थित है, क्योंकि अनेक स्थितियों में कर्म का बाह्यात्मक रूप कर्त्ता के मनोभावों का यथार्थ परिचायक नहीं होता। अतः यह माना जा सकता है कि वे मूल्य जो मनोवृत्त्यात्मक या भावनात्मक नीति से सम्बन्धित हैं, अपरिवर्तनीय हैं किन्तु वे मूल्य जो आचरणात्मक या व्यवहारात्मक हैं, परिवर्तनीय हैं।

2. दूसरे, नैतिक साध्य या नैतिक आदर्श अपरिवर्तनशील होता है किन्तु उस साध्य के साधन परिवर्तनशील होते हैं। जो सर्वोच्च शुभ हैं वह अपरिवर्तनीय हैं, किन्तु उस सर्वोच्च शुभ की प्राप्ति के जो नियम या मार्ग हैं वे विविध एवं परिवर्तनीय हैं, क्योंकि एक ही साध्य की प्राप्ति के अनेक साधन हो सकते हैं। यहाँ हमें यह भी स्मरण रखना होगा कि सर्वोच्च शुभ को छोड़कर कुछ अन्य साध्य कभी साधन भी बन जाते हैं। साध्य साधन का वर्गीकरण निरपेक्ष नहीं है, उनमें परिवर्तन सम्भव है। यद्यपि जब तक कोई मूल्य साध्य स्थान पर बना रहता है, तब तक उसकी मूल्यवत्ता अपरिवर्तनीय रहती है। किन्तु इसका अर्थ यह भी नहीं है कि किसी स्थिति में जो साध्य-मूल्य है, वह कभी साधन-मूल्य नहीं बनेगा। मूल्य-विश्व के अनेक मूल्य ऐसे हैं जो कभी साधन-मूल्य होते हैं और कभी साध्य-मूल्य। अतः उनकी मूल्यवत्ता अपने स्थान परिवर्तन के साथ परिवर्तित हो सकती है। पुनः वैयक्तिक रुचियों, क्षमताओं और स्थितियों की भिन्नता के आधार पर सभी के लिए समान नियमों का प्रतिपादन सम्भव नहीं है। अतः साधन-मूल्यों को परिवर्तनीय मानना ही एक यथार्थ दृष्टिकोण हो सकता है।

3. तीसरे, नैतिक नियमों में कुछ नियम मौलिक होते हैं। साधारणतया सामान्य या मूल-भूत नियम ही अपरिवर्तनीय माने जा सकते हैं, विशेष नियम तो परिवर्तनीय होते हैं। यद्यपि हमें यह मानने में कोई आपत्ति नहीं है कि अनेक परिस्थितियों में सामान्य नियमों के भी अपवाद हो सकते हैं और वे नैतिक भी हो सकते हैं, फिर भी इतना तो ध्यान में रखना आवश्यक है कि अपवाद को कभी भी नियम का स्थान नहीं दिया जा सकता है।

यहाँ एक बात जो विचारणीय है वह यह कि मौलिक नियमों एवं साध्य-मूल्यों की अपरिवर्तनशीलता भी एकान्तिक नहीं है। वस्तुतः जैन-दर्शन में नैतिक मूल्यों या सदाचार के मानदण्डों के सन्दर्भ में एकान्तरूप से अपरिवर्तनशीलता और एकान्त रूप से परिवर्तनशीलता को स्वीकार नहीं किया जा सकता। यदि नैतिक मूल्य या सदाचार के मानदण्ड एकान्त रूप से अपरिवर्तनशील होंगे तो सामाजिक सन्दर्भों के अनुरूप नहीं रह सकेंगे। सदाचार के मानदण्ड इतने निलोच तो नहीं हैं कि वे परिवर्तनशील सामाजिक परिस्थितियों के साथ समायोजन नहीं कर सकें, किन्तु वे इतने लचीले भी नहीं हैं कि हर कोई उन्हें अपने अनुरूप ढाल कर उनके स्वरूप को ही विकृत कर दे। सारांश यह है कि सदाचार के मानदण्ड अन्तरंग रूप से स्थायी हैं और बाह्य रूप में परिवर्तनशील हैं।



जैन धर्म का लेश्या-सिद्धान्त : एक विमर्श

प्रो० सागरमल जैन

व्यक्ति का व्यक्तित्व उसकी मनोवृत्तियों अथवा आवेगों पर निर्भर करता है। व्यक्ति जितना आवेगों से ऊपर उठेगा, उसके व्यक्तित्व में उतनी स्थिरता एवं परिपक्वता आती जायेगी। जिस व्यक्ति में आवेगों (कषायों) की जितनी अधिकता एवं तीव्रता होगी, उसका व्यक्तित्व उतना ही निम्नस्तरीय एवं अशान्त होगा। आवेगों (मनोवृत्तियों) की तीव्रता और उनकी शुभाशुभता दोनों ही हमारे व्यक्तित्व को प्रभावित करती हैं। वस्तुतः आवेगों में जितनी अधिक तीव्रता होगी, व्यक्तित्व में उतनी ही अस्थिरता होगी और व्यक्तित्व में जितनी अधिक अस्थिरता होगी उतनी ही चारित्रिक दृढ़ता में कमी होगी। आवेगात्मक अस्थिरता ही अनैतिकता की जननी है। इस प्रकार आवेगात्मकता, चरित्र-बल और व्यक्तित्व तीनों ही एक दूसरे से जुड़े हैं। यहाँ हमें यह भी स्मरण रखना चाहिए कि व्यक्ति के मूल्यांकन के सन्दर्भ में न केवल आवेगों की तीव्रता पर विचार करना चाहिए, वरन् उनकी प्रशस्तता और अप्रशस्तता पर भी विचार करना आवश्यक है। प्राचीन काल से ही व्यक्ति के आवेगों तथा मनोभावों के शुभत्व एवं अशुभत्व का सम्बन्ध उसके व्यक्तित्व से जोड़ा जाता रहा है। व्यक्तित्व के वर्गीकरण या श्रेणी विभाजन के शारीरिक एवं मनोवैज्ञानिक अनेक आधारों में एक आधार व्यक्ति की प्रशस्त और अप्रशस्त मनोवृत्तियाँ भी रही हैं। जिस व्यक्ति में जिस प्रकार की मनोवृत्तियाँ होती हैं, उसी आधार पर उसके व्यक्तित्व का वर्गीकरण किया जाता है। मनोवृत्तियों की शुभाशुभता एवं तीव्रता और मन्दता के आधार पर व्यक्तित्व के वर्गीकरण की परम्परा बहुत पुरानी है। जैन, बौद्ध और हिन्दू परम्परा के ग्रन्थों में ऐसा वर्गीकरण या श्रेणी विभाजन उपलब्ध है। जैन परम्परा में इस वर्गीकरण का आधार उसका लेश्या सिद्धान्त है। यद्यपि जैन परम्परा में नैतिक एवं आध्यात्मिक विकास के आधार पर व्यक्तित्व के वर्गीकरण के अन्य सिद्धान्त यथा -- बहिरात्मा, अन्तरात्मा का सिद्धान्त एवं गुणस्थान के सिद्धान्त भी प्रचलित हैं, किन्तु इन सबमें लेश्या सिद्धान्त ही सबसे प्राचीन है, क्योंकि त्रिविध आत्मा की अवधारणा और गुणस्थान-सिद्धान्त दोनों ही ईसा की पाँचवीं शती के पूर्व उपलब्ध नहीं होते हैं। जबकि लेश्या सिद्धान्त भगवती और उत्तराध्ययन जैसे ईस्वी पूर्व के आगमों में भी उपलब्ध है। अन्य श्रमण परम्पराओं में लेश्या सिद्धान्त का स्थान अभिजाति की कल्पना ने लिया है। गीता में इसे दैवी एवं आसुरी सम्पदा के रूप में वर्णित किया गया है।

लेश्या-सिद्धान्त और नैतिक व्यक्तित्व

जैन-विचारकों के अनुसार लेश्या की परिभाषा यह है कि जो आत्मा को कर्मों से लिप्त करती है या जिसके द्वारा आत्मा कर्मों से लिप्त होती है अर्थात् बन्धन में आती है, वह

लेश्या है।¹ उत्तराध्ययन की बृहद्-वृत्ति में लेश्या का अर्थ आण्विक आभा, कान्ति, प्रभा या छाया किया गया है।² यापनीय आचार्य शिवार्य ने भगवती-आराधना में छाया पुद्गल से प्रभावित जीव के परिणामों (मनोभावों) को लेश्या माना है।³ इसी आधार पर देवेन्द्रमुनिशास्त्री ने लेश्या को एक प्रकार का पौद्गलिक पर्यावरण माना है, जो मनोवृत्तियों को निर्धारित करता है।⁴ डॉ० शान्ता जैन ने भी अपने शोध-निबन्ध में भगवती सूत्र (1/9) की टीका के आधार पर लेश्या को औदारिक आदि शरीरों का वर्ण माना है। वे लिखती हैं कि लेश्या एक पौद्गलिक परिणाम है।⁵

जैनागमों में लेश्या दो प्रकार की मानी गयी है -- 1. द्रव्य लेश्या और 2. भाव लेश्या। अतः हमें यह स्मरण रखना चाहिए कि इनमें मात्र द्रव्य लेश्या ही पौद्गलिक है, भाव लेश्या नहीं। भाव लेश्या तो द्रव्य लेश्या के आधार पर बने वाली चित्तवृत्तियाँ हैं। इन दोनों में कार्यकारण भाव या निमित्त-नैमित्तिक सम्बन्ध तो है किन्तु दोनों अलग-अलग हैं।

1. द्रव्य लेश्या - द्रव्य लेश्या सूक्ष्म भौतिक तत्त्वों से निर्मित वह संरचना है, जो हमारे मनोभावों एवं तज्जनित कर्मों का सापेक्ष रूप में कारण अथवा कार्य बनती है। जिस प्रकार पित्त द्रव्य की विशेषता से स्वभाव में क्रुद्धता आती है और क्रोध के कारण पित्त का निर्माण बहुल रूप से होता है, उसी प्रकार इन सूक्ष्म भौतिक तत्त्वों से मनोभाव बनते हैं और मनोभाव के होने पर इन सूक्ष्म संरचनाओं का निर्माण होता है। लेश्या-द्रव्य या द्रव्य-लेश्या-स्वरूप के सम्बन्ध में आचार्य राजेन्द्रसूरिजी⁶ एवं पं० सुखलालजी⁷ ने निम्न तीन मतों को उद्धृत किया है :

(i) लेश्या -- द्रव्य कर्म-वर्मणा से बने हुए हैं। यह मत उत्तराध्ययन की टीका में है।

(ii) लेश्या -- द्रव्य बध्यमान कर्मप्रवाह रूप में है। यह मत भी उत्तराध्ययन की टीका में वादिवैताल शान्तिसूरि का है।

(iii) लेश्या -- योग परिणाम है अर्थात् शारीरिक, वाचिक और मानसिक क्रियाओं का परिणाम है। यह मत आचार्य हरिभद्र का है।

मेरी दृष्टि से द्रव्य लेश्या को हम व्यक्ति का आभा मण्डल कह सकते हैं। डॉ० शान्ती जैन ने अपने शोध-प्रबन्ध में और उनसे पूर्व युवाचार्य महाप्रज्ञ ने अपने ग्रन्थ आभामण्डल में इस पर विस्तार से प्रकाश डाला है।

2. भाव लेश्या -- भाव लेश्या आत्मा का अध्यवसाय या अन्तःकरण की वृत्ति है। पं० सुखलाल जी के शब्दों में भाव-लेश्या मनोभाव विशेष है, जो संक्लेश और योग से अनुगत है।

संक्लेश के तीव्र, तीव्रतर, तीव्रतम, मन्द, मन्दतर, मन्दतम आदि अनेक भेद होने से लेश्या (मनोभाव) वस्तुतः अनेक प्रकार की है तथापि संक्षेप में छः भेद करके (जैन) शास्त्र में उसका स्वरूप वर्णन किया गया है।

उत्तराध्ययनसूत्र⁸ में लेश्याओं के स्वरूप का निर्वचन वर्ण, गन्ध, रस, स्पर्श, मनोभाव, कर्म आदि अनेक पक्षों के आधार पर हुआ है, लेकिन हम अपने विवेचन को लेश्याओं के भावात्मक पक्ष तक सीमित रखना उचित समझेंगे। मनोदशाओं में संकलेश की न्यूनाधिकता अथवा मनोभावों की अशुभत्व से शुभत्व की ओर बढ़ने की स्थितियों के आधार पर ही उनके विभाग किये गये हैं। अप्रशस्त और प्रशस्त इन द्विविध मनोभावों के उनकी तरतमता के आधार पर छः भेद वर्णित हैं -

अप्रशस्त मनोभाव	प्रशस्त मनोभाव
1. कृष्ण लेश्या - तीव्रतम अप्रशस्त मनोभाव	4. तेजोलेश्या - मंद प्रशस्त मनोभाव
2. नील लेश्या - तीव्र अप्रशस्त मनोभाव	5. पद्मलेश्या - तीव्र प्रशस्त मनोभाव
3. कापोत लेश्या - मंद अप्रशस्त मनोभाव	6. शुक्ललेश्या - तीव्रतम प्रशस्त मनोभाव

लेश्याएं एवं व्यक्तित्व का श्रेणी-विभाजन

लेश्याएं मनोभावों का वर्गीकरण मात्र नहीं है, वरन् चरित्र के आधार पर किये गये व्यक्तित्व के प्रकार भी हैं। मनोभाव अथवा संकल्प आन्तरिक तथ्य ही नहीं हैं, वरन् वे क्रियाओं के रूप में बाह्य अभिव्यक्ति भी चाहते हैं। वस्तुतः संकल्प ही कर्म में रूपान्तरित होते हैं। ब्रेडले का यह कथन उचित है कि कर्म संकल्प का रूपान्तरण है।⁹ मनोभूमि या संकल्प व्यक्ति के आचरण का प्रेरक सूत्र है, लेकिन कर्म-क्षेत्र में संकल्प और आचरण दो अलग-अलग तत्त्व नहीं रहते हैं। आचरण से संकल्पों की मनोभूमिका का निर्माण होता है और संकल्पों की मनोभूमिका पर ही आचरण स्थित होता है। मनोभूमि और आचरण (चरित्र) का घनिष्ठ सम्बन्ध है। इतना ही नहीं, मनोवृत्ति स्वयं में भी एक आचरण है। मानसिक कर्म भी कर्म ही है। अतः जैन विचारकों ने जब लेश्या परिणाम की चर्चा की तो वे मात्र मनोदशाओं की चर्चाओं तक ही सीमित नहीं रहे, वरन् उन्होंने उस मनोदशा से प्रत्युत्पन्न जीवन के कर्म क्षेत्र में घटित होने वाले बाह्य व्यवहारों की चर्चा भी की और इस प्रकार जैन लेश्या सिद्धान्त व्यक्तित्व के वर्गीकरण का व्यवहारिक सिद्धान्त बन गया। जैन विचारकों ने इस सिद्धान्त के आधार पर यह बताया कि मनोवृत्ति एवं आचरण की दृष्टि से व्यक्ति का व्यक्तित्व या तो शुभ (नैतिक) होगा या अशुभ (अनैतिक)। इन्हें धार्मिक और अधार्मिक अथवा शुक्ल-पक्षी और कृष्ण-पक्षी भी कहा गया है। वस्तुतः एक वर्ग वह है जो नैतिकता या शुभत्व की ओर उन्मुख है। दूसरा वर्ग वह है जो अनैतिकता या अशुभत्व की ओर उन्मुख है। इस प्रकार गुणात्मक अन्तर के आधार पर व्यक्तित्व के ये दो प्रकार बनते हैं। लेकिन जैन विचारक मात्र गुणात्मक वर्गीकरण से सन्तुष्ट नहीं हुए और उन्होंने उन दो गुणात्मक प्रकारों को तीन-तीन प्रकार के मात्रात्मक अन्तरों (जघन्य, मध्यम एवं उत्कृष्ट) के आधार पर छः भागों में विभाजित किया। जैन लेश्या सिद्धान्त का षट्-विध वर्गीकरण इसी आधार पर हुआ है। जैन विचारकों ने इन

मात्रात्मक अन्तरों के तीन, नव, इक्यासी और दो सौ तैतालिस उपभेद भी गिनाये हैं, लेकिन प्राचीन षट्-विध वर्गीकरण ही अधिक प्रचलित रहा है। निम्न पंक्तियों में हम इन छः प्रकार के व्यक्तियों की चर्चा करेंगे --

1. कृष्ण लेश्या (अशुभ भाव) से युक्त व्यक्तित्व के लक्षण -- यह व्यक्तित्व का सबसे निकृष्ट रूप है। इस अवस्था में प्राणी के विचार अत्यन्त निम्न कोटि के एवं क्रूर होते हैं। वासनात्मक पक्ष जीवन के सम्पूर्ण कर्मक्षेत्र पर हावी रहता है। प्राणी अपनी शारीरिक, मानसिक एवं वाचिक क्रियाओं पर नियन्त्रण करने में अक्षम रहता है। वह अपनी इन्द्रियों पर नियन्त्रण न रख पाने के कारण बिना किसी प्रकार के शुभाशुभ विचार के सदैव इन्द्रियों के विषयों की पूर्ति में निमग्न रहता है। इस प्रकार भोग-विलास में आसक्त हो, वह उनकी पूर्ति के लिए हिंसा, चोरी, व्यभिचार और संग्रह में लगा रहता है। स्वभाव से वह निर्दय व नृशंस होता है और हिंसक कार्य करने में उसे तनिक भी अरुचि नहीं होती तथा अपने छोटे से स्वार्थ के निमित्त दूसरे का बड़ा से बड़ा अहित करने में वह संकोच नहीं करता।¹⁰ मात्र यही नहीं वह दूसरों को निरर्थक पीड़ा या त्रास देने में आनन्द मानता है। कृष्ण लेश्या से युक्त प्राणी वासनाओं के अन्ध प्रवाह से ही शासित होता है इसलिए भावावेश में उसमें स्वयं के हिताहित का विचार करने की क्षमता भी नहीं होती। वह दूसरे का अहित मात्र इसलिए नहीं करता कि उससे उसका स्वयं का कोई हित होगा, वरन् वह तो अपने क्रूर स्वभाव के वशीभूत हो, अपने हित के अभाव में भी दूसरे का अहित करता रहता है।

2. नील लेश्या (अशुभतर मनोभाव) से युक्त व्यक्तित्व के लक्षण -- व्यक्तित्व का यह प्रकार पहले की अपेक्षा कुछ ठीक होता है, लेकिन होता अशुभ ही है। इस अवस्था में भी प्राणी का व्यवहार वासनात्मक पक्ष से शासित होता है। लेकिन वह अपनी वासनाओं की पूर्ति में अपनी बुद्धि का प्रयोग करने लगता है। अतः इसका व्यवहार प्रकट रूप में तो कुछ परिमार्जित सा रहता है, लेकिन उसके पीछे कुटिलता ही काम करती है। यह विरोधी का अहित अप्रत्यक्ष रूप से करता है। ऐसा प्राणी ईर्ष्यालु, असहिष्णु, असंयमी, अज्ञानी, कपटी, निर्लज्ज, लम्पट, द्वेष बुद्धि से युक्त, रसलोलुप एवं प्रमादी होता है।¹¹ वह अपनी सुख-सुविधा का सदैव ध्यान रखता है और दूसरे का अहित अपने हित के निमित्त करता है, यद्यपि वह अपने अल्प हित के लिए दूसरे का बड़ा अहित भी कर देता है। जिन प्राणियों से उसका स्वार्थ सधता है उन प्राणियों का अज-पोषण-न्याय के अनुसार वह कुछ ध्यान अवश्य रखता है, लेकिन मनोवृत्ति दूषित ही होती है। जैसे बकरा पालने वाला बकरे को इसलिए नहीं खिलाता कि उस बकरे का हित होगा वरन् इसलिए खिलाता है कि उसे मारने पर अधिक मांस मिलेगा। ऐसा व्यक्ति दूसरे का बाह्य रूप में जो भी हित करता दिखाई देता है, उसके पीछे उसका गहन स्वार्थ रहता है।

3. कापोत लेश्या (अशुभ मनोवृत्ति) से युक्त व्यक्तित्व के लक्षण -- यह मनोवृत्ति भी दूषित है। इन मनोवृत्ति में प्राणी का व्यवहार मन, वचन, कर्म से एकरूप नहीं होता। उसकी करनी और कथनी भिन्न होती है। मनोभावों में सरलता नहीं होती, कपट और

अहंकार होता है। वह अपने दोषों को सदैव छिपाने की कोशिश करता है। उसका दृष्टिकोण अर्थार्थ एवं व्यवहार अनार्य होता है। वह वचन से दूसरे की गुप्त बातों को प्रकट करने वाला अथवा दूसरे के रहस्यों को प्रकट करके उससे अपना हित साधने वाला, दूसरे के धन का अपहरण करने वाला एवं मात्सर्य भावों से युक्त होता है। फिर भी ऐसा व्यक्ति दूसरे का अहित तभी करता है, जब उससे उसकी स्वार्थ सिद्धि होती है।¹²

4. तेजो लेश्या (शुभ मनोवृत्ति) से युक्त व्यक्तित्व के लक्षण -- यह मनोदशा पवित्र होती है। इस मनोभूमि में प्राणी पापभीरु होता है। यद्यपि वह अनैतिक आचरण की ओर प्रवृत्त नहीं होता, तथापि वह सुखापेक्षी होता है। लेकिन किसी अनैतिक आचरण द्वारा उन सुखों की प्राप्ति या अपना स्वार्थ साधन नहीं करता। धार्मिक और नैतिक आचरण में उसकी पूर्ण आस्था होती है। अतः उन कृत्यों के सम्पादन में आनन्द प्राप्त करता है, जो धार्मिक या नैतिक दृष्टि से शुभ हैं। इस मनोभूमि में दूसरे के कल्याण की भावना भी होती है। संक्षेप में, इस मनोभूमि में स्थित प्राणी पवित्र आचरण वाला, नम्र, धैर्यवान्, निष्कपट, आकांक्षारहित, विनीत, संयमी एवं योगी होता है।¹³ वह प्रिय एवं दृढधर्मी तथा परहितैषी होता है। इस मनोभूमि में दूसरे का अहित तो सम्भव होता है, लेकिन केवल उसी स्थिति में जबकि दूसरा उसके हितों का हनन करने पर उतारू हो जाये।

जैन आगमों में तेजोलेश्या की शक्ति को प्राप्त करने के लिये विशिष्ट साधना-विधि का उल्लेख भी प्राप्त होता है। गोशालक ने महावीर से तेजोलेश्या की जो साधना सीखी थी उसका दुरुपयोग उसने स्वयं भगवान् महावीर और उनके शिष्यों के प्रति किया। इस प्रकार तेजोलेश्या का उपयोग शुभत्व और अशुभत्व दोनों ही दिशा में सम्भव हो सकता है।

5. पद्म लेश्या (शुभतर मनोवृत्ति) से युक्त व्यक्तित्व के लक्षण -- इस मनोभूमि में पवित्रता की मात्रा पिछली भूमि की अपेक्षा अधिक होती है। इस मनोभूमि में क्रोध, मान, माया एवं लोभरूप अशुभ मनोवृत्तियाँ अतीव अल्प अर्थात् समाप्तप्राय हो जाती हैं। प्राणी संयमी तथा योगी होता है तथा योग साधना के फलस्वरूप आत्मजयी एवं प्रफुल्लित होता है। वह अल्पमाषी, उपशांत एवं जितेन्द्रिय होता है।¹⁴

6. शुक्ल लेश्या (परमशुभ मनोवृत्ति) से युक्त व्यक्तित्व के लक्षण -- यह मनोभूमि शुभ मनोवृत्ति की सर्वोच्च भूमिका है। पिछली मनोवृत्ति के सभी शुभ गुण इस अवस्था में वर्तमान रहते हैं, लेकिन उनकी विशुद्धि की मात्रा अधिक होती है। प्राणी उपशांत, जितेन्द्रिय एवं प्रसन्नचित्त होता है। उसके जीवन का व्यवहार इतना मृदु होता है कि वह अपने हित के लिए दूसरे को तनिक भी कष्ट नहीं देना चाहता है। मन-वचन-कर्म से एकरूप होता है तथा उनपर उसका पूर्ण नियन्त्रण होता है। उसे मात्र अपने आदर्श का बोध रहता है। बिना किसी अपेक्षा के वह मात्र स्वकर्तव्य के परिपालन के प्रति जागरूक रहता है। सदैव स्वधर्म एवं स्वस्वरूप में निमग्न रहता है।

लेश्या सिद्धान्त और अन्य विचारणाएँ

भारत में व्यक्ति के मनोवृत्तियों, गुणों एवं कर्मों के आधार पर वर्गीकरण करने की परम्परा अत्यन्त प्राचीन है। यह वर्गीकरण सामाजिक एवं साधनात्मक दोनों दृष्टिकोणों से किया जाता रहा है। सामाजिक दृष्टि से इसने चातुर्वर्ण्य के सिद्धान्त का रूप ग्रहण किया था, जिसपर जन्मना आर कर्मणा दृष्टिकोणों को लेकर श्रमण और वैदिक परम्परा में काफी विवाद भी रहा है। साधनात्मक दृष्टिकोण से गुण कर्म के आधार पर व्यक्तित्व का वर्गीकरण करने का प्रयास न केवल जैन, बौद्ध और हिन्दू परम्परा ने किया है, वरन् अन्य लुप्त श्रमण परम्पराओं में भी ऐसे वर्गीकरण उपलब्ध होते हैं। दीघनिकाय में आजीवक सम्प्रदाय के आचार्य मंखलिपुत्र गोशालक एवं अंगुत्तरनिकाय में पूर्ण-कश्यप के नाम के साथ ही वर्गीकरण का निर्देश हुआ है। ज्ञातव्य है कि दीघनिकाय में सामंजस्यसुत्त में गोशालक सम्बन्धी विवरण में मात्र "छस्वेववाभिजातीयु" इतना उल्लेख है, जबकि अंगुत्तर निकाय में पूर्णकश्यप के द्वारा प्रस्तुत विवरण में इन छहों अभिजातियों में कौन किस वर्ग में आता है, इसका भी उल्लेख है। किन्तु इसमें आजीवक श्रमणों और आचार्यों को सर्वोच्च वर्गों में रखना यही सूचित करता है कि यह सिद्धान्त मूलतः आजीवकों अर्थात् मंखलिगोशालक की परम्परा का रहा है। अंगुत्तरनिकाय में या तो भ्रान्तिवश अथवा फिर पूर्णकश्यप द्वारा भी मान्य होने के कारण इसे उनके नामों से कहा गया है। इसकी मान्यता के अनुसार कृष्ण, नील, लोहित, हरिद्र, शुक्ल और परमशुक्ल ये छः अभिजातियाँ हैं। उक्त वर्गीकरण में कृष्ण अभिजाति में निर्गन्ध और आजीवक श्रमणों के अतिरिक्त अन्य श्रमणों को, लोहित अभिजाति में निर्गन्ध श्रमणों को, हरिद्र अभिजाति में आजीवक गृहस्थों को, शुक्ल अभिजात में आजीवक के प्रणेता आचार्य-वर्ग को रखा गया है। ज्ञातव्य है कि चतुर्थ वर्ग के अर्थ में पूज्य आचार्य देवेन्द्रमुनिजी ने अपने 'पुष्करमुनि अभिनन्दन ग्रन्थ' में एवं कुमारी शान्ता जैन ने अपने शोध-प्रबन्ध में जो श्वेतवस्त्रधारी या निर्वस्त्र का अर्थ लिखा है वह उचित नहीं है उसमें मूलशब्द है -- "ओदात्तवसनी अचेलसावका"। इसका अर्थ है उदात्त वस्त्र वाले अचेलकों (आजीवकों) के श्रावक। इसमें अचेलसावका का अर्थ अचेलकों के श्रावक ऐसा है। ओदात्तवसना यह श्रावकों का विशेषण है।

उपर्युक्त वर्गीकरण का जैन विचारणा के लेश्या सिद्धान्त से बहुत कुछ शब्द साम्य है, लेकिन जैन दृष्टि से यह वर्गीकरण इस अर्थ में भिन्न है कि एक तो यह केवल मानव जाति तक सीमित है, जबकि जैन वर्गीकरण इसमें सम्पूर्ण प्राणी वर्ग का समावेश करता है। दूसरे, जैन दृष्टिकोण व्यक्तिपरक है, जो साम्प्रदायिकता से ऊपर उठकर कहता है कि प्रत्येक व्यक्ति या व्यक्ति समूह अपनी मनोवृत्तियों एवं कर्मों के आधार पर किसी भी वर्ग या अभिजाति में सम्मिलित हो सकता है। यहाँ यह विशेष रूप से द्रष्टव्य है कि जहाँ गोशालक द्वारा दूसरे श्रमणों को नील अभिजाति में रखा गया, वहाँ निर्गन्धों को लोहित अभिजाति में रखना उनके प्रति कुछ समादर भाव का द्योतक अवश्य है। सम्भव है कि महावीर एवं गोशालक का पूर्व सम्बन्ध ही इसका कारण रहा हो। जहाँ तक भगवान बुद्ध की तत्सम्बन्धी मान्यता का प्रश्न है, वे पूर्णकश्यप अथवा गोशालक की मान्यता से अपने को सहमत नहीं कर पाते हैं। वे व्यक्ति के नैतिक स्तर के आधार पर वर्गीकरण तो प्रस्तुत करते हैं, लेकिन वे अपने वर्गीकरण को जैन

विचारणा के समान ही सार्वभौम एवं वस्तुनिष्ठ ही रखना चाहते हैं। वे यह भी नहीं बताते कि अमुक वर्ग या व्यक्ति इस वर्ग का है, वरन् यही कहते हैं कि जिसकी मनोभूमिका एवं आचरण जिस वर्ग के अनुसार होगा, वह उस वर्ग में आ जायेगा। पूर्णकश्यप के दृष्टिकोण की समालोचना करते हुए भगवान बुद्ध आनन्द से कहते हैं कि 'मैं अभिजातियों को तो मानता हूँ लेकिन मेरा मन्तव्य दूसरों से पृथक् है'।¹⁶ मनोदशाओं के आधार पर आचरणपरक वर्गीकरण बौद्ध विचारणा का प्रमुख मन्तव्य था।

बौद्ध विचारणा में प्रथमतः प्रशस्त और अप्रशस्त मनोभाव तथा कर्म के आधार पर मानव जाति को कृष्ण और शुक्ल वर्ग में रखा गया। जो कूर कर्मी हैं वे कृष्ण अभिजाति के हैं और जो शुभ कर्मी हैं वे शुक्ल अभिजाति के हैं। पुनः कृष्ण प्रकार वाले और शुक्ल प्रकार वाले मनुष्यों को गुण-कर्म के आधार पर तीन-तीन भागों में बाँटा गया है।¹⁷ जैनागम उत्तराध्ययन में भी लेश्याओं को प्रशस्त और अप्रशस्त इन दो भागों में बाँटकर प्रत्येक के तीन-तीन विभाग किये गये हैं। बौद्ध विचारणा ने शुभाशुभ कर्मों एवं मनोभावों के आधार पर छः वर्ग तो मान लिये, लेकिन इसके अतिरिक्त उन्होंने एक वर्ग उन लोगों का भी माना जो शुभाशुभ से ऊपर उठ गये हैं और इसे अकृष्ण शुक्ल कहा। जैसे जैन दर्शन में अर्हत् को अलेशी कहा गया है। इस प्रकार बुद्ध ने निम्न छः अभिजातियाँ प्रतिपादित की हैं --

- (1) कोई व्यक्ति कृष्णाभिजातिक (नीच कुल में पैदा हुआ) हो और कृष्ण धर्म (पापकृत्य) करता है।
- (2) कोई व्यक्ति कृष्णाभिजातिक हो और शुक्ल धर्म करता है।
- (3) कोई व्यक्ति कृष्णाभिजातिक हो अकृष्ण-अशुक्ल निर्वाण को समुत्पन्न करता है।
- (4) कोई व्यक्ति शुक्लाभिजातिक (उच्चकुल में समुत्पन्न हुआ) हो तथा शुक्ल धर्म (पुण्य) करता है।
- (5) कोई व्यक्ति शुक्लाभिजातिक हो और कृष्णकर्म करता है।
- (6) कोई व्यक्ति शुक्लाभिजातिक हो अशुक्ल-अकृष्ण निर्वाण को समुत्पन्न करता है।

इस वर्गीकरण में भगवान बुद्ध ने जन्म और कर्म दोनों को ही अपना आधार बनाया है जबकि जैन परम्परा मनोभावों और कर्मों को ही महत्त्व देती है, जन्म को नहीं। फिर भी उसमें देव एवं नारक के सम्बन्ध में जो लेश्या की चर्चा है उससे ऐसा लगता है कि वह वर्ग विशेष में जन्म के साथ लेश्या विशेष की उपस्थिति मानते थे।

लेश्या-सिद्धान्त और गीता

गीता में भी प्राणियों के गुण-कर्म के अनुसार व्यक्तित्व के वर्गीकरण की धारणा मिलती है। गीता न केवल सामाजिक दृष्टि से प्राणियों को गुण-कर्म के अनुसार चार वर्गों में वर्गीकृत करती है, वरन् वह आचरण की दृष्टि से भी एक अलग वर्गीकरण प्रस्तुत करती है।

गीता के 16वें अध्याय में प्राणियों की आसुरी एवं दैवी ऐसी दो प्रकार की प्रकृति बतलायी गई है और इसी आधार पर प्राणियों के दो विभाग किये गये हैं। गीता का कथन है कि प्राणियों या मनुष्यों की प्रकृति दो ही प्रकार की होती है या तो दैवी या आसुरी।¹⁸ उसमें भी दैवी गुण मोक्ष के हेतु हैं और आसुरी गुण बन्धन के हेतु हैं।¹⁹ गीता में हमें द्विविध वर्गीकरण ही मिलता है, जिन्हें हम चाहे दैवी और आसुरी प्रकृति कहें, चाहे कृष्ण और शुक्लपक्षी कहें या कृष्ण और शुक्ल अभिजाति कहें। षट् लेश्याओं की जैन विचारणा के विवेचन में भी दो ही मूल प्रकार हैं। प्रथम तीन कृष्ण, नील और कापोत लेश्या को अविशुद्ध, अप्रशस्त और संक्लिष्ट कहा गया है और अन्तिम तीन तेजो, पद्म और शुक्ल लेश्या को विशुद्ध प्रशस्त और असंक्लिष्ट कहा गया है।²⁰ उत्तराध्ययनसूत्र में स्पष्ट कहा गया है कि कृष्ण, नील एवं कापोत अधर्म लेश्यायें हैं और इनके कारण जीवन दुर्गति में जाता है और तेजों, पद्म एवं शुक्ल धर्मलेश्यायें हैं और इनके कारण जीव संगति में जाता है।²¹ पं० सुखलाल जी लिखते हैं कि कृष्ण और शुक्ल के बीच की लेश्यायें, विचारगत अशुभता के विविध मिश्रण मात्र हैं।²² जैन दृष्टि के अनुसार धर्म लेश्यायें या प्रशस्त लेश्यायें मोक्ष का हेतु तो होती हैं एवं जीवनमुक्त अवस्था तक विद्यमान भी रहती हैं, लेकिन विदेह मुक्ति उसी अवस्था में होती है जब प्राणी इनसे भी ऊपर उठ जाता है। इसलिए यहाँ यह कहा गया है कि धर्म लेश्यायें सुगति का कारण हैं, निर्वाण का कारण नहीं हैं। निर्वाण का कारण तो लेश्याओं से अतीत होना है।

जैन विचारणा विवेचना के क्षेत्र में विश्लेषणात्मक अधिक रही है। अतएव वर्गीकरण करने की स्थिति में भी उसने काफी गहराई तक जाने की कोशिश की और इसी आधार पर यह षट्-विध विवेचन किया। लेकिन तथ्य यह है कि गुणात्मक अन्तर के आधार पर तो दो ही भेद होते हैं, शेष वर्गीकरण मात्रात्मक ही हैं और इस प्रकार यदि मूल आधारों की ओर दृष्टि रखें तो जैन और गीता की विचारणा को अतिनिकट ही पाते हैं। जहाँ तक जैन दर्शन की धर्म और अधर्म लेश्याओं में और गीता की दैवी और आसुरी सम्पदा में प्राणी की मनःस्थिति एवं आचरण का जो चित्रण किया गया है, उसमें बहुत कुछ शब्द एवं भाव साम्य है।

धर्म लेश्याओं में प्राणी की मनःस्थिति एवं चरित्र (उत्तराध्ययन²³ के आधार पर जैन दृष्टिकोण)

दैवी सम्पदा से युक्त प्राणी की मनःस्थिति एवं चरित्र (गीता²⁴ का दृष्टिकोण)

1. प्रशान्त चित्त
2. ज्ञान, ध्यान और तप में रत
3. इन्द्रियों को वश में रखने वाला
4. स्वाध्यायी
5. हितैषी
6. क्रोध की न्यूनता
7. मान, माया और लोभ का त्यागी

शान्तचित्त एवं स्वच्छ अन्तःकरण वाला तत्त्वज्ञान के लिए ध्यान में निरन्तर दृढ़ स्थिति इन्द्रियों का दमन करने वाला स्वाध्यायी, दानी एवं उत्तम कर्म करने वाला अहिंसायुक्त, दयाशील तथा अभय अक्रोधी, क्षमाशील त्यागी

8. अल्पभाषी	अपिशुनी तथा सत्यशील
9. इन्द्रिय और मन पर अधिकार करने वाला	अलोलुप (इन्द्रिय विषयों में अनासक्त)
10. तेजस्वी	तेजस्वी
11. दृढधर्मी	धैर्यवान
12. नम्र एवं विनीत	कोमल
13. चपलता रहित तथा शांत	चपलतारहित (अचपल)
14. पापभीरु शान्त	लोक और शास्त्रविरुद्ध आचरण में लज्जा

अप्रशस्त या अधर्म लेश्याओं में प्राणियों की मनःस्थिति एवं चरित्र (उत्तराध्ययन ²⁵ के आधार पर जैन दृष्टिकोण)	आसुरी सम्पदा से युक्त प्राणी की मनःस्थिति एवं चरित्र (गीता के आधार पर) ²⁶ गीता का दृष्टिकोण
---	--

1. अज्ञानी	कर्तव्याकर्तव्य के ज्ञान का अभाव
2.	नष्टात्मा एवं चिन्ताग्रस्त
3. मन, वचन एवं कर्म से अगुप्त	मानसिक एवं कायिक शौच से रहित (अपवित्र)
4. दुराचारी	अशुद्ध आचार (दुराचारी)
5. कपटी	कपटी, मिथ्याभाषी
6. मिथ्यादृष्टि	आत्मा और जगत् के विषय में मिथ्या दृष्टिकोण
7. अविचारपूर्वक कर्म करने वाला	अल्पबुद्धि
8. नृशंस	क्रूरकर्मी
9. हिंसक	हिंसक, जगत् का नाश करने वाला
10. रसलोलुप एवं विषयी	कामभोग परायण तथा क्रोधी
11. अविरत	तृष्णायुक्त
12. चोर	चोर

महाभारत और लेश्या सिद्धान्त

गीता महाभारत का अंग है और महाभारत में सनत्कुमार एवं वृत्रासुर के संवाद में प्राणियों के छः प्रकार के वर्णों का निर्देश हुआ है। वे वर्ण हैं : कृष्ण, धूम्र, नील, रक्त, हारिद्र और शुक्ल। इन छः वर्णों की सुखात्मक स्थिति का चित्रण करते हुए कहा गया है कि कृष्ण, धूम्र और नील वर्ण का सुख मध्यम होता है, रक्त वर्ण का सुख सह्य होता है। हारिद्र वर्ण सुखकर होता है और शुक्ल वर्ण सर्वाधिक सुखकर होता है।

ज्ञातव्य है कि जैन परम्परा में भी षट्लेश्याओं की सुखदुःखात्मक स्थितियों की चर्चा उपलब्ध होती है। इसके अतिरिक्त महाभारत में ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र इन चार वर्णों

के चार रंगों (वर्णों) का भी उल्लेख मिलता है। इसमें शूद्र को कृष्ण, वैश्य को नील, क्षत्रिय को रक्त, और ब्राह्मण को शुक्ल वर्ण कहा गया है। यहाँ यह भी ज्ञातव्य है कि जैनाचार्य जटासिंह नन्दी ने वरांगचरित (7वीं शती) में इस अवधारणा की स्पष्ट समीक्षा भी की थी। उन्होंने कहा था कि न तो सभी शूद्र काले होते हैं और न सभी ब्राह्मण शुक्ल वर्ण के होते हैं।

साथ ही महाभारत में वर्णों के आधार पर जीवों की उच्च एवं निम्न गतियों का भी उल्लेख हुआ है। साथ ही सभी वर्णों की चर्चा करते हुए भी बताया गया है कि नारकीय जीवों का वर्ण कृष्ण होता है, जो नरक से निकलते हैं उनका वर्ण धूस होता है। मानव जाति का वर्ण नीला होता है। देवों का रक्त वर्ण होता है। अनुग्रहशील विशिष्ट देवों का वर्ण हारिद्र और साधकों का वर्ण शुक्ल होता है। इस प्रकार हम देखते हैं कि वर्णों (रंगों) के आधार पर प्राणियों का वर्गीकरण अनेक दृष्टियों से किया गया है।

योग-सूत्र एवं लेश्या-सिद्धान्त

इसी प्रकार पतंजलि ने अपने योगसूत्र में चार जातियाँ प्रतिपादित की हैं : 1. कृष्ण, 2. कृष्ण-शुक्ल, 3. शुक्ल और 4. अशुक्ल-अकृष्ण। इन्हें क्रमशः अशुद्धतर, अशुद्ध, शुद्ध और शुद्धतर कहा गया है।

उपरोक्त आधारों पर यह कहा जा सकता है कि प्रारम्भ में कृष्ण और शुक्ल इन दो वर्णों की कल्पना को मनोवृत्ति, आचरण, गति आदि से जोड़ा गया। जैन दर्शन में इन्हें कृष्णपक्षी और शुक्लपक्षी कहा गया और कृष्णपक्षी को मिथ्या दृष्टि और शुक्ल पक्षी को सम्यक् दृष्टि माना गया। बौद्ध ग्रन्थ धम्मपद में कृष्णधर्म और शुक्लधर्म का उल्लेख करते हुए कहा गया है कि पण्डित कृष्ण धर्म का परित्याग कर शुक्ल धर्म का अनुसरण करे। आगे चलकर अकृष्ण अशुक्ल रूप निर्वाण कल्पना के साथ तीन वर्ग बनाये गये। फिर जन्म के आधार पर कृष्ण-अभिजाति और शुक्ल-अभिजाति की कल्पना का कर्म की दृष्टि से उक्त तीन अवस्थाओं से संयोग करके बौद्ध धर्म में भी छः वर्ग बने हैं, जिनकी चर्चा हम पूर्व में कर चुके हैं। इस प्रकार कृष्ण और शुक्ल दोनों के संयोग से कृष्ण-शुक्ल नामक तीसरे और दोनों का अतिक्रमण करने से चौथे वर्ग की कल्पना की गयी और इस प्रकार एक चतुर्विध वर्गीकरण भी हुआ। पतंजलि और बौद्ध दर्शन में यह चतुर्विध वर्गीकरण भी मिलता है। कृष्ण और शुक्ल वर्ण के मध्यवर्ती अन्य वर्णों की कल्पना के साथ आजीवक आदि कुछ प्राचीन श्रमण धाराओं में षट् अभिजातियों की और जैनधारा में लेश्याओं की अवधारणा सामने आयी है।

लेश्या सिद्धान्त एवं पाश्चात्य नीतिवेत्ता रास के नैतिक व्यक्तित्व का वर्गीकरण

पाश्चात्य नीतिशास्त्र में डब्ल्यू० रास भी एक ऐसा वर्गीकरण प्रस्तुत करते हैं जिसकी तुलना जैन लेश्या सिद्धान्त से की जा सकती है। रास कहते हैं कि नैतिक शुभ एक ऐसा शुभ है जो हमारे कार्यों, इच्छाओं, संवेगों तथा चरित्र से सम्बन्धित है। नैतिक शुभता का मूल्य केवल इसी बात में नहीं है कि उसका प्रेरक क्या है, वरन् उसकी अनैतिकता के प्रति अवरोधक शक्ति से भी है। उनके अनुसार नैतिक शुभत्व के सन्दर्भ में मनोभावों का उनके

निम्नतम रूप से उच्चतम रूप तक एक निम्न प्रकार से वर्गीकरण किया जा सकता है--

1. दूसरों को जितना अधिक दुःख दिया जा सकता है, देने की इच्छा ।
2. दूसरों को किसी विशेष प्रकार का अस्थायी दुःख उत्पन्न करने की इच्छा ।
3. नैतिक दृष्टि से अनुचित सुख प्राप्त करने की इच्छा ।
4. ऐसा सुख प्राप्त करने की इच्छा जो नैतिक दृष्टि से उचित न हो, लेकिन

अनुचित भी न हो ।

5. नैतिक दृष्टि से उचित सुख प्राप्त करने की इच्छा ।
6. दूसरों को सुख देने की इच्छा ।
7. कोई शुभ कार्य करने की इच्छा ।
8. अपने नैतिक कर्तव्य के परिपालन की इच्छा ।²⁷

रास अपने इस वर्गीकरण में जैन लेश्या सिद्धान्त के काफी निकट आ जाते हैं । जैन विचारक और रास दोनों स्वीकार करते हैं कि नैतिक शुभ का समन्वय हमारे कार्यों, इच्छाओं, संवेगों तथा चरित्र से है । यही नहीं दोनों व्यक्ति के नैतिक विकास का मूल्यांकन इस बात से करते हैं कि व्यक्ति के मनोभावों एवं आचरण में कितना परिवर्तन हुआ है और वह विकास की किस भूमिका में स्थित है । रास के वर्गीकरण के पहले स्तर की तुलना कृष्ण लेश्या की मनोभूमि से की जा सकती है, दोनों ही दृष्टिकोणों के अनुसार इस स्तर में प्राणी की मनोवृत्ति दूसरों को यथासम्भव दुःख देने की होती है । जैन विचारणा का जामुन के वृक्ष वाला उदाहरण भी यही बताता है कि कृष्णलेश्या वाला व्यक्ति उस जामुन के वृक्ष के मूल को प्राप्त करने की इच्छा रखता है अर्थात् जितना विनाश किया जा सकता है या जितना दुःख दिया जा सकता है, उसे देने की इच्छा रखता है । दूसरे स्तर की तुलना नील लेश्या से की जा सकती है । रास के अनुसार व्यक्ति इस स्तर में दूसरों को अस्थायी दुःख देने की इच्छा रखता है, जैनदृष्टि के अनुसार भी इस अवस्था में प्राणी दूसरों को दुःख उसी स्थिति में देना चाहता है, जब उनके दुःख देने से उसका स्वार्थ सधता है । इस प्रकार इस स्तर पर प्राणी दूसरों को तभी दुःख देता है जब उसका स्वार्थ उनसे टकराता हो । यद्यपि जैन दृष्टि यह स्वीकार करती है कि इस स्तर में व्यक्ति अपने छोटे से हित के लिए दूसरों का बड़ा अहित करने में नहीं सकुचाता । जैन विचारणा के उपर्युक्त उदाहरण में बताया गया है कि नील लेश्या वाला व्यक्ति फल के लिए समूल वृक्ष का नाश तो नहीं करता, लेकिन उसकी शाखा को काट देने की मनोवृत्ति रखता है अर्थात् उस वृक्ष का पूर्ण नाश नहीं, वरन् उसके एक भाग का नाश करता है । दूसरे शब्दों में आंशिक दुःख देता है । रास के तीसरे स्तर की तुलना जैन दृष्टि की कापोतलेश्या से की जा सकती है । जैन दृष्टि यह स्वीकार करती है कि नील और कापोत लेश्या के इन स्तरों में व्यक्ति सुखापेक्षी होता है, लेकिन जिन सुखों की वह गंवेष्ण करता है, वे वासनात्मक सुख ही होते हैं । दूसरे, जैन विचारणा यह भी स्वीकार करती है कि कापोत लेश्या के स्तर तक व्यक्ति अपने स्वार्थों या सुखों की प्राप्ति के लिए किसी नैतिक शुभाशुभता का विचार नहीं करता है । वह जो कुछ भी करता है वह मात्र स्वार्थ प्रेरित होता है । रास के तीसरे स्तर में व्यक्ति नैतिक

दृष्टि से अनुचित सुख प्राप्त करना चाहता है। इस प्रकार यहाँ पर भी रास एवं जैन दृष्टिकोण विचार-साम्य रखते हैं।

रास के चौथे, पाँचवें और छठे स्तरों की संयुक्त रूप से तुलना जैन दृष्टि की तेजोलेश्या के स्तर के साथ हो सकती है। रास चौथे स्तर में प्राणी की प्रकृति इस प्रकार बताते हैं कि व्यक्ति सुख तो पाना चाहता है, लेकिन वह उन्हीं सुखों की प्राप्ति का प्रयास करता है जो नैतिक दृष्टि से अनुचित भी नहीं हो, पाँचवें स्तर पर प्राणी नैतिक दृष्टि से उचित सुखों को प्राप्त करना चाहता है तथा छठे स्तर पर वह दूसरों को सुख देने का प्रयास भी करता है। जैन विचारणा के अनुसार भी तेजोलेश्या के स्तर पर प्राणी नैतिक दृष्टि से उचित से उचित सुखों को ही पाने की इच्छा रखता है, साथ-साथ वह दूसरे की सुख-सुविधाओं का भी ध्यान रखता है।

रास के सातवें स्तर की तुलना जैन-दृष्टि में पद्मलेश्या से की जा सकती है, क्योंकि दोनों के अनुसार इस स्तर पर व्यक्ति दूसरों के हित का ध्यान रखता है तथा दूसरों के हित के लिए उन सब कार्यों को करने में तत्पर रहता है, जो नैतिक दृष्टि से शुभ हैं।

रास के अनुसार मनोभावों के आठवें सर्वोच्च स्तर पर व्यक्ति को मात्र अपने कर्तव्य का बोध रहता है। वह हिताहित की भूमिकाओं से ऊपर उठ जाता है। इसी प्रकार जैन विचारणा के अनुसार भी नैतिकता की इस उच्चतम भूमिका में जिसे शुक्ल लेश्या कहा जाता है, व्यक्ति को समत्व भाव की उपलब्धि हो जाती है, अतः वह स्व और पर भेद से ऊपर उठकर मात्र आत्म-स्वरूप में स्थित रहता है।

इस प्रकार हम देखते हैं कि न केवल जैन, बौद्ध और बृहद् हिन्दू परम्परा वरन् पाश्चात्य विचारक भी इस विषय में एकमत हैं कि व्यक्ति के मनोभावों से उसके व्यक्तित्व का निर्माण होता है। व्यक्ति का आचरण एक ओर उसके मनोभावों का परिचायक है, तो दूसरी ओर उसके नैतिक व्यक्तित्व का निर्माता भी है। मनोभाव एवं तज्जनित आचरण जैसे-जैसे अशुभ से शुभ की ओर बढ़ता है, वैसे-वैसे व्यक्ति में भी परिपक्वता एवं विकास दृष्टिगत होता है। ऐसे शुद्ध, संतुलित, स्थिर एवं परिपक्व व्यक्तित्व का निर्माण जीवन का लक्ष्य है।

लेश्या सिद्धान्त का ऐतिहासिक विकासक्रम

जहाँ तक लेश्या की अवधारणा के ऐतिहासिक विकास क्रम का प्रश्न है। डॉ० ल्यूमेन और डॉ० हरमन जैकोबी की मान्यता यह है कि आजीवकों की षट्-अभिजातियों की कल्पना से ही जैनों में षट्-लेश्याओं की अवधारणा का विकास हुआ है। षट्-लेश्याओं के नाम आदि की षट्-अभिजातियों के नामों से बहुत कुछ साम्यता को देखकर उनका यह मान लेना अस्वाभाविक तो नहीं कहा जा सकता है फिर भी यदि अभिजाति सिद्धान्त और लेश्या-सिद्धान्त की मूल प्रकृति को देखें तो हमें दोनों में एक अन्तर प्रतीत होता है। अभिजाति का सिद्धान्त धार्मिक विश्वासों और साधनाओं के बाह्य आधार पर किया गया व्यक्ति का वर्गीकरण है, जबकि लेश्या का सिद्धान्त मनोवृत्तियों के आधार पर होने वाले मनोदैहिक परिवर्तनों और व्यक्ति के

व्यक्तित्व की चारित्रिक विशिष्टताओं का सूचक है। अतः नाम साम्यता होते हुए भी दोनों में दृष्टिगत भिन्नता है। दूसरे यह है कि पूर्णकश्यप, मंखली गोशाल आदि आजीवक आचार्य भी महावीर के समकालिक ही हैं, अतः किससे किसने लिया है यह कहना कठिन है। पुनः लेश्या शब्द जैनों का अपना पारिभाषिक शब्द है, किसी भी अन्य परम्परा में इस अर्थ में यह शब्द मिलता ही नहीं है। अतः इस अवधारणा के विकास का श्रेय तो जैन परम्परा को देना ही होगा। हो सकता है कि षट्-अभिजाति आदि उस युग में समानान्तर रूप से प्रचलित अन्य सिद्धान्तों से उन्होंने कृष्ण, शुक्ल, नील आदि नाम ग्रहण किये हों किन्तु यह भी ज्ञातव्य है कि षट्-अभिजातियों एवं षट्-लेश्याओं के नामों में भी पूरी समानता है केवल कृष्ण, नील और शुक्ल ये तीन समान हैं किन्तु लोहित, हारिद्र, पद्म-शुक्ल ये तीन नाम लेश्या सिद्धान्त में नहीं हैं, उनके स्थान पर कापोत, तेजो एवं पद्म ये तीन नाम मिलते हैं। अतः लेश्या सिद्धान्त अभिजाति सिद्धान्त की पूर्णतः अनुकृति नहीं है। मनोभावों, चारित्रिक विशुद्धि, लोक कल्याण की प्रवृत्ति आदि के आधार पर व्यक्तियों अथवा उनके व्यक्तित्व के वर्गीकरण की परम्परा सभी धर्म परम्पराओं में और सभी कालों में पाई जाती है। प्रत्येक धर्म परम्परा ने अपनी-अपनी दृष्टि से उस पर विचार किया।

ऐतिहासिक दृष्टि से लेश्या शब्द का प्रयोग अतिप्राचीन है। इतना निश्चित है कि प्राचीन पालि त्रिपिटक के दीघनिकाय और अंगुत्तरनिकाय, जिनमें अभिजाति का सिद्धान्त पाया जाता है, की अपेक्षा आचारांग का प्रथम श्रुतस्कन्ध भाषा, शैली और विषयवस्तु तीनों ही दृष्टियों से प्राचीन है। विद्वान् उसे ई० पू० पाँचवी-चौथी शती का ग्रन्थ मानते हैं और उसमें अबहिलेस्से²⁸ शब्द की उपस्थिति यही सूचित करती है कि लेश्या की अवधारणा महावीर के समकालीन है। पुनः उत्तराध्ययनसूत्र जो आचारांग और सूत्रकृतांग के अतिरिक्त अन्य सभी आगमों से प्राचीन माना जाता है, में लेश्याओं के सम्बन्ध में एक पूरा अध्ययन उपलब्ध होना यही सूचित करता है कि लेश्या की अवधारणा एक प्राचीन अवधारणा है। जैन दर्शन में आध्यात्मिक और चारित्रिक विशुद्धि की दृष्टि से परवर्ती काल में जो त्रिविध आत्मा का सिद्धान्त और गुण स्थान के सिद्धान्त अस्तित्व में आये, उसकी अपेक्षा लेश्या का सिद्धान्त प्राचीन है। क्योंकि न केवल आचारांग और उत्तराध्ययन में अपितु सूत्रकृतांग में 'सुविशुद्धलेसे' तथा औपपातिकसूत्र में 'अपडिलेस्स' शब्दों का उल्लेख मिलता है। यहाँ सर्वत्र लेश्या शब्द मनोवृत्ति का ही परिचायक है और साधक की आत्मा विशुद्धि की स्थिति को सूचित करता है।

वस्तुतः लेश्या सिद्धान्त में आत्मा के संक्लिष्ट अथवा विशुद्ध परिणामों की चर्चा रंगों के आधार पर की गयी है। यह रंगों के आधार पर व्यक्तियों और उनके मनोभावों के वर्गीकरण की परम्परा भारतीय साहित्य में अति प्राचीन काल से रही है।

लेश्या की अवधारणा को प्राचीन कहने से हमारा यह तात्पर्य नहीं कि उसमें कोई विकास नहीं हुआ। यदि हम जैन साहित्य में उपलब्ध लेश्या सम्बन्धी विवरणों को पढ़ें तो स्पष्ट हो जाता है कि लेश्या-अवधारणा की अनेक दृष्टियों से विवेचना की गयी है। सर्वप्रथम

उत्तराध्ययनसूत्र²⁹ में नाम, वर्ण, रस, गंध, स्पर्श, परिणाम, लक्षण, स्थान, स्थिति, गति और आयु इन ग्यारह विचार बिन्दुओं (द्वारों) से उस पर विचार किया गया है। जबकि भगवती एवं प्रज्ञापनासूत्र³⁰ में निम्न पन्द्रह विचार बिन्दुओं (द्वारों) से लेश्या की चर्चा की गयी है।

1. परिणाम, 2. वर्ण, 3. रस, 4. गंध, 5. शुद्ध, 6. अप्रशस्त, 7. संक्लिष्ट, 8. उष्ण, 9. गति, 10. परिणाम, 11. प्रदेश, 12. वर्णाणा, 13. अवगाहना, 14. स्थान एवं 15. अल्पबहुत्व।

इसके पश्चात् दिगम्बर परम्परा में अकलंक ने तत्त्वार्थराजवार्तिक³¹ में लेश्या की विवेचना के निम्न सोलह अनुयोगों की चर्चा की है-- 1. निर्देश, 2. वर्ण, 3. परिणाम, 4. संक्रम, 5. कर्म, 6. लक्षण, 7. गति 8. स्वामित्व, 9. संख्या, 10. साधना, 11. क्षेत्र 12. स्पर्शन, 13. काल, 14. अन्तर, 15. भाव और 16. अल्प बहुत्व।

अकलंक के पश्चात् गोम्मतसार के जीवकाण्ड³² में भी लेश्या की विवेचना के उपर्युक्त 16 ही अधिकारों का उल्लेख हुआ है। विस्तारभय से हम यहाँ इन सभी की चर्चा नहीं कर रहे हैं किन्तु तुलनात्मक दृष्टि से विचार करने पर स्पष्ट होता है कि ऐतिहासिक दृष्टि से लेश्या का प्राचीन होने पर भी इसमें क्रमिक विकास देखने को मिलता है। इसकी विस्तृत चर्चा कु० (डॉ०) शान्ता जैन ने अपने शोध-प्रबंध में की है।

आधुनिक विज्ञान और लेश्या सिद्धान्त

हम देखते हैं कि ई० पू० पाँचवीं शताब्दी से ई० पू० दशवीं शताब्दी तक लेश्या सम्बन्धी चिन्तन में जो क्रमिक विकास हुआ था, वह 11-12वीं शताब्दी के बाद प्रायः स्थिर हो गया था। किन्तु आधुनिक युग में मनोविज्ञान, रंग-मनोविज्ञान, रंग-चिकित्सा आदि ज्ञान की नयी विधाओं के विकास के साथ जैन दर्शन की लेश्या संबंधी विवेचनाओं को एक नया मोड़ प्राप्त हुआ। जैन दर्शन के लेश्या सिद्धान्त को आधुनिक विज्ञान के परिप्रेक्ष्य में व्याख्यायित करने का मुख्य श्रेय आचार्य तुलसी के विद्वान शिष्य युवाचार्य महाप्रज्ञ जी को जाता है। उन्होंने आधुनिक व्यक्तित्व मनोविज्ञान के साथ-साथ आभामण्डल, रंग-मनोविज्ञान, रंग-चिकित्सा आदि अवधारणाओं को लेकर 'आभामण्डल' जैनयोग आदि अपने ग्रंथ में इसका विस्तार से वर्णन किया है। प्राचीन और अर्वाचीन अवधारणाओं को लेकर कु० डॉ० शान्ता जैन ने लेश्या का मनोवैज्ञानिक अध्ययन नामक एक शोध-प्रबन्ध लिखा है जिसमें लेश्या के विभिन्न पक्षों की चर्चा की गयी है। उन्होंने अपने इस शोध-ग्रन्थ में लेश्या का सैद्धान्तिक पक्ष, मनोवैज्ञानिक परिप्रेक्ष्य में लेश्या, रंगों की मनोवैज्ञानिक प्रस्तुति, लेश्या और आभामण्डल, व्यक्तित्व और लेश्या, सम्भव है व्यक्तित्व बदलाव और लेश्या ध्यान, रंगध्यान और लेश्या आदि लेश्या के विभिन्न आयामों पर गम्भीरता से विचार किया है।

वस्तुतः उनका यह ग्रन्थ लेश्या की प्राचीन अवधारणा की आधुनिक ज्ञान-विज्ञान के सन्दर्भ में एक नवीन व्याख्या है और भावी लेश्या सम्बन्धी अध्ययनों के लिए मार्ग प्रदर्शक है। इसके अध्ययन से यह प्रतिफलित होता है कि भारतीय चिन्तन की प्राचीन अवधारणाओं को

आधुनिक ज्ञान-विज्ञान के सन्दर्भ में किस प्रकार प्रस्तुत किया जा सकता है और उनकी समकालिक प्रासंगिकता को कैसे सिद्ध किया जा सकता है। आशा है आधुनिक विज्ञान और मनोविज्ञान के अध्येता इस दिशा में अपने प्रयत्नों को आगे बढ़ावेंगे और इस प्रकार के अध्ययन का जो द्वार युवाचार्य महाप्रज्ञ और डॉ० शान्ता जैन ने उद्घाटित किया है, उसे नया आयाम प्रदान करेंगे और साथ ही मानव के चारित्रिक बदलाव और आध्यात्मिक विशुद्धि की दिशा में सहयोगी बनेंगे। आज पर्यावरण की विशुद्धि पर ध्यान तो दिया जाने लगा है किन्तु इस भौतिक पर्यावरण की अपेक्षा जो हमारा मनोदैहिक और मानसिक पर्यावरण है और जिसे जैन परम्परा में लेश्या कहा गया है उसे भी शुद्ध रखने की आवश्यकता है। मैं समझता हूँ कि लेश्या की अवधारणा हमें यही इंगित करती है कि हम संक्लिष्ट मानसिक परिणामों से ऊपर उठकर अपने मानसिक पर्यावरण को किस प्रकार शुद्ध रख सकते हैं।

सन्दर्भ

1. देखें -- अभिधान राजेन्द्र कोष, खण्ड 3, पृ० 395
2. लेश्या -- अतीव चक्षुरादीपिका सिन्ध, दीप्त, रूपा छाया -- उत्तराध्ययन बृहद् वृत्ति पत्र 650
3. देखें -- भगवती आराधना, भाग 2 (सम्पादक पं० कैलाशचन्द्र जी शास्त्री), जैन संस्कृति संरक्षक संघ, शोलापुर, गाथा 1901
4. श्री पुष्करमुनि अभिनन्दन ग्रन्थ, खण्ड पंचम, पृ० 461
5. डॉ० शान्ता जैन, लेश्या का मनोवैज्ञानिक अध्ययन, प्रथम अध्याय
6. अभिधान राजेन्द्र, खण्ड 6, पृ० 675
7. (अ) दर्शन और चिन्तन, भाग 2, पृ० 297
(ब) अभिधान राजेन्द्र, खण्ड 6, पृ० 675
8. उत्तराध्ययन, 34/3
9. एथिकल्स स्टडीज, पृ० 65
10. उत्तराध्ययन, 34/21-22
11. वही, 34/21-22
12. वही, 34/25-26
13. वही, 34/27-28
14. वही, 34/29-30.
15. वही, 34/31-32
16. अंगुत्तरनिकाय, 6/3
17. वही, 6/3
18. गीता, 16/6
19. वही 16/5
20. अभिधान राजेन्द्र, खण्ड 6, पृ० 687

21. उत्तराध्ययन, 34/56-57
22. दर्शन और चिन्तन, भाग - 2, पृ० 112
23. उत्तराध्ययन 34/27-32
24. गीता, 16/1-3
25. उत्तराध्ययन, 34/21-36
26. गीता, 16/7-18
27. फाउण्डेशन ऑफ एथिक्स - उद्धृत, Contemporary Ethical Theories, पृ० 332
28. आचारो - 6/106
29. उत्तराध्ययन - 34/2
30. प्रज्ञापना सूत्र, 17/411
31. तत्त्वार्थराजवार्तिक, पृ० 238
32. गोम्मटसार - जीवकाण्ड, गाथा 491-492

प्रज्ञापुरुष पं० जगन्नाथजी उपाध्याय की दृष्टि में बुद्ध "व्यक्ति" नहीं "प्रक्रिया" (एक संस्मरण)

- प्रो० सागरमल जैन
- डॉ० रमेश चन्द्र गुप्त

मेरे शोध-छात्र श्री रमेशचन्द्र गुप्त "तीर्थंकर, बुद्ध और अवतार की अवधारणा" पर शोध कार्य कर रहे थे। हम लोगों के सामने मुख्य समस्या थी कि ईश्वर और आत्मा की सत्ता को अस्वीकार करने वाले क्षणिकवादी बौद्ध दर्शन में बुद्ध, बोधिसत्त्व और त्रिकाय की अवधारणाओं की संगतिपूर्ण व्याख्या कैसे सम्भव है ? जब किसी नित्य आत्मा की सत्ता को ही स्वीकार नहीं किया जा सकता है, तो हम कैसे कह सकते हैं कि कोई व्यक्ति बुद्ध-बनता है। पुनः जब आत्मा ही नहीं है तब बोधिचित्त का उत्पात किसमें होता है ? पुनः बौद्ध दर्शन यह भी मानता है कि प्रत्येक सत्त्व बुद्ध-बीज है, किन्तु जब सत्त्व की ही क्षण मात्र से अधिक सत्ता नहीं है तो वह बुद्ध-बीज कैसे होगा और कैसे वह बोधिसत्त्व होकर विभिन्न जन्मों में बोधिपरिमिताओं की साधना करता हुआ बुद्धत्व को प्राप्त करेगा ? यदि सत्ता मात्र क्षण-जीवी है तो क्या बुद्ध का अस्तित्व भी क्षण-जीवी है ?¹

महासंघिकों ने तो बुद्ध के रूपकाय को भी अमर और उनकी आयु को अनन्त माना है।² सद्धर्मपुण्डरीक में भी बुद्ध की आयु अपरिमित कही गई है।³ किन्तु यदि बुद्ध का रूपकाय अमर और आयु अपरिमित या अनन्त है तो फिर बौद्ध दर्शन की क्षणिकवादी अवधारणा कैसे सुसंगत सिद्ध होगी ?

पुनः बौद्धदर्शन में यह भी माना जाता है कि बुद्ध निर्माणकाय के द्वारा नाना रूपों में प्रकट होकर लोहित के लिए उपदेश करते हैं तो फिर यह समस्या स्वाभाविक रूप से उत्पन्न होती है कि किसी नित्य-तत्त्व के अभाव में इस निर्माणकाय की रचना कौन करता है ? यदि विशुद्धिमग की भाषा में हम मात्र क्रिया की सत्ता माने, कर्त्ता की नहीं, तो फिर कोई व्यक्ति मार्ग का उपदेशक कैसे हो सकता है ? धर्मचक्र का प्रवर्तन कौन करता है ? वह कौन सा सत्त्व या चित्त है, जो बुद्धत्व को प्राप्त होता है और परम कारुणिक होकर जन-जन के कल्याण के लिए युगों-युगों तक प्रयत्नशील बना रहता है ? महायानसूत्रालंकार में यह भी कहा गया है कि बुद्ध के तीनों काय, आश्रय और कर्म से निर्विशेष हैं। इन तीनों कार्यों में तीन प्रकार की नित्यता है, जिनके कारण तथागत नित्य कहलाते हैं।⁴ समस्या यह है कि एकान्तरूप से क्षणिकवादी बौद्ध के दर्शन में नित्य त्रिकायों की अवधारणा कैसे सम्भव हो सकती है ?

ये सभी समस्याएँ हमारे मानस को झकझोर रही थीं और हम यह निश्चित नहीं कर

पा रहे थे कि अनात्मवादी बौद्ध दर्शन के सांचे में इन विसंगतियों का निराकरण कैसे सम्भव हो सकता है ? इस सम्बन्ध में हमने बौद्ध-विद्या एवं दर्शन के विद्वानों से विचार-विमर्श किये परन्तु ऐसा कोई समाधान नहीं मिला जो हमारे मानस को पूर्ण सन्तोष दे सके ।

इन्हीं समस्याओं को लेकर हमने अन्ततोगत्वा वाराणसी के बौद्धधर्म एवं दर्शन के वरिष्ठ विद्वान् पं० जगन्नाथजी उपाध्याय की सेवा में उपस्थित होने का निश्चय किया और एक दिन उनके पास पहुँच ही गये । हमने उनसे इन समस्याओं के सन्दर्भ में लगभग दो घण्टे तक चर्चा की । इन समस्याओं के सम्बन्ध में उनसे हमें जो उत्तर प्राप्त हुए, उनसे न केवल हमें सन्तोष ही हुआ, बल्कि यह भी बोध हुआ कि पं० जगन्नाथजी उपाध्याय ऐसे बहुश्रुत विद्वान् हैं, जो बौद्धधर्म एवं दर्शन को उसके ही धरातल पर खड़े होकर समझने और उसके सम्बन्ध में उठायी गयी समस्याओं का उसकी ही दृष्टि से समाधान देने की सामर्थ्य रखते हैं । सम्भवतः उनके स्थान पर दूसरा कोई पण्डित होता तो वह इन समस्याओं को बौद्धदर्शन की कमजोरी कहकर अलग हो जाता । किन्तु उन्होंने जो प्रत्युत्तर दिये, वे इस बात के प्रमाण हैं कि उन्होंने निष्ठापूर्वक श्रमण-परम्परा का और विशेष रूप से बौद्ध परम्परा का गम्भीर अध्ययन किया था । यद्यपि नित्य आत्म तत्त्व के अभाव में कर्म-फल, पुनर्जन्म, निर्वाण आदि की समस्याओं का समाधान बौद्धदर्शन के अनात्मवादी और क्षणिक ढाँचे में कैसे सम्भव है ? इस समस्या के समाधान के लिए प्रो० हिरियन्ना ने अपने ग्रन्थ "भारतीय दर्शन के मूलतत्त्व" (Elements of Indian Philosophy) में किसी सीमा तक एक समाधान देने का प्रयत्न किया है । किन्तु पण्डित जगन्नाथजी उपाध्याय ने बुद्धत्व की समस्याओं का इसी दृष्टि से जो समाधान प्रस्तुत किया उसके आधार पर वे निश्चित ही बौद्ध दर्शन के प्रत्युत्पन्नमति के श्रेष्ठ दार्शनिक कहे जा सकते हैं, क्योंकि "बुद्ध" की अवधारणा के सन्दर्भ में उपर्युक्त समस्याओं का समाधान न तो हमें ग्रन्थों से और न विद्वानों से प्राप्त हो सका था । उपर्युक्त समस्याओं के सन्दर्भ से प्रज्ञापुरुष पं० जगन्नाथजी उपाध्याय ने जो समाधान दिये थे, उनकी भाषा चाहे आज हमारी अपनी हो, परन्तु विचार उनके ही हैं । वस्तुतः हम उनकी ही बात अपनी भाषा में व्यक्त कर रहे हैं -- यदि हमें इस बात का जरा भी एहसास होता कि इतने सुन्दर समाधान प्राप्त होंगे और पं० जी हम लोगों के बीच से इतनी जल्दी विदा हो जायेंगे ? तो हम उनकी वाणी को रिकार्ड करने की पूर्ण व्यवस्था कर लेते । किन्तु आज हमारे बीच न तो वह प्रतिभा है और न इस सम्बन्ध में उनके शब्द ही हैं । फिर भी हम जो कुछ लिख रहे हैं, वह उनका ही कथन है । यद्यपि प्रस्तुतीकरण की कमी हमारी अपनी हो सकती है ।

उनका कहना था कि बुद्धत्व की अवधारणा के सन्दर्भ में आपके द्वारा प्रस्तुत इन सभी असंगतियों का निराकरण चित्तसन्तति या चित्तधारा के रूप में किया जा सकता है । हम बुद्ध को व्यक्ति न मानें, अपितु परार्थ क्रियाकारित्व की एक प्रक्रिया मानें । बुद्ध एक नित्य-व्यक्तित्व (An Eternal Personality) नहीं, अपितु एक प्रक्रिया (A Process) है । बुद्ध के जो तीन या चार काय माने गये हैं, वे इस प्रक्रिया के उपाय या साधन हैं । धर्मकाय की नित्यता की जो बात कही गयी है, वह स्थितिगत नित्यता नहीं अपितु क्रियागत नित्यता है । जिस

प्रकार नदी का प्रवाह युगों-युगों तक चलता रहता है यद्यपि उसमें क्षण-क्षण परिवर्तन और नवीनता होती रहती है। ठीक उसी प्रकार बुद्ध या बोधिसत्त्व भी एक चित्तधारा है, जो उपायों के माध्यम से सदैव परार्थ में लगी रहती है।

बुद्ध के सन्दर्भ में जो त्रिकायों की अवधारणा है उसका अर्थ यह नहीं कि कोई नित्य आत्मसत्ता है, जो इन कार्यों को धारण करती है। वस्तुतः ये काय परार्थ के साधन या उपाय हैं। जिस चित्तधारा से बोधिचित्त का उत्पाद होता है, वह बोधिचित्त इन कार्यों के माध्यम से कार्य करता है। बुद्धत्व कोई व्यक्ति नहीं है, अपितु वह एक प्रक्रिया (A Process) है। धर्म की नित्यता मार्ग की नित्यता है। धर्म भी कोई वस्तु नहीं, अपितु प्रक्रिया है। जब हम धर्मकाय की नित्यता की बात करते हैं, तो वह व्यक्ति की नित्यता नहीं अपितु प्रक्रिया विशेष की नित्यता है। धर्मकाय नित्य है, इसका तात्पर्य यही है कि धर्म या परिनिर्वाण के उपाय नित्य हैं। बौद्धदर्शन में कार्यों की इस अवधारणा को भी हमें इसी उपाय प्रक्रिया के रूप में समझना चाहिए। ऐसा नहीं मानना चाहिए कि कोई नित्य आत्मा है, जो इन्हें धारण करती है। अपितु इन्हें परार्थक्रियाकारित्व के उपायों के रूप में समझना चाहिए और यह मानना चाहिए कि परार्थक्रियाकारित्व ही बुद्धत्व है।

बुद्ध के त्रिकायों के नित्य होने का अर्थ इतना ही है कि परार्थक्रियाकारित्व की प्रक्रिया सदैव-सदैव रहती है। वह चित्त जिसने लोकमंगल का संकल्प ले रखा है, जब तक वह संकल्प पूर्ण नहीं होता है, अपने इस संकल्प की क्रियान्विति के रूप में परार्थ-क्रिया करता रहता है। साथ ही वह संकल्प लेने वाला चित्त भी आपकी, हमारी या किसी की भी चित्तधारा की सन्तान हो सकता है। क्योंकि सभी चित्तधाराओं में बोधिचित्त के उत्पाद की सम्भावना है। इसी आधार पर यह कहा जाता है कि सभी जीव बुद्ध-बीज हैं। महायान में जो अनन्त बुद्धों की कल्पना है, वह कल्पना भी व्यक्ति की कल्पना नहीं, अपितु प्रक्रिया की कल्पना है। क्योंकि यदि प्रक्रिया को सतत् चलना है तो हमें अनन्त बुद्धों की अवधारणा को स्वीकार करना होगा। यदि प्रत्येक चित्तधारा में बोधिचित्त के उत्पाद की सम्भावना है, तो ऐसी स्थिति में बोधिचित्त एक नहीं अनेक भी हो सकते हैं। वस्तुतः बुद्ध के सम्बन्ध में जो एकत्व और अनेकत्व के सन्दर्भ उपलब्ध हैं, वे भी कोई विरोधाभास प्रस्तुत नहीं करते। प्रक्रिया के रूप में बुद्ध एक है, किन्तु प्रक्रिया के घटकों के रूप में वे अनेक भी हैं। बुद्ध अनेक रूपों में प्रकट होते हैं इसका तात्पर्य यह नहीं कि कोई व्यक्ति अनेक रूपों में प्रकट होता है, अपितु यह कि लोकमंगलकारी चित्तधारा, जो एक प्रक्रिया है, अनेक रूपों में प्रकट होती हुई अनेक रूपों में लोकमंगल करती है। बुद्ध के द्वारा अनेक सम्भोगकाय धारण करने का मतलब यह है कि बोधिचित्तधारा के अनेक चित्तक्षण अनेकानेक उपायों से लोकहित का साधन करते हैं। महायान परम्परा में बोधिचित्त के इस संकल्प का, कि जब तक समस्त प्राणी निर्वाण लाभ न कर लें या दुःख से मुक्त नहीं हो जाते, तब तक मैं लोक-मंगल के लिए सतत् प्रयत्नशील रहूँगा, तात्पर्य यह है कि चित्त-संतति की धारा सतत् रूप से लोकमंगल में तत्पर रहने का निर्णय लेती है और तदनुसार अपनी चित्तसंतति के प्रवाह को बनाये रखती है। पुनः बुद्ध के सन्दर्भ में जो यह

कहा जाता है कि बुद्ध न तो निर्वाण में स्थित हैं और न संसार में। इसका कारण यह है कि महायान परम्परा में बुद्ध के दो प्रमुख लक्षण माने गये हैं -- प्रज्ञा और करुणा। प्रज्ञा के कारण बोधिचित्त संसार में प्रतिष्ठित नहीं होता। दूसरे शब्दों में प्रज्ञा उन्हें संसार में प्रतिष्ठित नहीं होने देती। (कोई भी प्रज्ञायुक्त पुरुष दुःखमय संसार में रहना नहीं चाहेगा), किन्तु दूसरी ओर बुद्ध अपने करुणा-लक्षण के कारण निर्वाण में भी प्रतिष्ठित नहीं हो पाते। उनकी करुणा उन्हें निर्वाण में भी प्रतिष्ठित नहीं होने देती, क्योंकि कोई भी परमकारुणिक व्यक्तित्व दूसरों को दुःखों में लीन देखकर कैसे निर्वाण में प्रतिष्ठित रह सकता है।

अतः बोधिचित्त न तो वे निर्वाण प्राप्ति के कारण निष्क्रिय होते हैं और न लोकमंगल करते हुए भी संसार में आबद्ध होते हैं। यह बोधिचित्त भी व्यक्ति नहीं प्रक्रिया ही होता है जो निर्वाण को प्राप्त करके भी लोकमंगल के हेतु सतत् क्रियाशील बना रहता है और यही लोकमंगल के क्रियाशील बोधि प्राप्त चित्त सन्तति ही बुद्ध या बोधिसत्त्व है। अतः बुद्ध नित्य-व्यक्तित्व नहीं अपितु नित्य प्रक्रिया है और बुद्ध की नित्यता का अर्थ लोकमंगल की प्रक्रिया की नित्यता है।

सन्दर्भ

1. द्रष्टव्य -- तीर्थंकर, बुद्ध और अवतार, सम्पादक - डॉ० सागरमल जैन, लेखक डॉ० रमेश चन्द्र गुप्त, प्रकाशक -- पार्श्वनाथ विद्याश्रम शोध संस्थान, वाराणसी-5, पृ० 169-172
2. द्रष्टव्य -- बौद्धधर्म के विकास का इतिहास, पृ० 341
3. सद्धर्मपुण्डरीक, पृ० 206-207
4. महायानसूत्रालंकार, पृ० 45-46



पार्श्वनाथ विद्यापीठ के नये प्रकाशन

पुस्तक - तत्त्वार्थसूत्र और उसकी परम्परा

लेखक एवं सम्पादक - प्रो० सागरमल जैन

प्रकाशक - पूज्य सोहनलाल स्मारक पार्श्वनाथ शोधपीठ (ग्र० मा० सं० ६७), वाराणसी - ५, १९६४

आकार - डिमाई पेपर बैक, पृष्ठ - १२+१४८, मूल्य - तीस रुपये मात्र।

तत्त्वार्थसूत्र संक्षेप में जैनधर्म एवं दर्शन की सभी मूलभूत मान्यताओं को प्रस्तुत करने के कारण जैनधर्म का प्रतिनिधि ग्रन्थ माना जाता है। इसकी मान्यता सभी परम्पराओं में है। इसके लेखक, लेखनकाल, परम्परा आदि को लेकर विद्वानों में मतभेद है। विभिन्न सम्प्रदाय के विद्वानों द्वारा इसे अपनी अपनी परम्परा का ग्रन्थ सिद्ध करने का प्रयत्न किया गया है जिसके फलस्वरूप एक दूसरे पर आरोप प्रत्यारोप भी लगाये गये, जिससे मतभेद और भी गहरे होते गये।

प्रो० सागरमलजी जैन ने अत्यन्त परिश्रम से तत्त्वार्थसूत्र के लेखक, रचनाकाल, लेखक की परम्परा आदि प्रश्नों पर विचार किया है और अपने निष्कर्ष भी प्रस्तुत किये हैं। इस कृति में लेखक ने पूर्ववर्ती मुनियों एवं विद्वानों की कृतियों का भलीभाँति अध्ययन किया है और उनके द्वारा दिये गये तर्कों एवं निष्कर्षों की समीक्षा करते हुए अपना मन्तव्य प्रस्तुत किया है। लेखक का यह कथन है कि तत्त्वार्थसूत्र साम्प्रदायिक विघटन एवं साम्प्रदायिक मान्यताओं के स्थिरीकरण के पूर्व की रचना है।

लेखक ने इस कृति को जैनविद्या के मूर्धन्य विद्वान् पं० सुखलालजी संघवी, पं० बेचरदास जी दोशी, पं० नाथूराम जी प्रेमी, पद्मभूषण पं० दलसुखभाई मालवणिया, प्रो० हीरालाल जी, प्रो० नथमल टाटिया एवं प्रो० मधुसूदन जी ढाकी को समर्पित किया है।



पुस्तक - सागर जैन विद्याभारती (भाग १)

लेखक एवं सम्पादक - प्रो० सागरमल जैन

प्रकाशक - पार्श्वनाथ शोधपीठ (ग्र० मा० सं० ७०) वाराणसी-५,

प्रथम संस्करण - १९६४, पृष्ठ - ३२+२६४, आकार - डिमाई पेपर बैक,

मूल्य - १०० रुपये मात्र

पार्श्वनाथ शोधपीठ के निदेशक प्रो० सागरमल जैन का अध्ययन और लेखन क्षेत्र बहुत ही व्यापक रहा है। प्रो० जैन उन अग्रणी विद्वानों में से हैं जिनका जैन विद्या के लगभग सभी पक्षों पर समान अधिकार है। आपने विभिन्न पत्र-पत्रिकाओं, शोध-पत्रिकाओं, अभिनन्दन ग्रन्थों, स्मृति-ग्रन्थों, संगोष्ठियों, सम्मेलनों के लिये और भूमिका के रूप में अभी तक लगभग कुल तीन हजार पृष्ठों की सामग्री लिखी है। जिसे दस खण्डों में प्रकाशित करने की योजना है। इस प्रथम खण्ड में १८ लेख संगृहीत हैं।

इस खण्ड के प्रारम्भ के ३३ पृष्ठों में प्रो० सागरमल जैन के व्यक्तित्व एवं कृतित्व का भी उल्लेख किया गया है। इस खण्ड में संगृहीत लेखों एवं निबन्धों का शीर्षक इस प्रकार है —

१. जैनधर्म-दर्शन का सारतत्त्व, २. भगवान महावीर का जीवन एवं दर्शन,
३. जैनधर्म में भक्ति की अवधारणा, ४. जैनधर्म में स्वाध्याय का अर्थ एवं स्थान,
५. जैनसाधना में ध्यान, ६. अर्धगामी आगम साहित्य में समाधिमरण की अवधारणा,
७. जैन कर्म सिद्धान्त — एक विश्लेषण, ८. भारतीय संस्कृति का समन्वित स्वरूप,
९. पर्यावरण के प्रदूषण की समस्या और जैनधर्म, १०. जैनधर्म और सामाजिक समता,
११. जैन आगमों में मूल्यात्मक शिक्षा और वर्तमान सन्दर्भ, १२. खजुराहो की कला और जैनाचार्यों की समन्वयात्मक एवं सहिष्णु दृष्टि, १३. महापण्डित राहुल सांकृत्यायन के जैनधर्म सम्बन्धी मन्तव्यों की समालोचना, १४. ऋग्वेद में अर्हत् और ऋषभवाची ऋचायें — एक अध्ययन, १५. निर्युक्ति साहित्य : एक पुनर्विन्तन, १६. जैन एवं बौद्ध पारिभाषिक शब्दों के अर्थ निर्धारण और अनुवाद की समस्या, १७. जैन आगमों में हुआ भाषिक स्वरूप परिवर्तन — एक विमर्श, १८. भगवान् महावीर की निर्वाणतिथि पर पुनर्विचार।



पुस्तक — नेमिदूतम्

लेखक — कवि विक्रम, हिन्दी अनुवाद — डॉ० धीरेन्द्र मिश्र

प्रकाशक — पार्श्वनाथ शोधपीठ (ग्र० सं० ६८)

प्रथम संस्करण — १९६४, पृष्ठ — ४६+१३६,

आकार — पेपर बैक डिमाई, मूल्य — ५० रु० मात्र।

नेमिदूतम् की कथावस्तु २२वें तीर्थंकर नेमिनाथ तथा राजीमती से सम्बन्धित है, जिसमें नेमिनाथ द्वारा सांसारिक विषय-वासनाओं से विरक्त होकर परमपद की प्राप्ति हेतु योग-साधना में रामगिरि पर निवास करना है। नेमिनाथ के उक्त वृत्तान्त को जानकर राजीमती (जिसका विवाह नेमिनाथ के साथ होना था) उनका अनुगमन करती हुई रामगिरि पर जाकर नेमिनाथ से लौट आने के लिए बहुविध-प्रार्थना करती है, किन्तु वह नेमिनाथ को समझने में असफल हो जाती है। तत्पश्चात्

नेमिनाथ राजीमती को उपदेश देकर अपने संघ में साध्वी के रूप में दीक्षित कर देते हैं।

उक्त घटना को कवि ने जिस विलक्षण कल्पना से प्रस्तुत किया वस्तुतः वह अनुपम है। साथ ही शान्तरस प्रधान इस गीति-काव्य में कवि ने जितनी चतुराई से शृंगार रस की योजना की है उससे कहीं अधिक करुण रस की योजना में कवि की काव्य-कुशलता दिखाई देती है। यही नहीं साहित्यिक दृष्टि से भी यह ग्रन्थ अपने आपमें विलक्षण है।

नेमिदूतम् की व्याख्या करके धीरेन्द्र मिश्र ने इस कृति को पाठकों के समक्ष सरल एवं सुबोध रूप में प्रस्तुत करने का प्रयास किया है।

■

पुस्तक - भगवान महावीर निर्वाण-भूमि पावा : एक विमर्श

लेखक - भगवती प्रसाद खेतान, सम्पादक - डॉ० अशोक कुमार सिंह,

प्रकाशक - पूज्य सोहनलाल स्मारक पार्श्वनाथ, शोधपीठ (ग्र० मा० सं० ६१), वाराणसी - ५, प्रथम संस्करण - १९६३

पृष्ठ - २३४, आकार - डिमाई पेपर बैक, मूल्य - ६० रुपये (मानचित्र, मूर्ति-अभिलेख आदि के चित्रों सहित)।

भगवान महावीर की निर्वाण-भूमि पावा के अन्वेषण की दिशा में जो कठिन परिश्रम श्री भगवती प्रसाद जी ने किया है वह अत्यन्त सराहनीय और स्पृहणीय है। जैन समाज गंगा के दक्षिण-पश्चिम में राजगृह के निकट स्थित पावापुरी को महावीर की निर्वाणस्थली मानता आया है पर भारतीय पाश्चात्य शोध विद्वानों का निष्कर्ष यह है कि महावीर की निर्वाणस्थली वैशाली और श्रावस्ती के मध्य गंगा के उत्तर में गंडक के समीप कहीं थी। विद्वानों द्वारा अद्यावधि निम्न स्थलों को पावा सिद्ध करने का प्रयास किया गया है -

१. ग्राम पपतार, २. पवैया, ३. आज्ञा, ४. उस्मानपुर, ५. झरमटिया, ६. पपउर, ७. सठियाँव फाजिलनगर एवं ८. पावापुरी पडरौना। विद्वान् लेखक ने सब स्थानों के सम्बन्ध में देशी विदेशी पुरातत्वज्ञों के प्रमाणों की सबल समीक्षा की है और विस्तार से यह सिद्ध करने का प्रयत्न किया है कि पडरौना ही महावीर की निर्वाण भूमि प्राचीन पावा है। पडरौना को पावा सिद्ध करने के लिए उन्होंने पडरौना-अनुशीलन, भौगोलिक चिन्तन, पुरातत्त्विक सर्वेक्षण, पावा-गंडक सम्बन्ध, प्रागबुद्धकालीन और बुद्धकालीन मार्ग के विवेचन से उन्होंने पडरौना की स्थिति को मजबूत करने का बहुत अच्छा प्रयत्न किया है।

विद्वान् लेखक ने अपने ग्रन्थ में पावा - सम्भावित क्षेत्रफल के सम्बन्ध में ८ परिशिष्ट भी जोड़े हैं। कुल मिलाकर यह श्री खेतानजी के दीर्घकालीन गहन अध्ययन, अनुसन्धान तथा चिन्तन का अनुकरणीय परिचायक है। यह श्री खेतानजी

की सुशीलता है कि उन्होंने भगवान महावीर की परम्परागत निर्वाण-स्थली पावापुरी को तिरस्कृत किये बिना पडरौना को उनका निर्वाणस्थल सिद्ध किया है। पडरौना के प्राचीन टीले का आगे पुरातात्विक उत्खनन किया जाय तो और महत्वपूर्ण तथ्य सामने आयेंगे और भविष्य में पडरौना को जैन समाज के पूजनीय तीर्थस्थल के रूप में आदर प्राप्त हो सकेगा। यदि श्री खेतानजी और पडरौना का जैन समाज बिहार और बंगाल के श्वेताम्बर और दिगम्बर समाजों के साथ मिलकर भगवान् महावीर के एक या दो मन्दिर खोज सकें तो निश्चय ही पडरौना — पावा एक महत्वपूर्ण जैन तीर्थ के रूप में विकसित हो सकेगा।

पुस्तक — शीलदूतम्

लेखक — चारित्र सुन्दरगणि

हिन्दी अनुवाद — साध्वी प्रमोद कुमारी जी एवं पं० विश्वनाथ पाठक

प्रकाशक — पार्श्वनाथ शोधपीठ, ग्रन्थमाला सं० ६६

आकार — पेपरबैक डिमाई, प्रथम संस्करण — १९६४

पृष्ठ — ४२, मूल्य — बीस रुपये मात्र।

संस्कृत साहित्य के क्षेत्र में जैनाचार्यों का महत्वपूर्ण अवदान है। १३१ श्लोकों में निबद्ध, जैनाचार्य चारित्र सुन्दरगणि विरचित 'शीलदूतम्' जैन मेघदूत की तरह एक पादपूर्त्यात्मक दूतकाव्य है। जहाँ जैन मेघदूत में राजुल और नेमि का संवाद वर्णित है, वहीं 'शीलदूतम्' में स्थूलभद्र और वेश्या कोशा का संवाद है। उल्लेखनीय है कि जैनाचार्यों ने शृंगार की अपेक्षा वैराग्य को अधिक प्रमुखता दी है। 'शीलदूतम्' भी एक शान्तरसपरक रचना है जिसमें विचारों के दो प्रतिकूल धरातलों पर स्थित स्थूलभद्र और कोशा के वैचारिक संघर्षों में कोशा के प्रणय-निवेदन की निष्पत्ति वैराग्य में होती है और यही इस ग्रंथ का प्रतिपाद्य है।

इस ग्रन्थ का हिन्दी अनुवाद अभी तक अनुपलब्ध था। यह गुरुतर कार्य विद्वद्द्वय साध्वी प्रमोद कुमारी जी एवं पं० विश्वनाथ पाठक ने किया और केवल विद्वद्भोग्या इस रचना को अपनी प्रांजल भाषा में सर्वसाधारण हेतु उपलब्ध कराया। यह पुस्तक संस्कृत साहित्य के अध्येताओं के साथ-साथ जनसामान्य के लिए भी उपयोगी सिद्ध होगी।

कृति श्रेष्ठ एवं संग्रहणीय है।

पुस्तक — शृंगारवैराग्यतरंगिणी

लेखक — श्री सोमप्रभ आचार्य

हिन्दी अनुवाद — अशोक मुनि, सम्पादक — डॉ० अशोक कुमार सिंह

प्रकाशक — पार्श्वनाथ शोधपीठ, ग्रं० मा० सं० ७३

आकार — पेपर बैक डिमाई, प्रथम संस्करण — १९६५

पृष्ठ — ३२, मूल्य — २० रुपये मात्र।

जैन परम्परा निवृत्तिमार्गी रही है। यही कारण है कि जैन साहित्य में शृंगार रस की अपेक्षा शान्तरस (वैराग्य) को ही प्रमुखता प्राप्त है किन्तु शृंगार की उपेक्षा की गयी है, ऐसा भी नहीं है। कविवर सोमप्रभ आचार्य विरचित, ४६ श्लोकों में निबद्ध 'शृंगारवैराग्यतरंगिणी' एक ऐसी रचना है जो शृंगार एवं वैराग्य दोनों ही रसों का अभूतपूर्व संगम है। शृंगार अपने समग्र अस्तित्व में इस रचना के कतिपय विन्यासों से फूट पड़ता है तो वैराग्य शृंगार की निःसारता को प्रकट करता हुआ मोक्ष को ही अपना अभीष्ट मानता है। जैनाचार्यों की यह विशेषता रही है कि उन्होंने शृंगार का पर्यावसान वैराग्य में ही किया है।

इस ग्रन्थ का हिन्दी अनुवाद अभी तक अनुपलब्ध था। मुनि श्री अशोक ने इसके हिन्दी अनुवाद का कार्य सम्पादित कर केवल विद्वद्भोग्या इस रचना को जनसामान्य हेतु सुलभ बनाया। पुस्तक संस्कृत साहित्य के अध्येताओं, वैराग्य प्रेमी मुनिजनों एवं जनसामान्य के लिए अत्यन्त उपयोगी सिद्ध होगी।

कृति श्रेष्ठ एवं संग्रहणीय है।



पुस्तक — हरिभद्र साहित्य में समाज और संस्कृति

लेखिका — डॉ० (श्रीमती) कमल जैन

पृष्ठ — २२५, आकार — डिमाई पेपर बैक

प्रथम संस्करण — १९६४, मूल्य — १००.०० रुपए।

जैन साहित्य को आचार्य हरिभद्र (याकिनीसूनु) का अत्यन्त महत्त्वपूर्ण योगदान है। उनका साहित्य विविध एवं विपुल है। प्रस्तुत कृति में लेखिका ने हरिभद्र साहित्य में वर्णित समाज और संस्कृति के विविध आयामों का तलस्पर्शी विवेचन प्रस्तुत किया है। अपने गहन अध्ययन के आधार पर डॉ० जैन ने समाज और संस्कृति के सभी मुख्य बिन्दुओं को न केवल स्पर्श किया है बल्कि उसकी गम्भीर विवेचना की है।

ग्रन्थ १२ अध्यायों में वर्गीकृत है जिसमें क्रमशः आचार्य के जीवनवृत्त एवं साहित्य, उनके साहित्यिक अवदान का मूल्यांकन, आचार्य का दार्शनिक अवदान, योग के क्षेत्र में अवदान, श्रावकाचार एवं श्रमणाचार का विस्तृत विवेचन किया गया है। साथ ही हरिभद्र वाङ्मय में वर्णित सांस्कृतिक, सामाजिक, धार्मिक, राजनैतिक एवं आर्थिक तथ्यों का भी यथास्थान विवेचन किया गया है।

प्रस्तुत पुस्तक हरिभद्र साहित्य पर शोध कर रहे शोधार्थियों एवं अध्येताओं के लिए विशेष उपयोगी सिद्ध होगी।



पुस्तक — जैन विद्या के आयाम (Aspects of Jainology) खण्ड — ५

सम्पादक — प्रो० सागरमल जैन एवं डॉ० अशोक कुमार सिंह

आकार — डबल डिमाई पेपरबैक, प्रथम संस्करण — १९६४

पृष्ठ — १६६, मूल्य — रु० २००.०० मात्र।

जैन विद्या के आयाम खण्ड—५ श्री श्वेताम्बर स्थानकवासी जैन सभा, कलकत्ता के हीरक जयन्ती एवं पूज्य सोहनलाल स्मारक पार्श्वनाथ शोधपीठ के स्वर्णजयन्ती वर्ष १९८८ के उपलक्ष्य में श्री श्वेताम्बर स्थानकवासी जैनसभा कलकत्ता द्वारा आयोजित विद्वत्गोष्ठी हेतु प्रस्तुत निबन्धों का संकलन है। जिन निबन्धों का संकलन इस ग्रंथ में किया गया है, वे हैं —

अर्धमागधी आगम साहित्य : एक विमर्श — प्रो० सागरमल जैन, आगम और आगमिक व्याख्या साहित्य — डॉ० सुदर्शनलाल जैन, निर्युक्ति साहित्य : एक परिचय— डॉ० श्रीप्रकाश पाण्डेय, मूलाचार में वर्णित आचार नियम — डॉ० अरुण प्रताप सिंह, हिन्दी मरुगुर्जर जैन साहित्य का महत्त्व और मूल्य — डॉ० शितिकण्ठ मिश्र, हिन्दी जैनपत्रकारिता का इतिहास एवं मूल्य — डॉ० संजीव भानावत, अनेकान्त अहिंसा तथा अपरिग्रह की अवधारणाओं का मूल्यांकन : आधुनिक विश्व समस्याओं के सन्दर्भ में — डॉ० वशिष्ठ नारायण सिन्हा, प्राचीन जैन ग्रन्थों में कर्म सिद्धान्त का विकासक्रम— डॉ० अशोक कुमार सिंह, श्वेताम्बर सम्प्रदाय के गच्छों का सामान्य परिचय — डॉ० शिवप्रसाद, दिगम्बर जैन परम्परा में संघ, गण, गच्छ, कुल और अन्वय — डॉ० फूलचन्द जैन 'प्रेमी', जैनधर्म में अमूर्तिपूजक सम्प्रदायों का उद्भव एवं इतिहास — प्रो० नरेन्द्र भानावत् श्रावकाचार का मूल्यात्मक विवेचन — सुभाष कोठारी, Contribution of Jainism to Indian History by A.K. Chatterjee और Jahangir and Non-violence by Prof. R. N. Mehata.

ग्रन्थ में जैन विद्या के विविध आयामों पर विभिन्न विद्वान लेखकों द्वारा प्रकाश डाला गया है। संकलित निबन्ध उच्चकोटि के हैं एवं ग्रंथ संग्रहणीय है।

■

पुस्तक — हिन्दी जैन साहित्य का इतिहास, भाग — २

लेखक — डॉ० शितिकण्ठ मिश्र

प्रकाशक — पार्श्वनाथ शोधपीठ, ग्रंथमाला सं० ६६

आकार — सजिल्द डिमाई, प्रथम संस्करण — १९६४

पृष्ठ — ६८४, मूल्य — रु० १८०.०० मात्र।

हिन्दी साहित्य के क्षेत्र में जैन लेखकों का महत्त्वपूर्ण योगदान रहा है। हिन्दी जैन साहित्य विशाल है। आदिकाल से लेकर १६वीं शती (विक्रम) तक लगभग ७०० पृष्ठों का एक भाग संस्थान से पहले ही प्रकाशित हो चुका है। इस द्वितीय भाग में मरुगुर्जर पुरानी हिन्दी के १६ शताब्दी के जैनकवियों एवं उनकी

रचनाओं का संक्षिप्त विवरण प्रस्तुत किया गया है। इसमें लगभग ४०० जैन कवियों और उनकी लगभग १००० कृतियों का परिचय दिया गया है।

ग्रन्थ के आरम्भ में ३० पृष्ठों के उपोद्घात में कुछ मुख्य विषयों, यथा — १७वीं शताब्दी की राजनीतिक स्थिति, मुगल साम्राज्य की स्थापना, अकबर का शैशव, साम्राज्य विस्तार, शासन—व्यवस्था, आर्थिक—सामाजिक स्थिति, शिक्षा, अकबर की धार्मिक नीति, हीर विजय सूरि और सम्राट अकबर, जहाँगीर का जैनधर्म से सम्बन्ध, सांस्कृतिक समन्वय, कला, साहित्य आदि पर प्रकाश डाला गया है।

जैन कवियों का हिन्दी साहित्य के क्षेत्र में जो अवदान है वह अभी हिन्दी के विद्वानों को प्रायः अज्ञात ही रहा है। प्रस्तुत कृति के अवलोकन से वे हिन्दी साहित्य में जैन कवियों के अवदान का सम्यक् मूल्यांकन कर सकेंगे, ऐसा विश्वास है। प्रस्तुत कृति के लेखक जो हिन्दी के लब्धप्रतिष्ठ विद्वान हैं, ने अत्यन्त परिश्रम—पूर्वक इन कवियों की कृतियों के उल्लेख के साथ उनका मूल्यांकन प्रस्तुत किया है।

कृति श्रेष्ठ एवं पुस्तकालयों के लिए संग्रहणीय है।



पुस्तक — मातृकापदशृंगाररसकलितगाथाकोश

लेखक — आचार्य वीरभद्र, अनुवादक — श्री भँवरलाल जी नाहता

सम्पादक — डॉ० सागरमल जैन, आकार — डिमाई पेपरबैक

प्रथम संस्करण — १९६४, पृष्ठ — १८+७, मूल्य — रु० १५.००मात्र।

जैन विद्वानों ने न केवल संस्कृत में अपितु प्राकृत एवं मरुगुर्जर में भी शृंगाररसपरक अनेक कृतियों का सृजन किया है। अनेक कृतियों में शृंगाररस का सरस वर्णन है, फिर भी निवृत्तिमार्गी अपनी मूल परम्परा के अनुरूप जैन कवियों ने शृंगारपरक रचनाओं का उपसंहार सदैव शान्तरस (वैराग्य) में ही किया है।

आचार्य वीरभद्र की 'मातृकापदशृंगाररसकलितगाथाकोश' विशुद्ध रूप से एक शृंगाररसपरक रचना है। किन्तु जैसा कि जैन कवियों ने शृंगार की अभिव्यक्ति में भी सदैव एक मर्यादा का अनुपालन किया है, प्रस्तुत कृति में भी आचार्य वीरभद्र ने मर्यादा अतिक्रमण को वर्ज्य मानते हुए न व्यभिचार, न अभिसार मात्र विरह व्यथा का वास्तविक चित्र प्रस्तुत किया है।

-

इस ग्रन्थ का हिन्दी अनुवाद अभी तक अनुपलब्ध था। जैन विद्या के मूर्धन्य विद्वान श्री भँवरलाल जी ने एक विस्तृत भूमिका सहित इसका लिप्यन्तरण एवं अनुवाद किया। अनुवाद अत्यन्त सजीव व बोधगम्य है।

कृति उत्तम एवं संग्रहणीय है।



हमारे महत्वपूर्ण प्रकाशन

1. Studies in Jain Philosophy — Dr. Nathmal Tatia Rs. 100.00
2. Jain Temples of Western India — Dr. Harihar Singh Rs. 200.00
3. Jain Epistemology — I. C. Shastri Rs. 150.00
4. Concept of Panchashila in Indian Thought —
Dr. Kamala Jain Rs. 50.00
5. Concept of Matter in Jain Philosophy —
Dr. J. C. Sikdar Rs. 150.00
6. Jaina Theory of Reality — Dr. J. C. Sikdar Rs. 150.00
7. Jaina Perspective in Philosophy and Religion —
Dr. Ramjee Singh Rs. 100.00
8. Aspects of Jainology, Vol.1 to 5 (Complete Set) Rs. 1100.00
9. An Introduction to Jaina Sadhana —
Dr. Sagarmal Jain Rs. 40.00
10. जैन साहित्य का बृहद् इतिहास (सात खण्ड) सम्पूर्ण सेट Rs. 560.00
11. हिन्दी जैन साहित्य का इतिहास (दो खण्ड) Rs. 340.00
12. जैन प्रतिमा विज्ञान — डॉ० मारुतिनन्दन तिवारी Rs. 120.00
13. जैन महापुराण — डॉ० कुमुद गिरि Rs. 150.00
14. वज्जालग (हिन्दी अनुवाद सहित) — पं० विश्वनाथ पाठक Rs. 80.00
15. धर्म का मर्म — प्रो० सागरमल जैन Rs. 20.00
16. प्राकृत हिन्दी कोश — सम्पादक डॉ० के० आर० चन्द्र Rs. 120.00
17. स्याद्वाद और सप्तभंगी नय — डॉ० भिखारी राम यादव Rs. 70.00
18. जैन धर्म की प्रमुख साध्वियों एवं महिलाएँ —
डॉ० हीराबाई बोरदिया Rs. 50.00
19. मध्यकालीन राजस्थान में जैन धर्म —
डॉ० (श्रीमती) राजेश जैन Rs. 160.00
20. जैन कर्म-सिद्धान्त का उद्भव एवं विकास —
डॉ० रवीन्द्रनाथ मिश्र Rs. 100.00
21. महावीर निर्वाणभूमि पावा : एक विमर्श —
भगवतीप्रसाद खेतान Rs. 60.00
22. गाथासप्तशती (हिन्दी अनुवाद सहित) —
पं० विश्वनाथ पाठक Rs. 60.00
23. सागर जैन-विद्या भारती भाग १, २
(प्रो० सागरमल जैन के लेखों का संकलन) Rs. 200.00
24. मूलाचार का समीक्षात्मक अध्ययन — डॉ० फूलचन्द जैन Rs. 80.00
25. स्याद्वाद और सप्तभंगी — डॉ० भिखारी राम यादव Rs. 70.00
26. जैन तीर्थों का ऐतिहासिक अध्ययन — डॉ० शिवप्रसाद Rs. 100.00

पार्श्वनाथ विद्यापीठ, वाराणसी - ५